लेख-सूची।

पृ. सं.

१—त्रैभाषिक शिलालेख [लेखक—श्रीयुक्त पूरणचंद नाहर, एम० ए० बी० एल, कलकत्ता] ... ... १—५
२—श्रीहेमचन्द्राचार्य्य [लेखक—श्रीयुक्त पंडित शिवदत्त शर्मा, अजमेर] ... ... ७—२३
३—महाकवि सूरदासजी [लेखक—श्रीयुक्त पं० रामचंद्र शुक्ल, काशी] ... ... २५—९५
४—हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों की खोज [लेखक—राय-बहादुर बा० हीरालालजी बी० ए०, जबलपुर] ९७—१०२
५—वाल्मीकि और उनके प्राकृत सूत्र [लेखक—श्रीयुक्त पं० बटुकनाथ शर्म्मा एम० ए० और पं० बलदेव उपाध्याय एम० ए०, काशी] १०३-१११
६—मंत्र-बिम्ब [ले०—श्रीयुक्त मौलवी मुहम्मद यूसुफ खाँ, अफसूँ, काशी] ११३-११९
७—भारतवर्ष की आधुनिक आर्य भाषाएँ [लेखक—श्रीयुक्त बाबूराम जी सक्सेना, एम० ए० प्रयाग]... १२१-१६२
८—माघ कवि का समय [ले०—श्रीयुक्त राय बहादुर गौरी-शंकर हीराचंद ओझा, अजमेर] १६३-१७६
९—काश्मीर के राजा संग्रामराज, अनंत और कलश [ले०—श्रीयुक्त पं० शिवदत्त शर्मा, अजमेर] ... १७७-२१२
१०—गंगानंद कवीन्द्र [लेखक—पं० जगन्नाथ शास्त्री होशिंग, साहित्योपाध्याय, काशी] २१३-२१६

११-बूँदी के सुलहनामे [लेखक—श्रीयुक्त ठा० हरिचरण-
सिंह जी चौहान, बूँदी] २१७-२३६
समालोचना २३७-२४०
१२-महाकवि मयूर [लेखक—पं० केदारनाथ एम० ए०
एल० टी० काशी] २४१-२९२
१३-हस्तलिखित प्राचीन हिंदी पुस्तकों की खोज की
त्रैवार्षिक रिपोर्ट [लेखक—राय बहादुर बा०
हीरालालजी बी० ए०] २९३-३१०
१४-मातृ-गुप्त [लेखक—पं० शिवदत्त शर्मा अजमेर] ३११-३२८
१५-भारतवर्ष के प्राचीन उपनिवेश [लेखक—श्री०
रघुवीर एम० ए० एम० आर० ए० एस० अजमेर] ३२९-३४४
१६-मंत्र-विष [ले०—मौलवी मुहम्मद यूसुफ खाँ अकसूँ] ३४५-३५५
१७-समालोचना ३५७-३६०
१८—गोस्वमी तुलसीदास [लेखक—बाबू श्यामसुन्दर-
दास जी बी० ए० काशी] ३६१-४०९
१९—रामपुरा के चन्द्रावत और उनके शिलालेख
[लेखक—श्रीयुत पं० शोभालाल शास्त्री उदयपुर] ४११-४४७
२०—श्रीकृष्णचन्द्राभ्युदय [लेखक—श्रीयुत पं० शिव-
दत्त शर्मा, अजमेर] ४४९-४६४
२१—बुद्धि-प्रकाश [लेखक—श्रीयुत अघोरी गंगाप्रसाद
सिंह, काशी] ४६५-४७६
२२—राजगृह के दो शिलालेख [लेखक—श्रीयुक्त राय
पूरनचंद्र नाहर कलकत्ता।] ४७७-४७९

मुर्शिदाबाद का त्रैभाषिक शिलालेख ।

(१) त्रैभाषिक शिलालेख

[लेखक—श्रीयुक्त पूरणचन्द नाहर, एम० ए० बी० एल०, कलकत्ता ।]

जिस समय दिल्ली के सिंहासन की शक्ति नाना कारणों से दुर्बल हो जाने से विशाल मुगल साम्राज्य में स्थान स्थान पर अशान्ति फैली हुई थी, उस समय का ठीक इतिहास दुष्प्राप्य सा है। उस समय लोग अपनी जान और माल की चिन्ता में फँसे थे। उनको साहित्य या इतिहास की खबर लेने का अवसर ही न मिलता था। ऐसे समय ब्रिटिश सरकार बंगाल प्रान्त में अपना पाया जमाने के प्रयत्न में लगी थी। यह उसी समय का शिलालेख है।

बहुत से पाठक "रानी भवानी" के नाम से सुपरिचित होंगे। उनकी राजधानी मुर्शिदाबाद के पास ही भागीरथी के पश्चिमी तट पर देवीपुर नाम का एक कस्बा है। किसी समय यह साधु महन्त लोगों का लीला-

क्षेत्र था। स्थान स्थान से सब श्रेणी के धार्मिक सज्जन वहाँ आकर मन्दिर, मठादि प्रतिष्ठित करके वहीं जीवन व्यतीत करते थे। इस समय देवीपुर का थोड़ा ही टुकड़ा रह गया है। वहाँ महन्त लोगों के तीन अखाड़े थे; बहुत से मन्दिर प्रतिष्ठित थे; और देवसेवा तथा अन्नसत्र की अच्छी व्यवस्था थी। आज तक ऐसे अखाड़ों की बड़ी बड़ी टूटी इमारतें और खँडहर देखने में आते हैं। मुझे खबर मिली थी कि वहाँ के एक अखाड़े में एक बड़ा शिलालेख है। मैंने पता लगाकर जब उस लेख को देखा, तब श्याम पाषाण का २८ इंच लम्बा और १४ इंच चौड़ा एक विशाल शिलालेख पाया। उस के चारों किनारों में सुन्दर नक्शे की बेल बनी हुई है। उसके अक्षर उठे हुए हैं। शिलालेख के मध्य भाग में लंबी रेखा से नीचे का अंश भी दो भागों में विभक्त है। ऊपर के एक अंश में हिन्दी और नीचे की बाईं तरफ बँगला अक्षरों में और दाहिनी तरफ फारसी अक्षरों में लेख खुदे हुए हैं। ऐसा तीन भाषाओं का शिलालेख कम देखने में आता है। इसका चित्र देखने से पाठकगण अच्छी तरह समझ लेंगे। इस शिलालिपि का अक्षरान्तर नीचे प्रकाशित किया जाता है।

सारांश यह है कि विक्रम संवत् १७९१, शकाब्द १६५६ के वैशाख महीने में अक्षय तृतीया के दिन महाराज गंधर्वसिंह ने बहादुरपुर के समीप देवीपुर के दक्षिण गंगा के तट पर जमीन खरीदकर धर्मार्थ हरि-मन्दिर और कूआँ तैयार कराया था। लेख में ज़मीन का परिमाण २२ बीघा ८ कट्ठा और उसकी चौहद्दी लिखी है। जमीन रत्नेश्वर की स्त्री से खरीदी गई थी। हिन्दी और बँगला में केवल रत्नेश्वर की स्त्री का उल्लेख है, परन्तु फारसी में ब्राह्मण जाति के रत्नेश्वर की ईश्वरीदेवी नाम की विधवा स्त्री से खरीदने का उल्लेख है। फारसी लेख में लेख खोदनेवाले का नाम और राज्य वर्ष १६ अर्थात् दिल्ली के मुगल बादशाह मुहम्मद शाह के राजत्व का १६ वाँ

वर्ष, हिजरी सन् ११४६ तारीख ९ शव्वाल खुदा हुआ है। ईसवी सन् १७३४ से संवत् १७९१ और हिजरी सन् ११४६ मिलता है। इस हिसाब से शकाब्द १६५६ होना चाहिए। बँगला में शकाब्द सोलह सौ स्पष्ट है; परन्तु आगे के अक्षर साफ पढ़े नहीं जाते।

प्रचलित इतिहासों में राजा गन्धर्वसिंह का नाम देखने में नहीं आया। गन्धर्वसिंह का बंगाल देश के किसी न किसी स्थान से सम्बन्ध अवश्य होगा; और वे कोई साधारण स्थिति के नहीं थे। बँगला अक्षरों में "महाराजा गन्धर्वसिंह बहादुर" और फारसी में "राजा गंधर्वसिंह" लिखा है। हिन्दी में पहले "नृप गंधर्वसिंह" और पीछे "महाराजा" भी खुदा है।

लिपि की भाषा के विषय में यहाँ केवल इतना ही कहना है कि मैं फारसी भाषा से परिचित नहीं हूँ, परन्तु शिलालेख की बँगला और हिन्दी भाषा की लिखावट आधुनिक नहीं है। हिन्दी और फारसी के लेख पद्य में हैं और बँगला लेख गद्य में है। ऐतिहासिक दृष्टि से लेख में जो जो साधन वर्तमान हैं, उनकी खोज की आवश्यकता है।

यह लेख पहले मैंने "बंगीय साहित्य परिषद्" की पत्रिका में प्रकाशित किया था, परन्तु अभी तक राजा गन्धर्वसिंह के विषय में कुछ विशेष पता नहीं लगा है।

शिलालेख का अक्षरान्तर

(ऊपर के नकशे की बेल में)

श्रीकृष्ण वासुदेव जू सदा सहाई।

(नीचे के नकशे की बेल में)

श्री गनेसाय न्म श्री श्रीः ॥

(दाहिने नकशे की बेल में)

॥ श्री रघुनाथाय नमः ॥

(बाएँ नक्शे की बेल में)

श्री लछमनाय नमः ॥

(ऊपर की तरफ हिन्दी में)

(१) संवत् १७८१ वैसाष मास सुदि तीज ॥ श्री नृप गंधर्वसिंघ भुव मोल ले बयौ धर्म को बीज ॥ देवपुरी अरथाँनु य

(२) ह तासु गंग के तीर ॥ जर षरीदि लीनौं सोई श्री हरि सुम्रन कौं धीर ॥ रतनेसुर की नारि नें दयौ षुसी करि मोल ॥ थ

(३) रि रोपी महाराज नें धर्मपुरी अडोल ॥ उत्तर देवीपुर बसे पछिम गंगा आलि ॥ मेंड बहादुरपुर लगी दछिन

(४) पूरब पालि ॥ बीघा बाँस पर दोय हैं आठ बिसे परिमाँन ॥ हरि मंदिलु कीन्हौं वहाँ बाँध्यौ कूप निदाँन ॥ ५ ॥

(नीचे दाहिनी तरफ बँगला में)

(१) ॐ श्री महाराजा गन्धर्व्वसिंह बाहादुर रत्ने

(२) सरेर स्त्रि स्थाने बाग हइते बाइश बीघा आट

(३) काठा इह पश्चिमे गगार आलि उत्तरे देवि पु-

(४) र पूर्व्व दक्षिण बाहादुरपुर जर खरिद लइया

(५) सकाब्दा सोलष साच (?) । सने वैशाख [मायर अ-

(६) क्षय त्रितिया दिवसे हरिमन्दिर ओ कूप दिला ।

(नीचे बाँई तरफ फारसी में)

(१) राजा गन्धर्वसिंह बहादुर बाग करदन्द जर खरीद शुद नमूद अन्दर हवेली चाह शीरीं अफ़ज़ीद ।

(२) मे गिरफ्त अज निज़्द मुसम्मात ईसरी देवा चोगुश्रद अहलिये रत्नेसर ,जुन्नारदार मुतव्वफ़ी वजूद ।

(३) बिस्त दो बीघा मवाज़ी दरत बिस्वे लास्रिराज, हद मगरिब मौज दरियाये मौज दर मौज मिजाज़ ।

(४) पुर बहादुर हद दो सूद मशरिक वो जुनूब दारद जमीन, ता शुमाल हद्द देवीपुर मुकर्रर शुद। आमीन।

(५) अज़ तवारीख़ नहुम शव्वाल दह वो शश सन् जुलूस यक हज़ार वो यक सद वो चेहल व शश हिजरी मनुश।

(६) अज ख़त रामकृष्ण।

(२) श्रीहेमचन्द्राचार्य्य

[लेखक—श्रीयुक्त पंडित शिवदत्त शर्मा, अजमेर ।]

(ना० प्र० पत्रिका, भाग ६, सं० ४, पृ० ४६८ से आगे ।)

एक बार राजा के सामने बातों ही बातों में किसी मत्सरी ने कहा कि श्वेताम्बरी प्रत्यक्ष देव सूर्य्य को भी नहीं मानते। हेमचन्द्र ने कहा—वाह, कैसे नहीं मानते !

अधाम धामधामैव वयमेव हृदि स्थितम् ।
यस्यास्तव्यसने प्राप्त त्यजामो भोजनोदके ॥

आशय—हम्हीं लोग प्रकाश के धाम श्री सूर्य्य नारायण को सर्वदा अपने हृदयों में विराजमान रखते हैं। उनके अस्त रूपी व्यसन को प्राप्त होते ही हम लोग अन्न और जल तक त्याग देते हैं।

स्कन्द पुराणान्तर्गत रुद्र प्रणीत कपालमोचन स्तोत्र में भी लिखा है—

त्वया सर्वमिदं व्याप्तं ध्येयोऽसि जगतां रवे ।
त्वयि चास्तमिते देव ! आपो रुधिरमुच्यते ॥

आशय–हे सूर्य, आप से यह सर्व संसार व्याप्त है। आप संसार के ध्येय हैं। आपके अस्त होते ही जल रुधिर कहलाता है। जब रात्रि में नीर की रुधिरता है, तब भोजन कैसे हो सकता है !

एक बार देवपत्तन के पुजारियों ने आकर राजा से निवेदन किया कि सोमनाथ महादेव का मंदिर, जो समुद्र के किनारे ही पर है, बहुत जीर्ण शीर्ण हो गया है; उसकी मरम्मत करानी चाहिए। उनकी प्रार्थना सुनते ही राजा ने जीर्णोद्धार कराना प्रारम्भ कर दिया। जब एक बार मन्दिर के निर्माण के संबंध में वहाँ के पंचकुल का पत्र आया,

तब राजा ने पूछा—इस धर्म-भवन के निर्विघ्न निर्माणार्थ क्या करना चाहिए ? हेमचन्द्र ने कहा कि आपको या तो ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए विशेष देवार्चन में संलग्न रहना चाहिए; अथवा मन्दिर के ध्वजारोपण तक मद्य मांस के त्याग का व्रत करना चाहिए। कुमारपाल ने भगवान् नीलकंठ पर जल चढ़ाया और मद्य मांस त्यागने का व्रत धारण किया। दो वर्ष के पश्चात् जब मंदिर पूर्ण रूप से बन चुका और केवल कलश तथा ध्वजा चढ़ाना शेष रहा, तब राजा ने पूर्व गृहीत व्रत समाप्त करना चाहा। इस विषय में हेमचन्द्र ने कहा कि आपको श्री-भगवान् सोमनाथ के मंदिर में पधारकर उनके समक्ष ही व्रत की समाप्ति करनी चाहिए। यह उपदेश सुन राजा का चित्त अति प्रफुल्लित हुआ और वह सूरिजी की प्रशंसा करने लगा। हेमचन्द्र जैन धर्मानुसार जीवन निर्वाह करने में सुदृढ़ थे; अतः उनका भी शंकर के मंदिर की यात्रा के लिये अनुमोदन करना नीति मात्र मानकर किसी ने राजा से कह दिया कि यदि इनकी इस प्रेरणा में चाटुता और सेवा धर्म हो, तो आप इन्हें भी श्री सोमेश्वर यात्रा के लिये निमंत्रित कीजिए। राजा ने वैसा ही किया। हेमचन्द्र ने तुरंत स्वीकार कर उत्तर दिया कि भला भूखे मे निमंत्रण का क्या आग्रह ! हम तपस्वियों का तो तीर्थाटन मुख्य धर्म ही है। तदनन्तर राजा ने उनको सुखासन वाहनादि ग्रहण करने के लिये कहा। परंतु उन्होंने पैदल यात्रा करने की इच्छा प्रकट की; और कहा कि हमारा विचार शीघ्र ही प्रयाण करने का है, जिससे श्री शत्रुंजय और उज्जयन्तादि महातीर्थों की भी यात्रा कर आपके पहुँचते पहुँचते आप से देवपत्तन में मिल जायँ। राजा ने यात्रा प्रारम्भ की। वे देवपत्तन के निकट आ पहुँचे; परंतु हेमसूरि के दर्शन नहीं हुए। उस समय किसी ने यहाँ तक खबर उड़ा दी की वे समुद्र में डूब मरे। परंतु हेमचन्द्र तपोधन श्री बृहस्पतिजी के साथ राजा के स्वागत में नगर प्रवेशोत्सव के समय आ गए। राजा ने बहुत भक्ति से

सोमेश्वर के लिंग की पूजा की; और हेमचन्द्र से कहा कि यदि आपको कोई आपत्ति न हो, तो आप भी त्रिभुवनेश्वर श्रीसोमेश्वर देव का अर्चन कीजिए। तदनन्तर हेमचन्द्र ने अति प्रमुदित हो राजकोष से प्राप्त हुए सुंदर पवित्र वस्त्र धारण किए; और बृहस्पति के सहारे से वृद्ध सूरि ने मुख्य मंदिर की सीढ़ी चढ़ पूजन सामग्री देखकर कहा कि यहाँ साक्षात शंकर भगवान् विराजते हैं; अतः पूजन सामग्री द्विगुणित कर दो। यों रोमांचित हो शिवपुराणोक्त दीक्षा विधि से आह्वादन, अवगुंठन, मुद्रा, मंत्र-न्यास, विसर्जनादि पंचोपचार विधि से सानुराग पूजन किया और अंत में दंड प्रणामपूर्वक निज निर्मित निम्न लिखित श्लोकों द्वारा स्तुति की—

आर्या

भवबीजाङ्कुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो वा जिनो वा नमस्तस्मै ॥१॥

रथोद्धता वृत्तम्

यत्र तत्र समये यथा तथा
योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया।
वीतदोष कलुषः सचेद्भवा-
नेक एव भगवन्नमोऽस्तु ते ॥ २ ॥

शार्दूल विक्रीडितं वृत्तम्

त्रैलोक्यं सकलं त्रिकालविषयं सालोकमालोकितं
साक्षाद्येन यथा स्वयं करतले रेखात्रयं सांगुलि।
रागद्वेषभयाभयान्तकजरालोलत्वलोभादयो
नालं यत्पदलङ्घनाय स महादेवो मया वन्द्यते ॥३॥

स्रग्धरा वृत्तम्

यो विश्वं वेद वेद्यं जननजलनिधेर्भङ्गिनः पारदृश्वा
पौर्वापर्याविरुद्धं वचनमनुपमं निष्कलंकं यदीयम्।
तं वंदे साधुवंद्यं सकलगुणनिधिं ध्वस्तदोषद्विषं तं
बुद्धं वा वर्धमानं शतदलनिलयं केशवं वा शिवं वा ॥४॥

इत्यादि।

आशय—भव बीज के अंकुर को उत्पन्न करनेवाले रागादि जिनके क्षय हो चुके हैं, ऐसे ब्रह्मा हों, विष्णु हों, हर हों अथवा जिन हों, उनको मेरा नमस्कार है। जिस किसी समय, जिस किसी अवस्था में अथवा जिस किसी नाम से आप प्रख्यात हों, यदि आप दोष रूपी कलुष से रहित हैं, तो मैं आप को नमस्कार करता हूँ। अपनी उँगलियों सहित हथेली की रेखा जैसे साक्षात् दिखाई देती है, वैसे जिसे तीन लोक (स्वर्ग, मर्त्य, पाताल) तथा अलोक (जीव की गति से रहित आकाश प्रदेश) साक्षात् दृश्यमान हैं, राग, द्वेष, भय, आमय (रोग), अंतक (काल), जरा (वृद्धावस्था), लोलत्व (चपलता), लोभ आदि जिनके पद को उल्लंघन करने में शक्ति संपन्न नहीं, ऐसे महादेव की मैं वंदना करता हूँ। जो वेद्य जगत् को जानते हैं, जिन्होंने विश्व के उत्पत्ति रूपी समुद्र की रचना का पार देखा है, जिनका वचन पूर्वापर अविरुद्ध, अनुपम एवं निष्कलंक है, जो साधु पुरुषों के वंदन के योग्य हैं, जिनके दोष रूपी शत्रु नष्ट हो चुके हैं, ऐसे सकल गुण-निधि बुद्ध हों, अथवा वर्धमान (महावीर) हों, अथवा ब्रह्मा हों, अथवा केशव (विष्णु) हों अथवा शंकर हों, उनको मैं नमस्कार करता हूँ।

कुमारपाल नरेश हेमचन्द्र के इस विनीत व्यवहार से बहुत प्रसन्न हुए। शिवार्चन के अनन्तर उन्होंने तुलापुरुष, गजदानादि किए। इसके उपरांत हमें जो वर्णन मिलता है, वह यह है कि हेमचन्द्र ने मंदिर के

गर्भगृह में राजा को बैठाकर पुष्कल कर्पूर, धूपादि जलाए और साक्षात् महादेव के दर्शन कराए, जिन्होंने अपने मुख से कहा कि ये महर्षि हेमचन्द्र सब देवताओं के अवतार और त्रिकालज्ञ हैं। इनका उपदेश असंदिग्ध मुक्ति-मार्ग है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैन विद्वानों को इस वृत्तांत की कल्पना करने का परिश्रम कदाचित् हेमचन्द्र का उपर्युक्त शिवार्चन संबंधी व्यवहार जैन धर्म के गौरव को मंद करनेवाला समझने से करना पड़ा है।

कुछ ही हो, हेमचन्द्र की दूरदर्शिता, गंभीरता, सच्चरित्रता, धर्म-परायणता और पांडित्य से कुमारपाल पर दिन प्रति दिन अधिक अधिक प्रभाव पड़ता गया और जैन धर्म के प्रति उसकी सत्कार बुद्धि विशेष दृढ़ता धारण करने लगी। जब कुमारपाल जैन धर्म के व्यवहारों से पूर्ण परिचित नहीं थे, उस अवस्था की एक घटना हमको मिलती है। वह यह है—एक दिन देवार्चन के समय हेमचन्द्र महल में पधारे। उस अवसर पर यशश्चन्द्रगणि ने रजोहरण से आसन बुहार कर उस पर कंबल बिछा दिया। राजा ने पूछा—यह क्या किया? उन्होंने कहा कि कदाचित् कोई जंतु हो, तो उसको बाधा न पहुँचे, इस विचारसे ऐसा किया जाता है। राजा ने कहा कि यदि कोई जंतु आँखों से दिखाई दे, तो ऐसा करना उचित है; अन्यथा व्यर्थ है। सूरि ने यह युक्तियुक्त बात सुनकर कहा कि आप गज, तुरगादि युक्त सेना शत्रु के आने पर तैय्यार किया करते हैं अथवा पहले ही से तैयार रखते हैं? जैसे यह आपका राज-व्यवहार है, वैसे ये हमारे धर्म-व्यवहार हैं। एक धर्म की क्रिया तथा उसका अतिशय पालन कभी कभी दूसरे के चित्त पर कैसा विलक्षण प्रभाव डालते हैं, यह इससे ज्ञात हो सकता है। शनैः शनैः सूरिजी के प्रभाव से कुमारपाल ने अपने कुल-देवताओं के साथ साथ शांतिनाथ तीर्थंकर की प्रतिमा भी विराजमान करवा ली।

कुमारपाल ने अमारी अर्थात् जीव-हिंसा का सर्वत्र निषेध करा दिया

किन्त्वाकर्ण्य निरीक्ष्य वाऽन्यमनुजं दुःखार्दितं यन्मन-
स्तद्रूपं प्रतिपद्यते जगति ते सत्पुरुषाः पञ्चषाः ॥

आशय—देखो, इस संसार में शूर-वीर सहस्रों हैं; विद्वान् भी अनेक हैं; लक्ष्मीवान् भी हैं; सर्वस्व दान करनेवाले महादानी भी हैं; किंतु किसी दुखिया के दुःख को देख अथवा सुनकर जिनका मन तद्रूप हो जाता है, ऐसे सत्पुरुष विरले ही मिलेंगे।

जिन धर्म की सेवा करने से कुमारपाल का विरुद "परमार्हत" हो गया। नरेश की अभ्यर्थना से हेमसूरि ने त्रिषष्ठिशलाका, पुरुषचरित, बीस वीतराग की स्तुतियों सहित योगशास्त्र रचा; और इनके उपदेश से उसने अपने राज्य में १४ वर्ष सर्व भूतों की हिंसा से रक्षा की, तथा भिन्न भिन्न देशों में १४४० विहार बनवाए। राजा ने स्तम्भतीर्थ (खम्भात) में सालिग वसहिका प्रासाद का, जहाँ हेमचन्द्र का दीक्षा संस्कार हुआ था, जीर्णोद्धार कराया और रत्नबिम्ब से उसे समलंकृत किया। वह हेमचन्द्र की दीक्षा-वसहिका कहलाई। राजा ने जीव-हिंसा के साथ साथ मदिरा-पान, द्यूतादि बुरी बातें भी बंद करवाईं। उसने जैन धर्म के द्वादश व्रत स्वीकार किए और निःसन्तान पुरुष के मरने पर उसके धन को लेने का राज-नियम, जिससे ७२ लाख की आय थी, तोड़ दिया। हेमचन्द्र इस बात से बहुत प्रसन्न हुए। जहाँ और लोग इस सुकर्म की सराहना कर रहे थे, वहाँ उन्होंने भी निम्नलिखित श्लोक द्वारा अनुमोदन किया—

अपुत्राणां धनं गृह्णन् पुत्रो भवति पार्थिवः।
त्वं तु संतोषतो मुञ्चन्सत्यं राजपितामहः ॥

आशय—अपुत्रों का धन ग्रहण करता हुआ राजा उनका पुत्र बनता है। परंतु आप तो संतोषपूर्वक उसको छोड़ने से राजपितामह हो गए हैं।

एक बार उदयन के वीर पुत्र आम्रक भट ने अपने पिता के कल्याणार्थ भृगुपुर (भड़ौच) में नर्मदा के किनारे शकुनिका विहार बनवाया और उसके कलश दंड की प्रतिष्ठा के अवसर पर बहुत मनुष्यों को एकत्र किया। यहाँ तक कि पाटण से कुमारपाल नरेश और हेमचन्द्राचार्य भी निमंत्रित किए गए। उस अवसर पर उसने बहुत दान दिए; यहाँ तक की अपना घर भी अर्थियों से लुटवा डाला। राजा ने आम्रक भट की अतिशय भगवद् भक्ति और दान की प्रशंसा की, जिस पर हेमचन्द्र ने कहा कि आप के लोकोत्तर चरित् से मेरा हृदय इतना हर लिया गया है कि मनुष्य की मुँह पर बड़ाई न करने के नियम का उल्लंघन कर मुझे कहना ही पड़ता है—

किं कृतेन न यत्र त्वं यत्र त्वं किमसौ कलिः।
कलौ चेद्भवतो जन्म कलिरस्तु कृतेन किम् ॥

आशय—उस सत् युग से क्या, जिसमें आप नहीं? और जहाँ आप हैं, वहाँ कैसा कलियुग? यदि आपका जन्म कलियुग में है, तो वह कलियुग मुबारक है; हमें कृतयुग नहीं चाहिए।

इसके आगे मेरुतुङ्ग ने लिखा है कि जब हेमचन्द्र पाटण पहुँच गए, तब उन्हें आम्रभट की सख्त बीमारी की चिट्ठी मिली। वे आकाश मार्ग से तपोधन यशश्चन्द्र सहित प्रदोष काल में भृगुपुर आ पहुँचे। उन्होंने इसको सैन्धवी देवी की डाली हुई आपत्ति समझी; अतः तदनुकूल उपचार किया, जिसके प्रभाव से देवी हेमचन्द्र के चरणों में गिर त्राहि त्राहि करने लगी। फिर वे सुव्रत के मंदिर में गए और उनकी वंदना कर घर आए। ये सब बातें कल्पित प्रतीत होती हैं। जैन देवों की महिमा और जैनेतरों की निन्दा करने की यह एक शैली है।

एक दिन कुमारपाल घृत-पूर्ण भोजन कर रहे थे। खाते खाते उन्हें कुछ ध्यान आया। उन्होंने तुरंत हेमचन्द्र को बुलवाया और

पूछा कि यह भोजन धर्मानुकूल है अथवा नहीं। उन्होंने कहा—वैश्य और ब्राह्मण के लिये तो ठीक है; परंतु ऐसे क्षत्रिय के लिये, जिसने अभक्ष्य न खाने का नियम कर लिया हो, ठीक नहीं है; क्योंकि इससे पिशित आहार का अनुस्मरण होता है। तदनन्तर राजा ने पूर्व भक्षित अभक्ष्यान्न का प्रायश्चित्त पूछा। हेमचन्द्र ने कहा—३२ दाँत हैं, जिनके द्वारा यह खाया गया; अतः एक एक दाँत का एक एक विहार बनवा दीजिए। राजा ने सूरिजी के आदेशानुसार ३२ विहार बनवा दिए। पर यह कथा भी कल्पित प्रतीत होती है। तो भी कुमारपाल की जैन-धर्म के प्रति भक्ति के दो एक और उदाहरण सुनिए।

राजा बनने के पहले जब कुमारपाल सिद्धराज के द्वेष से एक स्थान से दूसरे स्थान को भागता फिरता था, तब एक दिन जंगल में एक वृक्ष की छाया के नीचे बैठ गया। उसने देखा कि एक चूहा अपने बिल में से मुँह में दबाकर एक रुप्यनाणक (रुपया) लाया और बाहर रख गया। वह फिर दूसरा रुपया लाया। इस प्रकार एक एक करके २१ रुपए बाहर रख गया। तदनन्तर उनमें से एक मुँह में उठाकर बिल के अंदर चला गया। इसी बीच में कुमारपाल ने, जो चुपके से यह दृश्य देख रहे थे, शेष २० रुपए उठा लिए और छिप गए। चूहे ने बिल से निकलकर जब अपना धन नहीं देखा, तब वह इतना पीड़ित हुआ कि तुरंत मर गया। कुमारपाल भी इस घटना से बड़े व्याकुल हुए। अब उन्होंने सूरिजी से उस पाप का प्रायश्चित्त पूछा और उनके आदेशानुसार एक मुष्टिक विहार बनवा दिया।

सपादलक्ष देश में कोई सेठानी केश संमार्जन करा रही थी। उसने अपने सिर में से निकली हुई एक जूँ सेठ जी को दे दी। सेठ जी ने उस पीड़ा-कारिणी जूँ को हाथ में लेकर उसे तर्जना कर देर तक मसलकर मार डाला। किसी अमारिकारी पंचकुल ने उसे देख लिया और पकड़ कर पाटण ले गया। राजा के पास मुकदमा पहुँचा। उन्होंने हेमचन्द्र

को बुलाया, जिनकी अनुज्ञा से यह फैसला दिया गया कि इसकी सब दौलत छीन लेनी चाहिए; और उस उस स्थान पर जहाँ हत्या हुई है, एक यूका (जूँ) विहार बनवाना चाहिए। तदनन्तर ठीक ऐसा ही किया गया। यह विचित्र कथा पढ़कर पंडितवर टानी महोदय लिखते हैं—

"कुमारपाल ने जीव दया करने का कार्य किस अद्भुत सीमा तक पहुँचा दिया था, यह मेरुतुङ्ग की कही हुई हास्यजनक यूका विहारवाली कथा से प्रकट हो जाता है। जब हेमचन्द्र जैसे तत्त्वज्ञानी और विद्वान् किसी जाति के शासन के संचालक हो जाते हैं, तब ऐसे खेद-पूर्ण परिणाम हुआ करते हैं।" (टानी कृत प्रबन्ध चिंतामणि के अंग्रेजी अनुवाद से)

एक दिन सोलाक नामक गंधर्व ने अपनी गीत-कला से कुमारपाल को प्रसन्न कर दिया और ११६ द्रम्म इनाम में पाए। परंतु उसने वहाँ से चलकर उस द्रव्य की मिठाई ले बालकों को बाँट दी। राजा इस व्यवहार से अप्रसन्न हुआ और उसको निर्वासित कर दिया। वह विदेश चला गया और किसी राजा को गीत कला से प्रसन्न करके उससे दो हाथी प्राप्त किए और उन्हें कुमारपाल को भेंट कर फिर पाटण में ही रहने लगा। एक दिन एक विदेशी गन्धर्व "अरे मैं लुट गया" "अरे मैं लुट गया" चिल्लाने लगा। जब राजा ने उससे वृत्तांत पूछा, तब वह बोला कि मैं जंगल में गीत गा रहा था। एक मृग मेरे पास आ खड़ा हुआ। मैंने प्रेम से उसके गले में अपना बहुमूल्य हार पहना दिया। दैवसंयोग से वह सिंह की गर्जना से भयभीत होकर भाग गया। यही मेरे लुटने का वृत्तांत है। सोलाक गन्धर्व ने अपने उत्तम गान के प्रभाव से उस मृग को नगर के समीप तक लाकर राजा को दिखला दिया। उसके कौशल से चमत्कृत हो हेमचन्द्र ने गन्धर्वराट् से गीत-कला के प्रभाव के संबंध में कुछ पूछा। उसने उत्तर दिया कि मैं शुष्क काष्ठ में पत्ते तक लगा सकता हूँ। और फिर उनके अधिक कौतुकाक्रांत

होने पर अर्बुद से विरद्दक नामक वृक्ष उखड़वा मँगाया और अपनी संगीत कला से उसे प्रोल्लसत्पल्लव (पत्तों सहित) कर दिखाया।

एक दिन हेमचन्द्र के नियत किए हुए समयानुसार कान्ह नामक एक व्यवहारी वटपत्रक (बड़ोदा) से पाटण आया। वह अपने मंदिर में मूल नायक की प्रतिमा पधारना चाहता था। वह नगर के मुख्य प्रासाद में उस बिम्ब (मूर्ति) को रख उपहार लेने चला गया। परंतु जब वापस आया, तब राजा के अंगरक्षकों से द्वार घिरा हुआ था; अतः वह प्रवेश नहीं पा सका और उसे विवश होकर खड़ा रहना पड़ा। कुछ समय पश्चात् राजपुरुष अलग हो गए और उसे अंदर जाने का अवकाश मिला। परतु इस बाधा से प्रतिमा-प्रतिष्ठा का मुहूर्त टल गया। वह हेमचन्द्र के चरणों में गिरकर खूब रोने और उन्हें बुरा भला कहने लगा। हेमचन्द्र उसके दुःख को दूर करने का उपाय न सोच सके। उन्होंने रंग मंडप से बाहर निकल आकाश की ओर देखकर कहा कि पूर्व लग्न में जो बिम्ब प्रतिष्ठित किया गया है, उसकी आयु तीन वर्ष की होगी। किंतु अब वर्तमान लग्न में जो प्रतिमा स्थापित की जायगी, वह चिर काल तक रहनेवाली होगी। इस पर उसने उसी समय वह प्रतिमा स्थापित करवाई।

उदयन के उपरान्त कपर्दी मंत्री बना। उसी ने कुमारपाल नरेश को साक्षर बनाया था। उसकी प्रेरणा से राजा कामन्दकीय नीति-शास्त्र सुना करता था। एक दिन राजा भोजन करके आया और वह ग्रन्थ सुनने लगा। पंडित ने उसमें से श्लोक पढ़ा—

पर्जन्य इव भूतानामाधारः पृथिवीपतिः।
विकलेऽपि हि पर्जन्ये जीव्यते न तु भूपतौ॥ (सर्ग १, श्लोक १३.)

आशय—मेघ के समान प्राणियों का आधार राजा है, बल्कि उससे भी अधिक है, क्योंकि मेघ के विकल होने (बरसने) पर भी प्रजा जीवित रहती है, परंतु राजा के विकल (विरुद्ध कलावाला, विह्वल) होने पर वह

नहीं पचती। यह सुन कुमारपाल ने कहा—"नृपतेर्मेघ औपम्या"! वाह! राजा की मेघ से "उपमा" दी गई है! वहाँ जो लोग बैठे हुए थे, वे जी हाँ जी हाँ धन्य धन्य करने लगे; परंतु कपर्दी नीची गरदन किए चुप रहा। जब एकान्त में कुमारपाल ने पूछा कि आप उस अवसर पर नम्रानन क्यों हुए, तब उसने कहा कि आप ने अपने मुख से "औपम्या" कहा, जो अशुद्ध था। एक तो यह अशुद्धि; और दूसरे जी हुजूरों का हाँ जी हाँ जी करना; दोनों कारणों से मेरा अवाङ्मुख होना उचित था। राजा का न होना किसी कदर अच्छा है; परंतु मूर्ख राजा होना अच्छा नहीं, ऐसा सिद्धान्त है। तदनन्तर राजा ने विशेष मन लगाकर अध्ययन करना आरम्भ किया और एक वर्ष में ही तीन काव्य पढ़कर "विचार चतुर्मुख" विरुद प्राप्त किया।

एक बार काशी से विश्वेश्वर नामक कवि पाटण आया और वहाँ हेमचन्द्र की विद्वत् समिति में सम्मिलित हुआ। उसने कहा—"पातु वो हेमगोपालः कम्बलं दण्डमुद्वहन्"। अर्थात् कंबल और लट्ठ लिए हुए हेम (चन्द्र) ग्वाल तुम्हारी रक्षा करे। इतना कह चुप सा हो गया। कुमारपाल नरेश भी वहाँ विद्यमान थे। इस वाक्य को निन्दा-विधायक समझ उनकी त्योरी चढ़ गई। कवि को तो वहाँ पर लोगों के हृदय और मस्तिष्क की परीक्षा करनी थी। उसने यह दृश्य देख तुरंत उपर्युक्त श्लोकार्ध के आगे "षड्दर्शनपशुग्रामं चारयन् जैनगोचरे"। उत्तर पद कह दिया, जिसमें उसने बताया कि वह गोपाल जो षड्दर्शन रूपी पशुओं को जैन तृण क्षेत्र में हाँक रहा है। इस उत्तरार्ध से उसने समस्त सभ्यों को संतुष्ट कर दिया। तदनन्तर उसने पूर्त्ति करने के लिये एक कठिन समस्या दी। हेमचन्द्र के प्रसिद्ध शिष्य रामचन्द्रादि कोई भी उसकी पूर्त्ति न कर सके। कपर्दी मंत्री ने पूर्त्ति की। विश्वेश्वर उसकी विद्या से ऐसा प्रसन्न हुआ कि अपने गले का ५०,०००) मूल्य का हार उतार कर उसके गले में पहना दिया। राजा ने उस

कवि को अपने यहाँ रखना चाहा; परंतु वह नहीं रहा और प्रभासपट्टन चला गया।

हेमचन्द्र के विषय की सब घटनाएँ यदि एकत्र की जायँ, तो एक अच्छी पुस्तक बन जाय।

कुमारपाल ३० वर्ष, ८ महीने और २७ दिन राज्य करके ई० सन् ११७४ में सुरपुर सिधारे। उनके छः महीने पूर्व ही हेमचन्द्र ने ऐहिक लीला समाप्त की। राजा को उनका वियोग असह्य रहा। हेमचन्द्र के शरीर की भस्म को इतने लोगों ने अपने मस्तक पर लगाया कि अंत्येष्टि क्रिया के स्थान में एक गड्ढा हो गया, जो हेमखाड्ड नाम से प्रसिद्ध हुआ।

कुमारपाल और हेमचन्द्र की जैन धर्म के प्रचार की इच्छा उनके जीवन काल तक ही फलान्वित रही। उनके पश्चात् अजयपाल राजा ने अपने वैदिक धर्म की कट्टरता के कारण जैन धर्मावलम्बियों को बहुत हानि पहुँचाई। वह ऐसे विचित्र स्वभाव का था कि इसने पूर्ण वैदिक धर्मावलम्बी कपर्दी को भी गरम तेल के कड़ाहे में गिरवाकर मरवा डाला। अनेक ग्रंथों के रचयिता रामचन्द्र को, जो हेमचन्द्र का पट्ट शिष्य था, इस राजा ने गरम तवे पर बैठाया। आम्रभट्ट को मरवाया और अनेक जैन मंदिरों को मिट्टी में मिलवाया।

गुजरात के सुप्रसिद्ध इतिहास-लेखक ए० के० फार्बस महोदय ने भी अपनी रासमाला में हेमचन्द्र का वर्णन किया है। उन्होंने दो एक ऐसे वृत्तांत भी उसमें लिखे हैं, जो हमें अन्यत्र नहीं मिलते। यहाँ उनमें से एक का उल्लेख किया जाता है।

कुमारपाल ने मेवाड़ राज्य की सीसोदिया वंश की एक राजकुमारी से विवाह किया। पाणिग्रहण होने पर उस राजपुत्री को पता लगा कि पाटण में मुझे प्रचलित प्रथा के अनुसार हेमचन्द्र के उपाश्रय में जाकर जैन धर्म की दीक्षा लेनी पड़ेगी। उसने इस बात को नापसन्द किया और पाटण जाने से इन्कार किया। कुमारपाल का जयदेव

वृत्ति, काव्यानुशासन, छन्दोनुशासन (छन्दोनुशासनवृत्ति), देशीनाम माला सवृत्ति, द्वयाश्रय काव्य, धातुपाठ सवृत्ति, धातुपारायण सवृत्ति, धातुमाला, नाममाला, नाममाला शेष, निघण्टु शेष, प्रमाण मीमांसा सवृत्ति, बलाबल सूत्र बृहद्वृत्ति, बालभाषा व्याकरण सूत्रवृत्ति, योगशास्त्र, विभ्रमसूत्र, लिङ्गानुशासन सवृत्ति, शब्दानुशासन सवृत्ति और शेषसंग्रह सारोद्धार।

हेमचन्द्र का सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन (व्याकरण) सुप्रसिद्ध ग्रंथ है। इसमें चार चार पादों के आठ अध्याय हैं, जिनमें करीब ४५०० सूत्र हैं, जो विषयानुसार विभक्त हैं और जिन पर उन्हीं की रची हुई बृहद् वृत्ति है। इस ग्रंथ के अंतिम अध्याय में प्राकृत व्याकरण लिखा गया है। व्याकरण के पश्चात् संस्कृत और प्राकृत द्व्याश्रय काव्य की रचना अवलोकनीय है। संस्कृत द्व्याश्रय काव्य में २० सर्ग हैं, जिनमें करीब २५०० श्लोक हैं। सूरिजी ने इस ग्रंथ में मूलराज से प्रारम्भ कर चामुंडराज, वल्लभराज, दुर्लभराज, भीम, कर्ण और सिद्धराज जयसिंह तक का इतिहास वर्णन किया है। इतिहास और व्याकरण के उदाहरण ये दोनों आश्रय होने के कारण यह ग्रंथ द्व्याश्रय कहलाया। इस काव्य का प्राकृत अंश कुमारपालचरित भी कहलाता है। उसमें प्राकृत भाषा के ७५० श्लोक हैं जो ८ सर्गों में विभक्त है। संस्कृत द्व्याश्रय पर अभयतिलक गणि ने और प्राकृत पर पूर्णकलश गणि ने टीका की है।

व्याकरण के अनन्तर कोष की रचना लीजिए। हेमचन्द्र के बनाए हुए कोष संबंधी ग्रंथों मे से हैमनाममाला अथवा अभिधान चिंतामणि और श्लोकार्थनाममाला सिद्धराज के राज्य-काल में बनाई गई थी।

देशी नाममाला कोष की रचना बहुत ही अद्भुत है। हेमचन्द्र के अतिरिक्त कदाचित् किसी विरले ही विद्वान् ने ऐसी रचना की हो। इसी ग्रंथ के द्वारा आज हम आठ नौ सौ वर्ष पूर्व के ऐसे देशी शब्दों के रूप,

जो बोलचाल में तो आते थे, परंतु लेखबद्ध भाषा में जिनका प्रयोग अप्रचलित था, देखने में समर्थ हैं।

व्याकरण और कोष के अनन्तर साहित्य, काव्य, अलंकार और छन्द विभाग की रचना लीजिए। सूरिजी ने काव्यानुशासन ग्रन्थ निर्माण किया, जिस में काव्य का प्रयोजन, प्रतिभा, गुण, दोष, रस, अलंकार, नायकादि लक्षणों को सूत्र रूप से प्रदर्शित किया। तदनन्तर अलंकार चूड़ामणि व्याख्या में अनेक ग्रन्थों के श्लोक उद्धृत कर अपने गांभीर्य परिपूर्ण एवं विस्तृत पांडित्य से प्रत्येक बात सरल रूप से समझाई। इसके उपरांत छन्दों के विषय का करीब ६००० श्लोकों का छंदानुशासन ग्रंथ निर्माण कर काव्य का विषय पूरा किया।

अब अध्यात्म विद्या का प्रसंग लीजिए। उन्होंने १२ प्रकाशों (अध्यायों) में, जिन में १२००० श्लोक हैं, योगशास्त्र की रचना की; और जिज्ञासुओं के सरल बोधार्थ टीका निर्माण करने का भी परिश्रम किया। जैन धर्म से लाभ उठानेवाले मनुष्य को मुक्ति के मार्ग का किस प्रकार अनुसरण करना चाहिए, इस बात को उन्होंने ऐसे विशद रूप से समझाया है कि अद्यावधि उन्हीं का ग्रन्थ इस विषय में जिज्ञासुओं का एक मात्र अवलम्ब बना हुआ है। इस ग्रन्थ की वि० सं० १२५१ की अर्थात् ग्रंथकर्ता की मृत्यु होने के २० वर्ष पश्चात् की ही लिखी हुई एक प्रति अब तक खंभात में विद्यमान है, जिस से यह अनुमान किया जा सकता है कि लोगों ने इस ग्रन्थ रत्न को कैसे सन्मान की दृष्टि से अंगीकार किया था।

त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र और उस के परिशिष्ट पर्व का वर्णन करना भी आवश्यक है। यह एक महान् ग्रन्थ है। इसमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी युग के जैन धर्म के ६३ महापुरुषों के चरित्रों का संस्कृत भाषा में छन्दोबद्ध वर्णन करके सूरिजी एक ऐसी माला गूंथ गए हैं, जो चिरकाल तक अपने अमन्द सौरभ से श्रद्धालुओं के नेत्र, श्रोत्र और

आत्मा को प्रमुदित करती रहेगी। इसके पश्चात् उन्होंने परिशिष्ट पर्व की रचना की जिसमें १३ सर्ग और ३३७९ श्लोक हैं। इस ग्रंथ में महावीर के पश्चात्-कालीन पुरुषों के चरित्र वर्णन किए गए हैं।

श्रीहेमचन्द्राचार्य की विद्या बहुत ही विस्तृत और गंभीर थी। वे वैयाकरण, कवि, योगी, पुराण और इतिहास-प्रणेता, दार्शनिक तथा कोषकार थे। निमित्त विद्या, गणित और ज्योतिष के संबंध में भी उन्होंने अवश्य ग्रंथ लिखे होंगे। संभव है कि कालान्तर में उनका पता लगे। ईसवी ११ वीं शताब्दी में विद्यमान कश्मीर के क्षेमेन्द्र कवि (जिसके ३० ग्रंथ अभी तक मिल चुके हैं) के समान हेमचन्द्र बहुत सी पुस्तकों के रचयिता हुए हैं। हमने कहीं पढ़ा था कि इनकी लेखकशाला में ७०० लेखक काम किया करते थे। कई लेखकों ने इन्हें "कलिकाल सर्वज्ञ" कहा है। यह विशेषण अवश्य इनके उपयुक्त ही है।

(३) महाकवि सूरदासजी

[लेखक—श्रीयुक्त पंडित रामचंद्र शुक्ल, काशी ।]

हिन्दुओं के स्वातंत्र्य के साथ ही साथ वीर-गाथाओं की परंपरा भी काल के अँधेरे में जा छिपी। उस हीन दशा के बीच वे अपने पराक्रम के गीत किस मुँह से गाते और किन कानों से सुनते ? जनता पर गहरी उदासी छा गई थी। राम और रहीम को एक बतानेवाली बानी मुरझाए मन को हरा न कर सकी; क्योंकि उसके भीतर उस कट्टर एकेश्वर वाद का सुर मिला हुआ था, जिसका ध्वंसकारी स्वरूप लोग नित्य अपनी आँखों देख रहे थे। सर्वस्व गँवाकर भी हिन्दू जाति अपनी स्वतंत्र सत्ता बनाए रखने की वासना नहीं छोड़ सकी थी। इससे उसने अपनी सभ्यता, अपने चिर-संचित संस्कार आदि की रक्षा के लिये राम और कृष्ण का आश्रय लिया; और उनकी भक्ति का स्रोत देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैल गया। जिस प्रकार बंग देश में कृष्ण चैतन्य ने, उसी प्रकार उत्तर भारत में वल्लभाचार्य्य जी ने परम भाव की उस आनन्द-विधायिनी कला का दर्शन कराकर, जिसे प्रेम कहते हैं, जीवन में सरसता का संचार किया। दिव्य प्रेम-संगीत की धारा में इस लोक का सुखद पक्ष निखर आया और जमती हुई उदासी या खिन्नता बह गई।

जयदेव की देववाणी की स्निग्ध पीयूष-धारा, जो काल की कठोरता में दब गई थी, अवकाश पाते ही लोक भाषा की सरसता में परिणत होकर मिथिला की अमराइयों में विद्यापति के कोकिल कंठ से प्रकट हुई और आगे चलकर व्रज के करील-कुंजों के बीच फैल मुरझाए मनों को सींचने लगी। आचार्य्यों की छाप लगी हुई आठ वीणाएँ श्रीकृष्ण की प्रेम-लीला का कीर्त्तन करने उठीं, जिनमें सब से ऊँची, सुरीली और

मधुर मनकार अंधे कवि सूरदास की वीणा की थी। ये भक्त-कवि सगुण उपासना का रास्ता साफ करने लगे। निर्गुण उपासना की नी-रसता और अग्राह्यता दिखाते हुए ये उपासना का हृदयग्राही स्वरूप सामने लाने में लग गए। इन्होंने भगवान् का प्रेममय रूप ही लिया; इससे हृदय की कोमल वृत्तियों के ही आश्रय और आलंबन खड़े किए। आगे जो इनके अनुयायी कृष्ण-भक्त हुए, वे भी उन्हीं वृत्तियों में लीन रहे। हृदय की अन्य वृत्तियों (उत्साह आदि) के रंजनकारी रूप भी यदि वे चाहते, तो कृष्ण में ही मिल जाते; पर उनकी ओर वे न बढ़े। भगवान् का यह व्यक्त स्वरूप यद्यपि एक-देशीय था—केवल प्रेममय था—पर उस समय नैराश्य के कारण जनता के हृदय में जीवन की ओर से एक प्रकार की जो अरुचि सी उत्पन्न हो रही थी, उसे हटाने में उपयोगी हुआ। मनुष्यता के सौन्दर्य्यपूर्ण और माधुर्य्यपूर्ण पक्ष को दिखाकर इन कृष्णोपासक वैष्णव कवियों ने जीवन के प्रति अनुराग जगाया, या कम से कम जीने की चाह बनी रहने दी।

बाल्य काल और यौवन काल कितने मनोहर हैं! उनके बीच की नाना मनोरम परिस्थितियों के विशद चित्रण द्वारा सूरदास जी ने जीवन की जो रमणीयता सामने रखी, उससे गिरे हुए हृदय नाच उठे। 'वात्सल्य' और 'शृंगार' के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बंद आँखों से किया, उतना किसी और कवि ने नहीं किया। इन क्षेत्रों का कोना कोना वे झाँक आए। उक्त दोनों रसों के प्रवर्त्तक रतिभाव के भीतर की जितनी मानसिक वृत्तियों और दशाओं का अनुभव और प्रत्यक्षीकरण सूर कर सके, उतनी का और कोई नहीं। *हिन्दी साहित्य में शृंगार का रस-राजत्व यदि किसी ने पूर्ण रूप से दिखाया, तो सूर ने।*

उनकी उमड़ती हुई वाग्धारा उदाहरण रचनेवाले कवियों के समान गिनाए हुए संचारियों से बँधकर चलनेवाली न थी। यदि हम सूर के केवल विप्रलम्भ शृंगार को ही लें, अथवा भ्रमर-गीत को ही

देखें, तो न जाने कितने प्रकार की मानसिक दशाएँ ऐसी मिलेंगी, जिनके नामकरण तक नहीं हुए हैं। मैं इसी को कवियों की पहुँच कहता हूँ। यदि हम मनुष्य-जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्र को लेते हैं, तो सूरदासजी की दृष्टि परिमित दिखाई पड़ती है। पर यदि उनके चुने हुए क्षेत्रों (शृंगार और वात्सल्य) को लेते हैं, तो उनके भीतर उनकी पहुँच का विस्तार बहुत अधिक पाते हैं। उन क्षेत्रों में इतना अन्तर्दृष्टि-विस्तार और किसी कवि का नहीं। बात यह है कि सूर को 'गीत काव्य' की जो परम्परा (जयदेव और विद्यापति की) मिली, वह शृंगार की ही थी। इसी से सूर के संगीत में भी उसी का प्रधानता रही। दूसरी बात है उपासना का स्वरूप। सूरदासजी वल्लभाचार्य्य जी के शिष्य थे, जिन्होंने भक्ति मार्ग में भगवान् का प्रेममय स्वरूप प्रतिष्ठित करके उसके आकर्षण द्वारा 'सायुज्य मुक्ति' का मार्ग दिखाया था। भक्ति-साधना के इस चरम लक्ष्य या फल (सायुज्य) की ओर सूर ने कहीं कहीं संकेत भी किया है; जैसे—

सीत उष्ण सुख दुख नहिं मानै, हानि भए कछु सोच न राँचै।
जाय समाय सूर वा निधि में बहुरि न उलटि जगत में नाचै ॥

जिस प्रकार ज्ञान की चरम सीमा ज्ञाता और ज्ञेय की एकता है, उसी प्रकार प्रेम-भाव की चरम सीमा आश्रय और आलंबन की एकता है। अतः भगवद्भक्ति की साधना के लिये इसी प्रेम-तत्व को वल्लभाचार्य्य ने सामने रखा; और उनके अनुयायी कृष्ण-भक्त कवि इसी को लेकर चले। गो० तुलसीदास जी की दृष्टि व्यक्तिगत साधना के अतिरिक्त लोक-पक्ष पर भी थी; इसी से वे मर्यादा-पुरुषोत्तम के चरित को लेकर चले; और उसमें लोकरक्षा के अनुकूल जीवन की और और वृत्तियों का भी उन्होंने उत्कर्ष दिखाया और अनुरंजन किया।

उक्त प्रेमतत्व की पुष्टि में ही सूर की वाणी मुख्यतः प्रयुक्त जान पड़ती है। रति-भाव के तीनों प्रबल और प्रधान रूप—भगवद्विषयक

पीताम्बर को, त्रिभंगी मुद्रा को, स्मित आनन को, हाथ में ली हुई मुरली को, सिर के कुंचित केश और मोर-मुकुट आदि को सामने रखता है। यह विन्यास वस्तु रूप में हुआ। इसी प्रकार का विन्यास यमुना-तट, निकुंज की लहराती लताओं, चंद्रिका, कोकिल-कूजन आदि का होगा। इनके साथ ही यदि कृष्ण के शोभा-वर्णन में घन और दामिनी, सनाल कमल आदि उपमान के रूप में वह लाता है, तो वही विन्यास अलंकार-रूप में होगा। वर्ण्य विषय की परिमिति के कारण वस्तु-विन्यास का जो संकोच सूर की रचना में दिखाई पड़ता है, उसकी बहुत कुछ कसर अलंकार-रूप में लाए हुए पदार्थों के प्राचुर्य्य द्वारा पूरी हो जाती है। कहने का तात्पर्य्य यह कि प्रस्तुत रूप में लाए हुए पदार्थों की संख्या सूर में कम, पर अलंकार-रूप में लाए हुए पदार्थों की संख्या बहुत अधिक है। यह दूसरे प्रकार की (आलंकारिक) रूप-योजना या व्यापार योजना किसी और (प्रस्तुत) रूप प्रभाव को बढ़ाने के लिये ही होती है, अतः इसमें लाए हुए रूप या व्यापार ऐसे ही होने चाहिएँ, जो प्रभाव में उन प्रस्तुत रूपों या व्यापारों के समान हों। सूर अलंकार-योजना के लिये अधिकतर ऐसे ही पदार्थ लाए हैं।

सारांश यह कि यदि हम बाह्य सृष्टि से लिये रूपों और व्यापारों के सम्बन्ध में सूर की पहुँच का विचार करते हैं, तो यह बात स्पष्ट देखने में आती है कि प्रस्तुत रूप में लिए हुए पदार्थों और व्यापारों की संख्या परिमित है। उन्होंने कृष्ण और राधा के अंग प्रत्यंग, मुद्राओं और चेष्टाओं, यमुना-तट, वंशीवट, निकुंज, गो-चारण, वन-विहार, बाल-लील, चोरी, नटखटी तथा कवि-परिपाटी में परिगणित ऋतु-सुलभ वस्तुओं तक ही अपने को रखा है।

इसके कारण दो हैं। पहली बात तो यह है कि इनकी रचना "गीत-काव्य" है जिसमें मधुर ध्वनि-प्रवाह के बीच कुछ चुने हुए पदार्थों और व्यापारों की झलक भर काफ़ी होती है। गो॰ तुलसीदास जी के

समान सूरसागर प्रबन्ध काव्य नहीं है, जिसमें कथा-क्रम से अनेक पक्षों और व्यापारों की शृंखला जुड़ती चली चलती है। सूरदास जी ने प्रत्येक लीला या प्रसंग पर फुटकर पद कहे हैं। एक पद दूसरे पद से सम्बद्ध नहीं है। प्रत्येक पद स्वतंत्र है। इसी से किसी एक प्रसंग पर कहे हुए पदों को यदि हम लेते हैं, तो एक ही घटना से सम्बन्ध रखनेवाली एक ही बात भिन्न भिन्न रागिनियों में कुछ फेर फार के साथ बहुत से पदों में मिलती है, जिससे पढ़नेवाले का जी कभी कभी ऊब सा जाता है। यह बात प्रकृत प्रबन्ध-काव्य में नहीं होती।

परिमिति का दूसरा कारण पहले ही कहा जा चुका है कि सूरदास जी ने जीवन की वास्तव में दो ही वृत्तियाँ ली हैं—बाल-वृत्ति और यौवन-वृत्ति। इन दोनों के अन्तर्गत आए हुए व्यापार क्रीड़ा, उमंग और उद्रेक के रूप में ही हैं। प्रेम भी घटनापूर्ण नहीं है। उसमें किसी प्रकार का प्रयत्न-विस्तार नहीं है, जिसके भीतर नई नई वस्तुओं और व्यापारों का सन्निवेश होता चलता है। लोक-संघर्ष से उत्पन्न विविध व्यापारों की योजना सूर का उद्देश्य नहीं है। उनकी रचना जीवन की अनेक रूपता की ओर नहीं गई है; बाल क्रीड़ा, प्रेम के रंग रहस्य और उसकी अतृप्त वासना तक ही रह गई है। जीवन की गंभीर समस्याओं से तटस्थ रहने के कारण उसमें वह वस्तु-गांभीर्य नहीं है, जो गोस्वामीजी की रचनाओं में है। परिस्थिति की गंभीरता के अभाव से गोपियों के वियोग में भी वह गंभीरता नहीं दिखाई पड़ती, जो सीता के वियोग में है। उनका वियोग खाली बैठे का काम सा दिखाई पड़ता है। सीता अपने प्रिय से वियुक्त होकर कई सौ कोस दूर दूसरे द्वीप में राक्षसों के बीच पड़ी हुई थीं। गोपियों के गोपाल केवल दो चार कोस दूर के एक नगर में राजसुख भोग रहे थे। सूर का वियोग-वर्णन वियोग-वर्णन के लिये ही है, परिस्थिति के अनुरोध से नहीं। कृष्ण गोपियों के साथ क्रीड़ा करते करते किसी कुंज या झाड़ी में जा छिपते हैं; या यों कहिए

कि थोड़ी देर के लिये अंतर्द्धान हो जाते हैं। बस गोपियाँ मूर्च्छित हो कर गिर पड़ती हैं। उनकी आँखों से आँसुओं की धारा उमड़ चलती है। पूर्ण वियोग दशा उन्हें आ घेरती है। यदि परिस्थिति का विचार करें, तो ऐसा विरह-वर्णन असंगत प्रतीत होगा। पर जैसा कहा जा चुका है, सूरसागर प्रबन्ध-काव्य नहीं है, जिसमें वर्णन की उपयुक्तता या अनुपयुक्तता के निर्णय में घटना या परिस्थिति के विचार का बहुत कुछ योग रहता है।

पारिवारिक और सामाजिक जीवन के बीच हम सूर के बाल कृष्ण को ही थोड़ा बहुत देखते हैं। कृष्ण के केवल बाल-चरित्र का प्रभाव नंद, यशोदा आदि परिवार के लोगों और पड़ोसियों पर पड़ता दिखाई देता है। सूर का बाललीला-वर्णन ही पारिवारिक जीवन से संबद्ध है। कृष्ण के छोटे छोटे पैरों से चलने, मुँह में मक्खन लिपटाकर भागने या इधर-उधर नटखटी करने पर नंद बबा और यशोदा मैया का कभी पुलकित होना, कभी खीझना, कभी पड़ोसियों का प्रेम से उलाहना देना आदि बातें एक छोटे से जन समूह के भीतर आनन्द का संचार करती दिखाई गई हैं। इसी बाल-लीला के भीतर कृष्णचरित का लोकपक्ष अधिकतर आया है; जैसे कंस के भेजे हुए असुरों के उत्पात से गोपों को बचाना, काली नाग को नाथकर लोगों का भय छुड़ाना। इन्द्र के कोप से डूबती हुई बस्ती की रक्षा करने और नंद को वरुण लोक से लाने का वृत्तांत यद्यपि प्रेमलीला आरंभ होने के पीछे आया है, पर उससे संबद्ध नहीं है। कृष्ण के चरित में जो यह थोड़ा बहुत लोकसंग्रह दिखाई पड़ता है, उसके स्वरूप में सूर की वृत्ति लीन नहीं हुई है। जिस शक्ति से उस बाल्यावस्था में ऐसे प्रबल शत्रुओं का दमन किया गया, उसके उत्कर्ष का अनुरंजनकारी और विस्तृत वर्णन उन्होंने नहीं किया है। जिस ओज और उत्साह से तुलसीदासजी ने मारीच, ताड़का, खरदूषण आदि के निपात का वर्णन किया है, उस ओज और उत्साह से

दुखी पृथ्वी की प्रार्थना पर भगवान् का कृष्णावतार हुआ, इस बात को उन्होंने केवल एक ही पद में कह डाला है। इसी प्रकार कागासुर, वकासुर, शकटासुर आदि को हम लोक-पीड़कों के रूप में नहीं पाते हैं। केवल प्रलंब और कंस के वध पर देवताओं का फूल बरसाना देखकर उक्त कर्म के लोकव्यापी प्रभाव का कुछ आभास मिलता है। पर यह वर्णन विस्तृत नहीं है। सूरदास का मन जितना नंद के घर की आनंद बधाई, बाल-क्रीड़ा, मुरली की मोहनी तान, रास-नृत्य, प्रेम के रंग रहस्य और संयोग वियोग की नाना दशाओं में लगा है, उतना ऐसे प्रसंगों में नहीं। ऐसे प्रसंगों को उन्होंने किसी प्रकार चलता कर दिया है। कुछ लोग रामचरितमानस में राम के प्रत्येक कर्म पर देवताओं का फूल बरसाना देखकर ऊबते से हैं। उन्हें समझना चाहिए कि गोस्वामीजी ने राम के प्रत्येक कर्म को ऐसे व्यापक प्रभाव का चित्रित किया है, जिस पर तीनों लोकों की दृष्टि लगी रहती थी। कृष्ण का गो-चारण और रास लीला आदि देखने को भी देवगण एकत्र हो जाते हैं, पर केवल तमाशबीन की तरह।

सूरदास जी को मुख्यतः शृंगार और वात्सल्य का कवि समझना चाहिए, यद्यपि और रसों का भी एक आध जगह अच्छा वर्णन मिल जाता है, जैसे, दावानल के इस वर्णन में भयानक रस का—

भहरात भहरात दावानल आयो।
घेरि चहुँ ओर, करि सोर अंदोर बन धरनि आकास चहुँ पास छायो।
बरत बन बाँस, थरहरत कुस काँस, जरि उड़त बहु झाँस, अति प्रबल धायो।
झपटि झपटत लपट, फूल फूटत पटकि, चटकि लट लटकि द्रुम फटि नवायो।
अति अगिनि झार भंभार धुंधार करि उचटि अंगार झंझार छायो।
बरत बनपात, भहरात, झहरात, अररात तरु महा धरनी गिरायो॥

पर जैसा कहते आ रहे हैं, मुख्यता शृंगार और वात्सल्य की ही है। पर इसमें संदेह नहीं कि इन दोनों रसों के वे सबसे बड़े कवि हैं।

यहाँ तक तो सूर की रचना की सामान्य दृष्टि से समीक्षा हुई। अब इन महाकवि की उन विशेषताओं का थोड़ा बहुत दिग्दर्शन होना चाहिए, जिनके कारण हिन्दी साहित्य में इनका स्थान इतना ऊँचा है। ध्यान देने की सब से पहली बात यह है कि चलती हुई व्रज भाषा में सब से पहली साहित्यिक कृति इन्हीं की मिलती है, जो अपनी पूर्णता के कारण आश्चर्य में डाल देती है।" पहली साहित्यिक रचना और इतनी प्रचुर, प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण कि अगले कवियों की शृंगार और वात्सल्य की उक्तियाँ इनकी जूठी जान पड़ती हैं। यह बात हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखनेवालों को उलझन में डालनेवाली होगी। सूरसागर किसी चली आती हुई परंपरा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास सा जान पड़ता है, आगे चलनेवाली परंपरा का मूल रूप नहीं।

यदि भाषा को लेकर देखते हैं, तो यह व्रज की चलती बोली होने पर भी एक साहित्यिक भाषा के रूप में मिलती है, जो और प्रान्तों के कुछ प्रचलित शब्दों और प्रत्ययों के साथ ही साथ पुरानी काव्य भाषा या अपभ्रंश के शब्दों को लिए हुए है। सूर की भाषा बिल्कुल बोल चाल की व्रज भाषा नहीं है। 'जाकों,' 'तासों,' 'वाको' चलती व्रज भाषा के रूपों के समान ही 'जेहि' 'तेहि' आदि पुराने रूपों का प्रयोग बराबर मिलता है, जो अवधी की बोल चाल में तो अब तक हैं, पर व्रज की बोलचाल में सूर के समय में भी नहीं थे। पुराने निश्चयार्थक 'पै' का व्यवहार भी पाया जाता है; जैसे, 'जाहि लगै सोई पै जानै, प्रेम-बान अनियारो'। 'गोड़,' 'आपन,' 'हमार' आदि पूरबी प्रयोग भी बराबर पाए जाते हैं। कुछ पंजाबी प्रयोग भी मौजूद हैं; जैसे, महँगी के अर्थ में 'प्यारी' शब्द। ये सब बातें एक व्यापक काव्य भाषा के अस्तित्व की सूचना देती हैं।

अब हम संक्षेप में उन प्रसंगों को लेते हैं जिनमें सूर की प्रतिभा

पूर्णतया लीन हुई है। कृष्ण-जन्म की आनंद-बधाई के उपरान्त ही बाल लीला का आरम्भ हो जाता है। जितने विस्तृत और विशद रूप में बाल्य जीवन का चित्रण इन्होंने किया है, उतने विस्तृत रूप में और किसी कवि ने नहीं किया। शैशव से लेकर कौमार अवस्था तक के क्रम से लगे हुए न जाने कितने चित्र मौजूद हैं। उनमें केवल बाहरी रूपों और चेष्टाओं पर ही विस्तृत और सूक्ष्म वर्णन नहीं है; कवि ने बालकों की अन्तःप्रकृति में भी पूरा प्रवेश किया है और अनेक बाल्य भावों की सुंदर स्वाभाविक व्यंजना की है। देखिए, 'स्पर्द्धा' का भाव, जो बालकों में स्वाभाविक होता है, इन वाक्यों से किस प्रकार व्यंजित हो रहा है—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति 'बल' की बेनी ज्यों ह्वैहै लाँबी मोटी॥

बाल-चेष्टा के स्वाभाविक मनोहर चित्रों का इतना बड़ा भांडार और कहीं नहीं है, जितना बड़ा सूरसागर में है। दो चार चित्र देखिए—

(१) कत हौ आरि करत मेरे मोहन यों तुम आँगन लोटी?
जो माँगहु सो देहुँ मनोहर यहै बात तेरी खोटी।
सूरदास को ठाकुर ठाढ़ो हाथ लकुटि लिए छोटी॥

(२) सोभित कर नवनीत लिए।
घुटरुन चलत, रेनु तन मंडित, मुख दधि लेप किए॥

(३) सिखवत चलन जसोदा मैया।
अरबराय करि पानि गहावत, डगमगाय धरै पैयाँ।

(४) पाहुनि करि दै तनक मह्यौ।
आरि करै मनमोहन मेरो, अंचल आनि गह्यो।
व्याकुल मथत मथनियाँ रीती, दधि भ्वैं ढरकि रह्यो॥

हार-जीत के खेल में बालकों के 'क्षोभ' के कैसे स्वाभाविक वचन सूर ने रखे हैं—

खेलत में को काको गोसैयाँ।
हरि हारे, जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैयाँ॥
जाति पाँति हमतें कछु नाहि, न बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातें अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ॥

अब यहाँ पर थोड़ा इसका भी निर्णय हो जाना चाहिए कि इन बाल-चेष्टाओं का काव्य-विधान में क्या स्थान होगा। वात्सल्य रस के अनुसार बालक कृष्ण आलम्बन होंगे और नंद या यशोदा आश्रय। अतः ये चेष्टाएँ अनुभाव के अन्तर्गत आती हैं; पर आलंबनगत चेष्टाएँ उद्दीपन के ही भीतर आ सकती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि ऐसी चेष्टाओं का स्थान भाव-विधान के ही भीतर है। उन्हें अलंकार-विधान के भीतर घसीटकर 'स्वभावोक्ति' अलंकार कहना मेरी समझ में ठीक नहीं।

बाल-लीला के आगे फिर उस गो-चारण का मनोरम दृश्य सामने आता है, जो मनुष्य जाति की अत्यन्त प्राचीन वृत्ति होने के कारण अनेक देशों में काव्य का प्रिय विषय रहा है। यवन देश (यूनान) के 'पशु-चारण काव्य' (Pastoral Poetry) का मधुर संस्कार युरोप की कविता पर अब तक कुछ न कुछ चला ही जाता है। कवियों को आकर्षित करनेवाली गोप-जीवन की सब से बड़ी विशेषता है—प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र में विचरने के लिये सब से अधिक अवकाश। कृषि, वाणिज्य आदि और व्यवसाय जो आगे चलकर निकले, वे अधिक जटिल हुए—उनमें उतनी स्वच्छन्दता न रही। कविश्रेष्ठ कालिदास ने अपने रघुवंश काव्य के आरम्भ में दिलीप को नंदिनी के साथ वन वन फिराकर इसी मधुर जीवन का आभास दिखाया है। सूरदास जी ने जमुना के कछारों के बीच गो-चारण के बड़े सुन्दर सुन्दर दृश्यों का विधान किया है। यथा—

मैया री ! मोहि दाऊ टेरत ।

मोकों वनफल तोरि देत हैं, आपुन गैयन घेरत ।

यमुना-तट पर किसी बड़े पेड़ की शीतल छाया में बैठकर कभी सब सखा कलेऊ बाँटकर खाते हैं, कभी इधर उधर दौड़ते हैं । कभी कोई चिल्लाता है—

द्रुम चढ़ि काहे न टेरत, कान्हा, गैयाँ दूरि गईं ।

धाई जाति सबन के आगे जे वृषभान दईं ॥

"जे वृषभान दईं" कहकर सूर ने पशु-प्रकृति का अच्छा परिचय दिया है । नए खूँटे पर आई हुई गाएँ बहुत दिनों तक चंचल रहती हैं और भागने का उद्योग करती हैं । इसी से वृषभानु की दी हुई गाएँ चरते समय भी भाग खड़ी होती हैं; और कुछ दूसरी गाएँ भी स्वभावानुसार उनके पीछे दौड़ पड़ती हैं ।

वृंदावन के उसी सुखमय जीवन के हास-परिहास के बीच गोपियों के प्रेम का उदय होता है । गोपियाँ कृष्ण के दिन दिन खिलते हुए सौन्दर्य और मनोहर चेष्टाओं को देख मुग्ध होती चली जाती हैं; और कृष्ण कौमार अवस्था की स्वाभाविक चपलता-वश उनसे छेड़छाड़ करना आरम्भ करते हैं । हास-परिहास और छेड़छाड़ के साथ प्रेम व्यापार का अत्यन्त स्वाभाविक आरम्भ सूर ने दिखाया है । किसी की रूप-चर्चा सुन, या अकस्मात् किसी की एक झलक पाकर हाय हाय करते हुए इस प्रेम का आरम्भ नहीं हुआ है । नित्य अपने बीच चलते फिरते, हँसते बोलते, वन में गाय चराते देखते देखते गोपियाँ कृष्ण में अनुरक्त होती हैं और कृष्ण गोपियों में । इस प्रेम को हम जीवनोत्सव के रूप में पाते हैं; सहसा उठ खड़े हुए तूफान या मानसिक विप्लव के रूप में नहीं, जिसमें अनेक प्रकार के प्रतिबन्धों और विघ्न-बाधाओं को पार करने की लंबी चौड़ी कथा खड़ी होती है । सूर के कृष्ण और गोपियाँ पक्षियों के समान स्वच्छंद हैं । वे लोक-बन्धनों से

जकड़े हुए नहीं दिखाए गए हैं। जिस प्रकार स्वच्छंद समाज का स्वप्न अँगरेज़ कवि शेली देखा करते थे, उसी प्रकार का यह समाज सूर ने चित्रित किया है।

सूर के प्रेम की उत्पत्ति में रूप-लिप्सा और साहचर्य्य दोनों का योग है। बालक्रीड़ा के सखा-सखी आगे चलकर यौवन क्रीड़ा के सखा सखी हो जाते हैं। गोपियों ने उद्धव से साफ़ कहा है—"लरिकाई को प्रेम कहौ, अलि, कैसे छूटै ?"। केवल एक साथ रहते रहते भी दो प्राणियों में स्वभावतः प्रेम हो जाता है। कृष्ण एक तो बाल्यावस्था से ही गोपियों के बीच रहे, दूसरे सुन्दरता में भी अद्वितीय थे। अतः गोपियों के प्रेम का क्रमशः विकास दो प्राकृतिक शक्तियों के प्रभाव से होने के कारण बहुत ही स्वाभाविक प्रतीत होता है। बालक्रीड़ा इस प्रकार क्रमशः यौवन क्रीड़ा के रूप में परिणत होती गई है कि सन्धि का पता ही नहीं चलता। रूप का आकर्षण बाल्यावस्था से ही आरम्भ हो जाता है। राधा और कृष्ण के विशेष प्रेम की उत्पत्ति सूर ने रूप के आकर्षण द्वारा ही कही है।

(क) खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी।
गए श्याम रवि-तनया के तट, अंग लसति चंदन की खोरी॥
औचक ही देखी तहँ राधा, नैन बिसाल भाल दिए रोरी।
सूरश्याम देखत ही रीझे, नैन नैन मिलि परी ठगोरी॥

(ख) बूझत श्याम, कौन तू, गोरी !
कहाँ रहति, काकी तू बेटी ? देखी नाहिं कहूँ ब्रज-खोरी॥
"काहे को हम ब्रज तन आवति ? खेलति रहति आपनी पौरी।
सुनति रहति श्रवनन नँद ढोटा करत रहत माखन दधिचोरी"॥
सुन्दरी कहा चोरि हम लैहैं ? खेलन चलौ संग मिलि जोरी"।
सूरदास प्रभु रसिक-सिरोमनि बातन भुरइ राधिका भोरी॥

इस खेल ही खेल में इतनी बड़ी बात पैदा हो गई है, जिसे प्रेम कहते हैं। प्रेम का आरम्भ उभय पक्ष में सम है। आगे चलकर कृष्ण के मथुरा चले जाने पर उसमें कुछ विषमता दिखाई पड़ती है। कृष्ण यद्यपि गोपियों को भूले नहीं हैं, उद्धव के मुख से उनका वृत्तान्त सुनकर वे आँखों में आँसू भर लाते हैं, पर गोपियों ने जैसा वेदनापूर्ण उपालम्भ दिया है, उससे अनुराग की कमी ही व्यंजित होती है।

पहले कहा जा चुका है कि शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में सूर की समता को और कोई कवि नहीं पहुँचा है। शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का इतना प्रचुर विस्तार और किसी कवि में नहीं मिलता। वृंदावन में कृष्ण और गोपियों का सम्पूर्ण जीवन क्रीड़ामय है और वह सम्पूर्ण क्रीड़ा संयोग-पक्ष है। उसके अन्तर्गत विभावों की परिपूर्णता, कृष्ण और राधा के अंग प्रत्यंग की शोभा के अत्यन्त प्रचुर और चमत्कारपूर्ण वर्णन में तथा वृंदावन के करील-कुंजों, लोनी लताओं, हरे भरे कछारों, खिली हुई चाँदनी, कोकिल-कूजन आदि में देखी जाती है। अनुभावों और संचारियों का इतना बाहुल्य और कहाँ मिलेगा? सारांश यह कि संयोग-सुख के जितने प्रकार के क्रीड़ा-विधान हो सकते हैं, वे सब सूर ने लाकर इकठ्ठे कर दिए हैं। यहाँ तक कि कुछ ऐसी बातें भी आ गई हैं—जैसे, कृष्ण के कंधे पर चढ़कर फिरने का राधा का आग्रह—जो कम रसिक लोगों को अरुचिकर स्त्रैणता प्रतीत होंगी।

सूर का संयोग-वर्णन एक क्षणिक घटना नहीं है, प्रेम-संगीतमय जीवन की एक गहरी चलती धारा है, जिसमें अवगाहन करनेवाले को दिव्य माधुर्य्य के अतिरिक्त और कहीं कुछ नहीं दिखाई पड़ता। राधा कृष्ण के रंग-रहस्य के इतने प्रकार के चित्र सामने आते हैं कि सूर का हृदय प्रेम की नाना उमंगों का अक्षय्य भांडार प्रतीत होता है। प्रेमोदय काल की विनोद-वृत्ति और हृदय-प्रेरित हावों की छटा चारो ओर छलकी

आलंबन की रूप-प्रतिष्ठा के लिये कृष्ण के अंग प्रत्यंग का सूर ने जो सैकड़ों पदों में वर्णन किया है, वह तो किया ही है, आश्रय-पक्ष में नेत्र-व्यापार और उसके अद्भुत प्रभाव पर एक दूसरी ही पद्धति पर बड़ी ही रम्य उक्तियाँ और बहुत अधिक हैं। रूप को हृदय तक पहुँचानेवाले नेत्र ही हैं। इससे हृदय की सारी आकुलता, अभिलाष और उत्कंठा का दोष इन्हीं रूप-वाहकों के सिर मढ़कर सूर ने इनके प्रभाव-प्रदर्शन के लिये बड़े अनूठे ढंग निकाले हैं। कहीं इनकी न बुझनेवाली प्यास की परेशानी दिखाई है; कहीं इनकी चपलता और निरकुंशता पर इन्हें कोसा है। पीछे बिहारी, रामसहाय, गुलाम नबी और रसनिधि ने भी इस पद्धति का बहुत कुछ अनुकरण किया, पर यहाँ तो भांडार भरा हुआ है। इस प्रकार के नेत्र-व्यापार वर्णन आश्रय-पक्ष और आलंबन पक्ष दोनों में होते हैं। सूर ने आश्रय-पक्ष में ही इस प्रकार के वर्णन किए हैं; जैसे—

मेरे नैना बिरह की बेलि बई।
सींचत नीर नैन के सजनी मल पताल गई॥
बिगसति लता सुभाय आपने, छाया सघन भई।
अब कैसे निरुवारौं, सजनी! सब तन पसरि छई॥

आलंबन-पक्ष में सूर के नेत्र-वर्णन उपमा-उत्प्रेक्षा आदि से भरी रूप-चित्रण की शैली पर ही हैं; जैसे—

देखि, री! हरि के चंचल नैन।
खंजन मीन मृगज चपलाई नहिं पटतर एक सैन।
राजिवदल, इंदीवर, शतदल कमल कुशेशय जाति।
निसि मुद्रित, प्रातहि वै बिगसत, ये बिगसत दिन राति॥
अरुन असित सित झलक पलक प्रति को बरनै उपमाय।
मनौ सरस्वति गंग जमुन मिलि आगम कीन्हो आय॥

आलंबन में स्थित नेत्र क्या क्या करते हैं, इसका वर्णन सूर ने

बहुत ही कम किया है। पिछले कुछ कवियों ने इस पक्ष में भी चमत्कार-पूर्ण उक्तियाँ कही हैं। जैसे, सूर ने तो "अरुन, असित सित झलक" पर गंगा, यमुना और सरस्वती की उत्प्रेक्षा की है, पर गुलाम नबी (रसलीन) ने उसी झलक की यह करतूत दिखाई है—

अमिय हलाहल मद भरे स्वेत, स्याम, रतनार।
जियत, मरत, झुकि झुकि परत जेहि चितवत इक बार॥

मुरली पर कही हुई उक्तियाँ भी ध्यान देने योग्य हैं; क्योंकि उनमें प्रेम की सजीवता टपकती है। यह वह सजीवता है, जो भरे हुए हृदय से छलककर निर्जीव वस्तुओं पर भी अपना रंग चढ़ाती है। गोपियों की छेड़छाड़ कृष्ण ही तक नहीं रहती, उनकी मुरली तक भी—जो जड़ और निर्जीव है—पहुँचती है। उन्हें वह मुरली कृष्ण के सम्बन्ध से कभी इठलाती, कभी चिढ़ाती और कभी प्रेमगर्व दिखाती जान पड़ती है। उसी सम्बन्ध-भावना से वे उसे कभी फटकारती हैं, कभी उसका भाग्य सराहती हैं, और कभी उससे ईर्ष्या प्रकट करती हैं—

(क) माई री! मुरली अति गर्व काहू बदति नहिं आज।
हरि के मुख-कमल देखु पायो सुखराज॥

(ख) मुरली तऊ गोपालहि भावति।

के सम्बन्ध में कहे हुए गोपियों के वचन से दो मानसिक तथ्य उपलब्ध होते हैं—आलंबन के साथ किसी वस्तु की सम्बन्ध-भावना का प्रभाव तथा अत्यंत अधिक या फालतू उमंग के स्वरूप। मुरली-सम्बन्धिनी उक्तियों में प्रधानता पहली बात की है, यद्यपि दूसरे तत्व का भी मिश्रण है। फालतू उमंग के बहुत अच्छे उदाहरण उस समय देखने में आते हैं, जब कोई स्त्री अपने प्रिय को कुछ दूर पर देख कभी ठोकर खाने पर कंकड़ पत्थर को दो चार मीठी गालियाँ सुनाती हैं, कभी रास्ते में पड़ती हुई पेड़ की टहनी पर भ्रूभंग सहित झुँझलाती है, और कभी अपने किसी साथी को यों ही ढकेल देती है।

यह सूचित करने की आवश्यकता तो कदाचित् न हो कि रूप पर मोहित होना, दर्शन के लिये आकुल रहना, वियोग में तड़पना आदि गोपियों के पक्ष में जितना कहा गया है, उतना कृष्ण-पक्ष में नहीं। यह यहाँ के शृंगारी कवियों की—विशेषतः फुटकर पद्य रचनेवालों की—सामान्य प्रवृत्ति ही रही है। तुल्यानुराग होने पर भी स्त्रियों की प्रेम-दशा या काम-दशा का वर्णन करने में ही यहाँ के कवियों का मन अधिक लगा है। पुराने प्रबन्ध-काव्यों में तो यह भेद उतना लक्षित नहीं होता, पर पीछे के काव्यों में यह स्पष्ट झलकता है। वाल्मीकिजी ने रामायण में सीता-हरण के उपरान्त राम और सीता दोनों के वियोग-दुःख-वर्णन में प्रायः समान ही शब्द-व्यय किया है। कालिदास ने मेघदूत का आरम्भ यक्ष की विरहावस्था से करके उत्तर-मेघ में यक्षिणी के विरह का वर्णन किया है। उनके नाटकों में भी प्रायः यही बात पाई जाती है। अतः मेरी समझ में शृंगार में नायिका की प्रेम-दशा या विरह-दशा का प्राधान्य श्रीमद्भागवत और ब्रह्मवैवर्त्तपुराण की कृष्णलीला के अधिकाधिक प्रचार के साथ हुआ, जिसमें एक ओर तो अनन्त सौन्दर्य्य की स्थापना की गई और दूसरी ओर स्वाभाविक प्रेम का उदय दिखाया गया।

पुरुष आलंबन हुआ और स्त्री आश्रय। जनता के बीच प्रेम के इस स्वरूप ने यहाँ तक प्रचार पाया कि क्या नगरों में, क्या ग्रामों में, सर्वत्र प्रेम के गीतों के नायक कृष्ण हुए और नायिका राधा। 'बनवारी' या 'कन्हैया' नायक का एक सामान्य नाम सा हो गया। दिल्ली के पिछले बादशाह मुहम्मद शाह रँगीले तक को होली के दिनों में 'कन्हैया' बनने का शौक़ हुआ करता था!

और देशों की फुटकर शृंगारी कविताओं में प्रेमियों के ही विरह आदि के वर्णन की प्रधानता देखी जाती है। जैसे एशिया के अरब, फ़ारस आदि देशों में, वैसे ही युरोप के इटली आदि काव्य संगीत-प्रिय देशों में भी यही पद्धति प्रचलित रही। इटली में पीट्रार्क की शृंगारी कविता एक प्रेमिक के हृदय का उद्गार है। भारत में कृष्ण-कथा के प्रभाव से नायक के आकर्षक रूप में प्रतिष्ठित होने से पुरुषों की प्राधान्य-वासना की अधिक तृप्ति हुई। आगे चलकर पुरुषत्व पर इसका कुछ बुरा प्रभाव भी पड़ा। बहुतेरे शौर्य्य, पराक्रम आदि पुरुषोचित गुणों से मुँह मोड़ 'चटक मटक लटक' लाने में लगे—बहुत जगह तो माँग पट्टी, सुरमे, मिस्सी तक की नौबत पहुँची! युरोप में, जहाँ स्त्री प्रधान आकर्षक के रूप में प्रतिष्ठित हुई, इसका उलटा हुआ। वहाँ स्त्रियों के बनाव सिंगार और पहनावे के ख़र्च के मारे पुरुषों के नाकों दम हो गया।

सूर के संयोग-वर्णन की बात हो चुकी। इनका विप्रलंभ भी ऐसा ही विस्तृत और व्यापक है। वियोग की जितनी अन्तर्दशाएँ हो सकती हैं, जितने ढंगों से उन दशाओं का साहित्य में वर्णन हुआ है और सामान्यतः हो सकता है, वे सब उसके भीतर मौजूद हैं। आरंभ वात्सल्य रस के वियोग-पक्ष से हुआ है। कृष्ण के मथुरा से न लौटने पर नंद और यशोदा दुःख के सागर में मग्न हो गए हैं। अनेक दुःखात्मक भाव-तरंगें उनके हृदय में उठती हैं। कभी यशोदा नंद से खीझकर कहती हैं—

छाँड़ि सनेह चले मथुरा, कत दौरि न चीर गह्यो।
फाटि न गई वज्र की छाती, कत यह सूल सह्यो॥

इस पर नंद यशोदा पर उलट पड़ते हैं—

तब तू मारिबोई करति।
रिसनि आगे कहै जो आवत, अब लै भाँड़े भरति॥
रोस कै कर दाँवरी लै फिरति घर घर धरति।
कठिन हिय करि तब जो बाँध्यो, अब वृथा करि मरति॥

यह 'झुँझलाहट' वियोग-जन्य है, प्रेम भाव के ही अन्तर्गत है और कितनी स्वाभाविक है! सुख-शान्ति के भंग का कैसा यथातथ्य चित्र है!

आगे देखिए, गहरी 'उत्सुकता' और 'अधीरता' के बीच 'विरक्ति' (निर्वेद) और तिरस्कार-मिश्रित 'खिझलाहट' का यह मेल कैसा अनूठा उतरा है। यशोदा नंद से कहती हैं—

नन्द! ब्रज लीजै ठोंकि बजाय।
देहु बिदा मिलि जाहिं मधुपुरी जहँ गोकुल के राय।

'ठोंकि बजाय' में कितनी व्यंजना है! 'तुम अपना ब्रज अच्छी तरह सँभालो, तुम्हें इसका गहरा लोभ है; मैं तो जाती हूँ।' एक एक वाक्य के साथ हृदय लिपटा हुआ आता दिखाई दे रहा है। एक वाक्य दो दो तीन तीन भावों से लदा हुआ है। श्लेष आदि कृत्रिम विधानों से मुक्त ऐसा ही भाव-गुरुत्व हृदय को सीधे जाकर स्पर्श करता है। इसे भाव-शबलता कहें या भाव-पंचामृत; क्योंकि एक ही वाक्य "नन्द! ब्रज लीजै ठोंकि बजाय" में कुछ निर्वेद, कुछ तिरस्कार और कुछ अमर्ष इन तीनों की मिश्र व्यंजना—जिसे शबलता ही कहने से सन्तोष नहीं होता—पाई जाती है। शबलता के प्रदत्त उदाहरणों में प्रत्येक भाव अलग शब्दों या वाक्यों द्वारा निर्दिष्ट किया जा सकता है; पर उक्त वाक्य में यह बात नहीं है।

सबै बात बदली" । ब्रज में पहले सायंकाल में जो मनोहर दृश्य देखने में आया करता था, वह अब बाहर नहीं दिखाई पड़ता; पर मन से उसकी 'स्मृति' नहीं जाती—

> यहि बेरियाँ बन तें ब्रज आवते ।
> दूरहिं तें वह बेनु अधर धरि बारंबार बजावते ॥

संयोग के दिनों में आनंद की तरंगें उठानेवाले प्राकृतिक पदार्थों को वियोग के दिनों में देखकर जो दुःख होता है, उसकी व्यंजना के लिये कवियों में उपालंभ की चाल बहुत दिनों से चली आती है। चन्द्रोपालम्भ-सम्बन्धिनी बड़ी सुन्दर कविताएँ संस्कृत साहित्य में हैं। पर देखिए, सागर-मथन के समय चंद्रमा को निकालनेवालों तक, इस उपालम्भ में, किस प्रकार गोपियाँ अपनी दृष्टि दौड़ाती हैं—

> या बिनु होत कहा अब सूनो ?
> लै किन प्रगट कियो प्राची दिसि, बिरहिनि को दुख दूनो ।
> सब निरदय सुर, असुर, शैल सखि ! सायर सर्प समेत ॥
> धन्य कहौं वर्षा ऋतु, तमचुर औ कमलन को हेत ।
> जुग जुग जीवै जरा बापुरी मिले राहु अरु केत

इसी पद्धति के अनुसार वे वियोगिनी गोपियाँ अपने उजड़े हुए नीरस जीवन के मेल में न होने के कारण वृंदावन के हरे भरे पेड़ों को कोसती हैं—

> मधुबन ! तुम कत रहत हरे ?
> बिरह-वियोग श्यामसुंदर के ठाढ़े क्यों न जरे ?
> तुम हौ निलज, लाज नहिं तुमको फिर सिर पुहुप धरे ।
> ससा स्यार औ बन के पखेरू धिक धिक सबन करे ।
> कौन काज ठाढ़े रहे बन में, काहे न उकठि परे ?

इसी प्रकार रात उन्हें साँपिन सी लग रही है। साँपिन की पीठ

अपनी अन्तर्दशा को ऋतु-सुलभ व्यापारों के बीच बिंब-प्रतिबिंब रूप में देखना भाव-मग्न अन्तःकरण की एक विशेषता है। इसके वर्णन में प्रस्तुत अप्रस्तुत का भेद मिट सा जाता है। ऐसे वर्णन पावस के प्रसंग में सूर ने बहुत अच्छे किए हैं। "निसि दिन बरसत नैन हमारे" बहुत प्रसिद्ध पद है। विरहोन्माद में भिन्न भिन्न प्रकार की उठती हुई भावनाओं से रंजित होकर एक ही वस्तु कभी किसी रूप में दिखाई पड़ती है, कभी किसी रूप में। उठते हुए बादल कभी तो ऐसे भीषण रूप में दिखाई पड़ते हैं—

देखियत चहुँ दिसि तें घन घोरे।
मानो मत्त मदन के हथियन बल करि बंधन तोरे॥
कारे तन अति चुवत गंड मद, बरसत थोरे थोरे॥
रुकत न पवन-महावत हू पै, मुरत न अंकुस मोरे॥

कभी अपने प्रकृत लोक-सुखदायक रूप में ही सामने आते हैं और कृष्ण की अपेक्षा कहीं दयालु और परोपकारी लगते हैं—

बरु ये बदराऊ बरसन आए।
अपनी अवधि जानि, नँदनंदन! गरजि गगन घन छाए॥
कहियत है सुरलोक बसत, सखि! सेवक सदा पराए।
चातक कुल की पीर जानि कै, तेउ तहाँ तें धाए॥
तृण किए हरित, हरपि बेली मिलि, दादुर मृतक जिवाए।

'बरु' और 'बदराऊ' के 'ऊ' में कैसी व्यंजना है! 'बादल तक'—जो जड़ समझे जाते हैं—आश्रितों के दुःख से द्रवीभूत होकर आते हैं!

प्रिय के साथ कुछ रूप-साम्य के कारण वे ही मेघ कभी प्रिय लगने लगते हैं—

आजु घन श्याम की अनुहारि।
उनै आए साँवरे ते सजनी! देखि, रूप की आरि॥

भाव की उमंग में उस भाव को सँभालनेवाले या बढ़ानेवाले होकर आ खड़े हुए हैं या यों ही तमाशा दिखाने के लिये—कुतूहल उत्पन्न करने के लिये—जबरदस्ती पकड़कर लाए गए हैं। यदि ऐसे रूपों की तह में उनके प्रवर्त्तक या प्रेरक भाव का पता लग जाय तो समझिए कि कवि के हृदय का पता लग गया और वे रूप हृदय-प्रेरित हुए। अँगरेज कवि कालरिज ने, जिसने कवि-कल्पना पर अच्छा विवेचन किया है, अपनी एक कविता * में ऐसे रूपावरण को आनन्द-स्वरूप आत्मा से निकला हुआ कहा है, जिसके प्रभाव से जीवन में रोचकता रहती है। जब तक यह रूपावरण (कल्पना का) जीवन में साथ लगा चलता है, तब तक दुःख की परिस्थिति में भी आनन्द-स्वप्न नहीं टूटता। पर धीरे धीरे यह दिव्य आवरण हट जाता है और मन गिरने लगता है। भावोद्रेक और कल्पना में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एक काव्य-मीमांसक ने दोनों को एक ही कहना ठीक समझकर कह दिया है— "कल्पना आनन्द है।" (Tmaginaion is joy) †

सच्चे कवियों की कल्पना की बात जाने दीजिए, साधारण व्यवहार में भी लोग जोश में आकर कल्पना का जो व्यवहार बराबर किया करते हैं, वह भी किसी पहाड़ को 'शिशु' और 'पांडव' कहनेवाले कवियों के व्यवहार से कहीं उचित होता है। किसी निष्ठुर कर्म करनेवाले को यदि कोई 'हत्यारा' कह देता है, तो वह सच्ची कल्पना का उपयोग करता है; क्योंकि विरक्ति या घृणा के अतिरेक से प्रेरित होकर ही उसकी अन्तर्वृत्ति हत्यारे का रूप सामने करती है, जिससे भाव की मात्रा के अनुरूप आलम्बन खड़ा हो जाता है। 'हत्यारा' शब्द का लाक्षणिक प्रयोग ही विरक्ति की अधिकता का व्यंजक है। उसके स्थान पर यदि कोई उसे 'बकरा' कहे, तो या तो किसी भाव की व्यंजना

---

* Dejection Ode, 4th April 1802.

† G. W. Mackael's Lectures on Poetry.

न होगी या किसी ऐसे भाव की होगी, जो प्रस्तुत विषय के मेल में नहीं। कहलानेवाला कोई भाव अवश्य चाहिए और उस भाव को प्रस्तुत वस्तु के अनुरूप होना चाहिए। भारी मूर्ख को लोग जो 'गदहा' कहते हैं, वह इसी लिये कि 'मूर्ख' कहने से उनका जी नहीं भरता—उनके हृदय में उपहास अथवा तिरस्कार का जो भाव रहता है, उसकी व्यंजना नहीं होती।

कहने की आवश्यकता नहीं कि अलंकार-विधान में उपयुक्त उपमान लाने में कल्पना ही काम करती है। जहाँ वस्तु, गुण या क्रिया के पृथक् पृथक् साम्य पर ही कवि की दृष्टि रहती है, वहाँ वह उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि का सहारा लेता है; और जहाँ व्यापार-समष्टि या पूर्ण प्रसंग का साम्य अपेक्षित होता है, वहाँ दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास और अन्योक्ति का। उपर्युक्त विवेचन से यह प्रकट है कि प्रस्तुत के मेल में जो अप्रस्तुत रखा जाय—चाहे वह वस्तु, गुण या क्रिया हो अथवा व्यापार-समष्टि—वह प्राकृतिक और चित्ताकर्षक हो तथा उसी प्रकार का भाव जगानेवाला हो, जिस प्रकार का प्रस्तुत। व्यापार-समष्टि के समन्वय में कवि की सहृदयता का जिस पूर्णता के साथ हमें दर्शन होता है, उस पूर्णता के साथ वस्तु, क्रिया आदि के पृथक् पृथक् समन्वय में नहीं। इसी से सुन्दर अन्योक्तियाँ इतनी मर्मस्पर्शिणी होती हैं। चुना हुआ अप्रस्तुत व्यापार जितना ही प्राकृतिक होगा—जितना ही अधिक मनुष्य जाति के आदिम जीवन में सुलभ दृश्यों के अन्तर्गत होगा—उतना ही रमणीय और अनुरंजनकारी होगा। सूरदास जी ने कई स्थलों पर अपनी कल्पना के बल से प्रस्तुत प्रसंग के मेल में अत्यन्त मनोरम व्यापार-समष्टि की योजना की है। कोई गोपिका या राधा स्वप्न में श्रीकृष्ण के दर्शनों का सुख प्राप्त कर रही थी कि उसकी नींद उचट गई। इस व्यापार के मेल में कैसा प्रकृति-व्यापी और गूढ़ व्यापार सूर ने रखा है, देखिए—

हमको सपनेहू में सोच।
जा दिन तें बिछुरे नँदनन्दन ता दिन तें यह पोच।
मनौ गोपाल आए मेरे घर, हँसि करि भुजा गही।
कहा करौं बैरिनि भइ निंदिया, निमिष न और रही।
ज्यौं चकई प्रतिबिंब देखि कै आनंदी पिय जानि।
सूर पवन मिलि निठुर विधाता चपल कियो जल आनि॥

स्वप्न में अपने ही मानस में किसी का रूप देखने और जल में अपना ही प्रतिबिंब देखने का कैसा गूढ़ और सुन्दर साम्य है। इसके उपरान्त पवन द्वारा प्रशान्त जल के हिल-जाने से छाया का मिट जाना कैसा भूतव्यापी व्यापार स्वप्नभंग के मेल में लाया गया है!

इसी प्रकार प्राकृतिक चित्रों द्वारा सूर ने कई जगह पूरे प्रसंग की व्यंजना की है। जैसे, गोपियाँ मथुरा से कुछ ही दूर पर पड़ी विरह से तड़फड़ा रही हैं; पर कृष्ण राज-सुख के आनंद में फूले नहीं समा रहे हैं। यह बात वे इस चित्र द्वारा कहते हैं—

सागर-कूल मीन तरफत है, हुलसि होत जल पीन।

जैसा ऊपर कहा गया है, जिसे निर्माण करनेवाली—सृष्टि खड़ी करनेवाली—कल्पना कहते हैं, उसकी पूर्णता किसी एक प्रस्तुत वस्तु के लिये कोई दूसरी अप्रस्तुत वस्तु—जो कि प्रायः कवि-परंपरा में प्रसिद्ध हुआ करती है—रख देने में उतनी नहीं दिखाई पड़ती, जितनी किसी एक पूर्ण प्रसंग के मेल का कोई दूसरा प्रसंग—जिसमें अनेक प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों की नवीन योजना रहती है—रखने में देखी जाती है। सूरदास जी ने कल्पना की इस पूर्णता का परिचय जगह जगह दिया है, इसका अनुमान ऊपर उद्धृत पदों से हो सकता है। कबीर, जायसी आदि कुछ रहस्यवादी कवियों ने इस जीवन का मार्मिक स्वरूप तथा परोक्ष जगत् की कुछ धुँधली सी झलक दिखाने के लिये इसी अन्योक्ति की पद्धति का अवलम्बन किया है; जैसे—

इसी अन्योक्ति-पद्धति को कवीन्द्र रवीन्द्र ने आज कल अपने विस्तृत प्रकृति-निरीक्षण के बल से और अधिक पल्लवित करके जो पूर्ण और भव्य स्वरूप प्रदान किया है, वह हमारे नवीन हिन्दी साहित्य क्षेत्र में 'गाँव में नया नया आया ऊँट' हो रहा है। बहुत से नवयुवकों को अपना एक नया ऊँट छोड़ने का हौसला हो गया है। जैसे भावों या तथ्यों की व्यंजना के लिये श्रीयुत रवीन्द्र प्रकृति के क्रीड़ास्थल से लेकर नाना मूर्त्त स्वरूप खड़ा करते हैं, वैसे भावों को ग्रहण करने तक की क्षमता न रखनेवाले बहुतेरे ऊटपटाँग चित्र खड़ा करने और कुछ असम्बद्ध प्रलाप करने को ही 'छायावाद' की कविता समझ अपनी भी कुछ करामात दिखाने के फेर में पड़ गए हैं। चित्रों के द्वारा बात कहना बहुत ठीक है, पर कहने के लिये कोई बात भी तो हो। कुछ तो काव्य-रीति से सर्वथा अनभिज्ञ, छंद अलंकार आदि के ज्ञान से बिल्कुल कोरे देखे जाते हैं। बड़ी भारी बुराई यह है कि अपने को एक 'नए सम्प्रदाय' में समझ अहंकारवश वे कुछ सीखने का कभी नाम भी नहीं लेना चाहते और अपनी अनभिज्ञता को एक चलते नाम की ओट में छिपाना चाहते हैं। मैंने कई एक से उन्हीं की रचना लेकर कुछ प्रश्न किए, पर उनका मानसिक विकास बहुत साधारण कोटि का—कोई गंभीर तत्व ग्रहण करने के अनुपयुक्त—पाया। ऐसों के द्वारा काव्य क्षेत्र में भी, राजनीतिक क्षेत्र के समान, पाषंड के प्रचार की आशंका है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि रहस्यवाद का प्रकृत स्वरूप और उसका इतिहास आदि साहित्य-सेवियों के सामने रखा जाय तथा पुराने और नए रहस्यवादी कवियों की रचनाओं की सूक्ष्म परीक्षा द्वारा रहस्य वाद की कविता के साहित्यिक स्वरूप की मीमांसा की जाय। इस विषय पर अपने विचार मैं किसी दूसरे समय प्रकट करूँगा; इस समय जो इतना कह गया, उसी के लिये क्षमा चाहता हूँ।

यहाँ तक तो सूर की सहृदयता की बात हुई। अब उनकी साहि-

त्यिक निपुणता के सम्बन्ध में भी दो चार बातें कहना आवश्यक है। किसी कवि की रचना के विचार के सुबीते के लिये हम दो पक्ष कर सकते हैं—हृदय-पक्ष और कला पक्ष। हृदय-पक्ष का कुछ दिग्दर्शन हो चुका। अब सूर की कला-निपुणता के, काव्य के बाह्यांग के, सम्बन्ध में यह समझ रखना चाहिए कि वह भी इनमें पूर्ण रूप से वर्तमान है। यद्यपि काव्य में हृदय-पक्ष ही प्रधान है, पर बहिरंग भी कम आवश्यक नहीं है। रीति, अलंकार, छंद ये सब बहिरंग विधान के अन्तर्गत हैं, जिनके द्वारा काव्यात्मा की अभिव्यक्ति होती है। सूर, तुलसी, बिहारी आदि कवियों में दोनों पक्ष प्रायः सम हैं। जायसी में हृदय-पक्ष की प्रधानता है, कला-पक्ष में (अलंकारों का बहुत कुछ व्यवहार होते हुए भी) त्रुटि और न्यूनता है। केशव में कला-पक्ष ही प्रधान है, हृदय-पक्ष न्यून है।

यह तो आरम्भ में ही कहा जा चुका है कि सूर की रचना जयदेव और विद्यापति के गीत-काव्यों की शैली पर है, जिसमें सुर और लय के सौन्दर्य्य या माधुर्य्य का भी रस-परिपाक में बहुत कुछ योग रहता है। सूरसागर में कोई राग या रागिनी छूटी न होगी, इससे वह संगीत-प्रेमियों के लिये भी बड़ा भारी खजाना है। नाद-सौन्दर्य्य के साधनों में अनुप्रास आदि शब्दालंकार भी हैं। संस्कृत के गीतगोविन्द में कोमल-कान्त-पदावली और अनुप्रास की ओर बहुत कुछ ध्यान है। विद्यापति की रचना में कोमल पदावली का आग्रह तो है, पर अनुप्रास का उतना नहीं। सूर में चलती भाषा की कोमलता है, वृत्ति-विधान और अनुप्रास की ओर झुकाव कम है। पर इससे भाषा की स्वाभाविकता में बाधा नहीं पड़ने पाई है। भावुक सूर ने अपना 'शब्द-शोधन' दूसरी ओर दिखाया है। उन्होंने चलते हुए वाक्यों, मुहावरों और कहीं कहीं कहावतों का बहुत अच्छा प्रयोग किया है। कहने का तात्पर्य्य यह कि सूर की भाषा बहुत चलती हुई और स्वाभाविक है। काव्य-भाषा होने से

यद्यपि उसमें कहीं कहीं संस्कृत के पद, कवि के समय से पूर्व के परंपरागत प्रयोग तथा व्रज से दूर दूर के प्रदेशों के शब्द भी आ मिले हैं, पर उनकी मात्रा इतनी नहीं है कि भाषा के स्वरूप में कुछ अन्तर पड़े या कृत्रिमता आवे। श्लेष और यमक कूट पदों में ही अधिकतर पाए जाते हैं।

अर्थालंकारों की मलयत पूर्ण प्रचुरता है, विशेषतः उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि सादृश्य-मूलक अलंकारों की। यद्यपि उपमान अधिकतर साहित्य-प्रसिद्ध और परम्परागत ही हैं, पर स्वकल्पित नए नए उपमानों की भी कमी नहीं है। कहीं कहीं तो जो प्रसिद्ध उपमान भी लिए गए हैं, वे प्रसंग के बीच बड़ी ही अनूठी उद्भावना के साथ बैठाए गए हैं। स्फटिक के आँगन में बालक कृष्ण घुटनों के बल चल रहे हैं और उनके हाथ पैर का प्रतिबिम्ब पड़ता चलता है। इस पर कवि की उत्प्रेक्षा देखिए—

फटिक-भूमि पर कर-पग-छाया यह शोभा अति राजति।
करि करि प्रति पद प्रति मनो बसुधा कमल बैठकी साजति॥

रूप या अंगों की शोभा के वर्णन में उपमा उत्प्रेक्षा की भरमार बराबर मिलेगी। इनमें बहुत सी तो पुरानी और बँधी हुई हैं और कुछ नवीन भी हैं। उपमा उत्प्रेक्षा की सब से अधिकता 'हरिजू की बाल छवि' के वर्णन में पाई जाती है; यों तो जहाँ जहाँ रूप वर्णन है, सर्वत्र ये अलंकार भरे पड़े हैं। उपमान सब तरह के हैं, पृथ्वी पर के भी और पृथ्वी के बाहर के भी—सामान्य प्राकृतिक व्यापार भी और पौराणिक प्रसंग भी। पिछले प्रकार के उपमानों के उदाहरण इस प्रकार के हैं—

(क) नील स्वेत पर पीत लाल मनि लटकन भाल रुराई।
सनि, गुरु, असुर, देवगुरु मिलि मनो भौम सहित समुदाई॥

(ख) हरि कर राजत माखन रोटी।
मनौ बराह भूधर सह पृथिवी धरी दसनन की कोटी॥

अंग-शोभा और वेश भूषा आदि के वर्णन में सूर को उपमा देने की झक सी चढ़ जाती है और वे उपमा पर उपमा, उत्प्रेक्षा पर उत्प्रेक्षा कहते चले जाते हैं। इस झक में कभी कभी परिमाण या मर्य्यादा का विचार (Sense of proportion) नहीं रह जाता, जैसे, ऊपर के उदाहरण (ख) में कहाँ मक्खन लगी हुई छोटी सी रोटी और कहाँ गोल पृथ्वी ! हाँ, जहाँ ईश्वरत्व या देवत्व की भावना से किसी छोटे व्यापार द्वारा अत्यन्त बृहद् व्यापार की ओर संकेत मात्र किया है, वहाँ ऐसी बात नहीं खटकती, जैसे इस पद में—

> मथत दधि मथनी टेकि रह्यो ।
> आरि करत मटकी गहि मोहन बासुकि संभु डरयो ॥
> मदर डरत, सिंधु पुनि काँपत फिरि जनि मथन करै ।
> प्रलय होय जनि गहे मथानी, प्रभु मर्य्याद टरै ॥

पर उक्त दोनों उदाहरणों के सम्बन्ध में तो इतना बिना कहे नहीं रहा जाता कि ऐसे उपमान बहुत काव्योपयोगी नहीं जँचते । काव्य में ऐसे ही उपमान अच्छी सहायता पहुँचाते हैं, जो सामान्यतः प्रत्यक्ष रूप में परिचित होते हैं और जिनकी भव्यता, विशालता या रमणीयता आदि का संस्कार जन-साधारण के हृदय पर पहले से जमा चला आता है । न शनि का कोयले सा कालापन ही किसी ने आँखों देखा है, न वराह भगवान का दाँत की नोक पर पृथ्वी उठाना । यह बात दूसरी है कि केशव ऐसे कुछ प्रसिद्ध कवियों ने भी "भानु मनो शनि अंक लिए" ऐसी उत्प्रेक्षा की ओर रुचि दिखाई है ।

हमारे कहने का यह तात्पर्य्य नहीं कि ज्ञान विज्ञान के प्रसार से जो सूक्ष्म से सूक्ष्म और बृहत् क्षेत्र मनुष्य के लिये खुलते जाते हैं, उनके भीतर के नाना रमणीय और अद्भुत रूपों और व्यापारों का—जो सर्वसाधारण को प्रत्यक्ष नहीं हैं—काव्य में उपयोग करके उसके क्षेत्र का विस्तार न किया जाय । उनका प्रयोग किया जाय, कवि की प्रतिभा

द्वारा वे गोचर रूप में सामने लाए जायँ, पर दूसरे प्रकार की रचनाओं में लाए जायँ, केवल अंग आभूषण आदि की उपमा के लिये नहीं। ज्योतिर्विज्ञान द्वारा खगोल के बीच न जाने कितने चक्कर खाते, बनते बिगड़ते, रंग बिरंग के पिंडों, अपार ज्योतिःसमूहों आदि का पता लगा है जिनके सामने पृथ्वी किसी गिनती में नहीं। कोई विश्व-व्यापिनी ज्ञान दृष्टिवाला कवि यदि विश्व की कोई गंभीर समस्या लेकर उसे काव्य रूप में रखना चाहता है, तो वह इन सब को हस्तामलक बनाकर सामने ला सकता है।

सूरदास जी में जितनी सहृदयता और भावुकता है, प्रायः उतनी ही चतुरता और वाग्विदग्धता (Wit) भी है। किसी बात को कहने के न जाने कितने टेढ़े सीधे ढंग उन्हें मालूम थे। गोपियों के वचन में कितनी विदग्धता और वक्रता भरी है! वचन-रचना की उस वक्रता के सम्बन्ध में आगे विचार किया जायगा। यहाँ पर हम वैदग्ध्य के उस उपयोग का उल्लेख करना चाहते हैं जो आलंकारिक कुतूहल उत्पन्न करने के लिये किया गया है। साहित्य-प्रसिद्ध उपमानों को लेकर सूर ने बड़ी बड़ी क्रीड़ाएँ की हैं। कहीं उनको लेकर रूपकातिशयोक्ति द्वारा "अद्भुत एक अनूपम बाग" लगाया है; कहीं, जब जैसा जी चाहा है, उन्हें संगत सिद्ध करके दिखा दिया है, कहीं असंगत। गोपियाँ वियोग में कुढ़कर एक स्थान पर कृष्ण के अंगों के उपमानों को लेकर उपमा को इस प्रकार न्याय-संगत ठहराती हैं—

ऊधो! अब यह समुझि भई।
नंदनँदन के अंग अंग प्रति उपमा न्याय दई॥
कुंतल कुटिल भँवर भरि भाँवरि मालति भुरै लई।
तजत न गहरु कियो कपटी जब जानी निरस गई॥
आनन इंदुबरन सम्मुख तजि करखे तें न नई।
निरमोही नहिं नेह, कुमुदिनी अंतहि हेम हई॥

तन घनश्याम सेइ निसिबासर, रटि रसना छिजई ।
सूर विवेक-हीन चातक-मुख बूँदौ तौ न सई ॥

इसी प्रकार दूसरे स्थान पर वे अपने नेत्रों के उपमानों को अनुपयुक्त ठहराती हैं—

उपमा एक न नैन गही ।
कविजन कहत कहत चलि आए, सुधि करि करि काहू न कही ॥
कहे चकोर, मुख-बिधु बिनु जीवन; भँवर न, तहँ उड़ि जात ।
हरिमुख-कमलकोस बिछुरे तें ठाले क्यों ठहरात ?
खंजन मनरंजन जन जौ पै, कबहुँ नाहिं सतरात ।
पंख पसारि न उड़त, मंद है समर समीप बिकात ॥
आए बधन ब्याध है ऊधो, जौ मृग क्यों न पलाय ।
देखत भागि बसै घन बन में जहँ कोउ संग न धाय ॥
ब्रजलोचन बिनु लोचन कैसे ? प्रति छिन अति दुख बाढ़त
सूरदास मीनता कछू इक, जल भरि संग न छाँड़त ॥

दोनों उदाहरणों में उपमानों की उपयुक्तता और अनुपयुक्तता का जो आरोप किया गया है, वह हृदय के क्षोभ से उत्पन्न है, इसी से उसमें सरसता है, काव्य की योग्यता है। यदि कोई कठ-हुज्जती इन्हीं उपमानों को लेकर कहने लगे—"वाह ! नेत्र भ्रमर कैसे हो सकते हैं ? भ्रमर होते तो उड़ न जाते । मृग कैसे हो सकते हैं ? मृग होते तो जमीन पर चौकड़ी न भरते ।" तो उसके कथन में कुछ भी काव्यत्व न होगा ।

उपमानों की आनंद-दशा का वर्णन करके इसी प्रकार सूर ने 'अप्रस्तुत प्रशंसा' द्वारा राधा के अंगों और चेष्टाओं का विरह से द्युतिहीन और मंद होना व्यंजित किया है—

तब तें इन सबहिन सचुपायो ।
जब तें हरि संदेस तिहारो सुनत तांवरो आयो ॥

फूले व्याल दुरेतें प्रगटे, पवन पेट भरि खायो ।
ऊँचे बैठि विहंग-सभा बिच कोकिल मंगल गायो ॥
निकसि कंदरा तें केहरिहू माथे पूँछ हिलायो ।
बनगृह तें गजराज निकसि कै अँग अँग गर्व जनायो ॥

चेष्टाओं और अंगों का मंद और श्रीहीन होना कारण है; और उपमानों का आनंदित होना कार्य्य है । यहाँ अप्रस्तुत कार्य्य के वर्णन द्वारा प्रस्तुत कारण की व्यंजना की गई है । गो० तुलसीदासजी ने जानकी के न रहने पर उपमानों का प्रसन्न होना राम के मुख से कहलाया है—

कुंदकली, दाड़िम, दामिनी । कमल, सरदससि, अहि-भामिनी ॥
श्रीफल कनक कदलि हरपाहीं । नेकु न सक सकुच मन माहीं ।
सुनु जानकी ! तोहि बिनु आजू । हरपे सकल पाइ जनु राजू ॥

पर यहाँ उपमानों के आनन्द से केवल सीता के न रहने की व्यंजना होती है ।। सूर की 'अप्रस्तुत प्रशंसा' में उक्ति का चमत्कार भी कुछ विशेष है और रसात्मकता भी ।

दूर की सूझ या ऊहावाले चमत्कार-प्रधान पद्य भी सूर ने बहुत से कहे हैं; जैसे—

(क) दूर करहु बीना कर धरिबो ।
मोहे मृग नाहीं रथ हाँक्यो, नाहिंन होत चंद को ढरिबो ॥
(ख) मन राखन को बेनु लियो कर, मृग थाके उडुपति न चरै ॥
अति आतुर है सिंह लिख्यो कर जेहि भामिनी को करुन टरै ॥

राधा मन बहलाने के लिये, किसी प्रकार रात बिताने के लिये, बीणा लेकर बैठीं । उस वीणा या वेणु के स्वर से मोहित होकर चंद्रमा के रथ का हिरन अड़ गया और चंद्रमा के रुक जाने से रात और भी बढ़ गई । इस पर घबराकर वे सिंह का चित्र बनाने लगीं जिससे मृग डरकर भाग जाय। जायसी की 'पदमावत' में भी यह उक्ति ज्यों की त्यों आई है—

नहिं दामिनि द्रुम-दवा शैल चढ़ी, फिरि बयारि उलटी भर लावति।
नाहिंन मोर बकत पिक दादुर, ग्वाल-मंडली खगन खेलावति ॥

सूर को वचन-रचना की चतुराई और शब्दों की क्रीड़ा का भी पूरा शौक़ था। बीच बीच में आए हुए कूट पद इस बात के प्रमाण हैं, जिनमें या तो अनेकार्थवाची शब्दों को लेकर या किसी एक वस्तु को सूचित करने के लिये अनेक शब्दों की लंबी लड़ी जोड़कर खेल-वाड़ किया गया है। सूर की प्रकृति कुछ क्रीड़ाशील थी। उन्हें कुछ खेल तमाशे का भी शौक़ था। लीला-पुरुषोत्तम के उपासक कवि में यह विशेषता होनी ही चाहिए। तुलसी के गंभीर मानस में इस प्रवृत्ति का आभास नहीं मिलता। अपनी इसी शब्द-कौशल की प्रवृत्ति के कारण सूर ने व्यवहार के कुछ पारिभाषिक शब्दों को लेकर भी एक आध जगह उक्तियाँ बाँधी हैं; जैसे—

साँचो सो लिखवार कहावै।
काया-ग्राम मसाहत करि कै, जमा बाँधि ठहरावे।
मन्मथ करै कैद अपनी में, जान जहतिया लावै ॥

काव्य में इस प्रकार की उक्तियाँ ठीक नहीं होतीं। आचार्यों ने 'अप्रतीत्व' दोष के अंतर्गत इस बात का संकेत किया है। सूर भी एक ही आध जगह ऐसी उक्तियाँ लाए हैं; पर वे 'प्रेम फौजदारी' ऐसी पुस्तकों के लिये नमूने का काम दे गई हैं।

यहाँ तक तो सूरदास जी की कुछ विशेषताओं का अनुसन्धान हुआ। अब उनकी सम्पूर्ण रचना के सम्बन्ध में कुछ सामान्य मत स्थिर करना चाहिए। पहले तो यह समझ रखना चाहिए कि सूरसागर वास्तव में एक महासागर है, जिसमें हर एक प्रकार का जल आकर मिला है। जिस प्रकार उसमें मधुर अमृत है, उसी प्रकार कुछ खारी, फीका और साधारण जल भी। खारी, फीके और साधारण जल से अमृत को अलग करने में विवेचकों को प्रवृत्त रहना चाहिए। सूर-

सागर में बहुत से पद बिल्कुल साधारण श्रेणी के मिलेंगे। एक ही पद में भी कुछ चरण तो अनूठे और अद्वितीय मिलेंगे और कुछ साधारण, और कभी कभी तो भरती के। कई जगह वाक्य-रचना अव्यवस्थित मिलेगी और छंद या तुकान्त में खपाने के लिये शब्द भी कुछ विकृत किए हुए, तोड़े मरोड़े हुए, पाए जायँगे, जैसे 'रहत' के लिये 'राहत,' 'जितेक' के लिये 'जितेव,' 'पानी' के लिए 'पान्यों' इत्यादि। व्याकरण के लिंग आदि का विपर्य्यय या अनियम भी कहीं कहीं मिल जाता है। जैसे, 'सूल' शब्द कहीं पुल्लिंग आया है, कहीं स्त्री लिंग। सारांश यह कि यदि हम भाषा पर सामान्यतः विचार करते हैं, तो वह सर्वत्र तुलसी की सी गठी हुई, सुव्यवस्थित और अपरिवर्त्तनीय न मिलेगी। कहीं कहीं किसी वाक्य क्या किसी चरण तक को हम बदल दें, तो कोई हानि न होगी। किसी किसी पद में कुछ वाक्य कुछ विशेष अर्थ-शक्ति नहीं रखते, चरण की पूर्ति करने का ही काम देते जान पड़ते हैं। बात यह है कि नित्य कुछ न कुछ पद बनाना उनका नियम था। उन्होंने बहुत अधिक पद कहे हैं। फुटकर पद कहते चले गए हैं; इससे एक ही भाववाले बहुत से पद भी आ गए हैं; और कहीं कहीं भाषा भी शिथिल हो गई है। अंधे होने के कारण लिखे पदों को सामने रखकर काटने छाँटने या हरताल लगाने का उन्हें वैसा मौका न था, जैसा तुलसीदास को।

उपासना पद्धति के भेद के कारण सूर और तुलसी की रचना में जो भेद कहा जाता है, उस पर भी थोड़ा ध्यान देना चाहिए। तुलसी की उपासना सेव्य-सेवक भाव से कही जाती है और सूर की सख्य भाव से। यहाँ तक कि भक्तों में सूरदास जी श्रीकृष्ण के सखा उद्धव के अवतार कहे जाते हैं। यहाँ पर हमें केवल यह देखना है कि इस उपासना भेद का सूर की रचना के स्वरूप पर क्या प्रभाव पड़ा है। यदि विचार करके देखा जाय, तो सूर में जो कुछ संकोच का अभाव या प्रगल्भता पाई जाती है, वह गृहीत विषय के कारण। इन्होंने वात्सल्य

और शृंगार ही वर्णन के लिये चुने हैं। जिसे बालक्रीड़ा और शृंगार क्रीड़ा का अत्यन्त विस्तृत वर्णन करना है, वह यदि संकोच भाव छोड़ लड़कों की नटखटी, यौवन-सुलभ हास परिहास आदि का वर्णन न करेगा, तो काम कैसे चलेगा? कालिदास ने भी कुमारसम्भव में पार्वती के अंग प्रत्यंग का शृंगारी वर्णन किया है। तो क्या उनकी शंकर की उपासना भी सख्य भाव की हुई और उनका वह वर्णन उसी सख्य भाव के कारण हुआ? थोड़ा सा ध्यान देने से ही यह जाना जा सकता है कि आरम्भ में सूर ने जो बहुत दूर तक विनय के पद कहे हैं, वे दीन सेवक या दास के रूप में ही कहे हैं। मिलान करने पर सूर की विनयावली और तुलसी की विनय-पत्रिका में सखा और सेवक का कोई भेद न पाया जायगा। विनय में सूर भी ऐसा ही कहते पाए जायँगे—"प्रभु! हौं सब पतितन को टीको"। यों तो तुलसी भी प्रेम भाव में मग्न होकर सामीप्य और घनिष्ठता अनुभव करते हुए 'पूतरा बाँधने' के लिये तैयार हो गए हैं और शबरी आदि को तारने पर कहते हैं—"तारेहु का रही सगाई?"।

इसी साम्प्रदायिक प्रवाद से प्रभावित होकर कुछ महानुभावों ने सूर और तुलसी में प्रकृति-भेद बताने का प्रयत्न किया है और सूर को खरा तथा स्पष्टवादी और तुलसी को सिफारशी, खुशामदी या लल्लो चप्पो करनेवाला कहा है। उनकी राय में तुलसी कभी राम की निन्दा नहीं करते; पर सूर ने "दो चार स्थानों पर कृष्ण के कामों की निन्दा भी की है;" यथा—

(क) तुम जानत राधा है छोटी।
हम सों सदा दुरावति है यह, बात कहै मुख चोटी पोटी॥

नँदनंदन याही के बस हैं, बिबस देखि बेंदी छबि चोटी।
सूरदास प्रभु वै अति खोटे, यह उनहूँ तें अति ही खोटी॥

(ख) सखी री ! श्याम कहा हित जानै ।
सूरदास सर्बस जौ दीजै कारो कृतहि न मानै ॥"

पर यह कथन कहाँ तक ठीक है, इसका निर्णय इस प्रश्न के उत्तर द्वारा झटपट हो सकता है । "सूरदास प्रभु वै अति खोटे," "कारो कृतहि न मानै" इन दोनों वाक्यों में वाच्यार्थ के अतिरिक्त संलक्ष्य असंलक्ष्य किसी प्रकार का व्यंग्यार्थ भी है या नहीं ? यदि किसी प्रकार का व्यंग्य नहीं है तो उक्त कथन ठीक हो सकता है । पर किसी प्रकार का व्यंग्यार्थ न होने पर ये दोनों वाक्य रसात्मक न होंगे, इनमें कुछ भी काव्यत्व न होगा । पर हमारे देखने में ये दोनों वाक्य असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य के कारण रसात्मक हैं । इन दोनों पदों पर साहित्यिक दृष्टि से जो थोड़ा भी ध्यान देगा, वह जान लेगा कि कृष्ण न तो वास्तव में खोटे कहे गए हैं, न कल्हटे कृतघ्न । प्रथम पद में जो सखी की उक्ति है, वह विनोद या परिहास की उक्ति है, सरासर गाली नहीं है । सखी का यह विनोद हर्ष का ही एक स्वरूप है और संचारी के रूप में प्रिय सखी राधा के प्रति रति भाव की व्यंजना करती है । इससे सखी के उस आनन्द का पता चलता है जो राधा कृष्ण के परस्पर प्रेम को देख उसे हो रहा है । इसी प्रकार दूसरा पद विरहाकुल गोपी का वचन है जिससे कुछ विनोद मिश्रित अमर्ष व्यंजित होता है । यह अमर्ष भी यहाँ रति भाव का व्यंजक है, इसके कहने की आवश्यकता नहीं । यह आरंभ में ही कहा जा चुका है कि कृष्ण और गोपियों का प्रेम लोक-मर्य्यादा से परे जीवनोत्सव या क्रीड़ा के रूप में सामने रखा गया है । इस सम्बन्ध में हमारा केवल यही निवेदन है कि साम्प्रदायिक परिभाषाओं के चक्कर में साहित्यिक दृष्टि खो न देनी चाहिए ।

तुलसी पर दूसरा इलजाम, जिससे सूर बरी किए गए हैं, यह है कि वे रह रहकर फजूल याद दिलाया करते हैं कि राम परमेश्वर हैं ।

ठीक है; तुलसी ऐसा जरूर करते हैं। पर कहाँ ? रामचरित मानस में। पर रामचरित मानस तुलसीदास का एक मात्र ग्रंथ नहीं है। उसके अतिरिक्त तुलसीदासजी के और भी कई ग्रंथ हैं। क्या सब में यही बात पाई जाती है ? यदि नहीं, तो इसका विवेचन करना चाहिए कि रामचरित-मानस में ही यह बात क्यों है। मेरी समझ में इसके कारण ये हैं—

(१) रामचरित-मानस की कथा के वक्ता तीन हैं—शिव, याज्ञवल्क्य और काक-भुशुंडि। श्रोता हैं पार्वती, भरद्वाज और गरुड़। इन तीनों श्रोताओं ने अपना यह मोह प्रकट किया है कि कहीं राम मनुष्य तो नहीं हैं। तीनों वक्ता जो कथा कह रहे हैं, वह इसी मोह को छुड़ाने के लिये। इसलिये कथा के बीच बीच में याद दिलाते जाना बहुत उचित है। गोस्वामी जी ने भूमिका में ही इस बात को स्पष्ट करके शंका की जगह नहीं छोड़ी है।

(२) रामचरित-मानस एक प्रबन्ध-काव्य है, जिसमें कथा का प्रवाह अनेक घटनाओं पर से होता हुआ लगातार चला चलता है। इस दशा में कथा-प्रवाह में मग्न पाठक या श्रोता को असल बात की ओर ध्यान दिलाते रहने की आवश्यकता समय समय पर उस कवि को अवश्य मालूम होगी, जो नायक को ईश्वरावतार के रूप में ही दिखाना चाहता है। फुटकर पद्यों में इसकी आवश्यकता न प्रतीत होगी। सूरसागर की शैली पर तुलसी की 'गीतावली' है। उसमें यह बात नहीं पाई जाती। जब कि समान शैली की रचना मिलती है, तब मिलान के लिये उसी को लेना चाहिए।

(३) श्रीकृष्ण के लिये 'हरि' 'जनार्दन' आदि विष्णुवाचक शब्द बराबर लाए जाते हैं, इससे चेतावनी की आवश्यकता नहीं रह जाती। गोपियों ने कृष्ण के लिये बराबर 'हरि' शब्द का व्यवहार किया है।

इस प्रसंग को छोड़ने के पहले इतना और कह देना चाहता हूँ

उत्कृष्ट रचना की है। यह बात सूर में नहीं है। सूरसागर की पद्धति पर वैसी ही मनोहारिणी और सरस रचना तुलसी की 'गीतावली' मौजूद है; पर रामचरितमानस और कवितावली की शैली की सूर की कोई कृति नहीं है। इसके अतिरिक्त मनुष्य-जीवन की जितनी अधिक दशाएँ, जितनी अधिक वृत्तियाँ, तुलसी ने दिखाई हैं, उतनी सूर ने नहीं। तुलसी ने अपने चरित्र-चित्रण द्वारा जैसे विविध प्रकार के ऊँचे आदर्श खड़े किए हैं, वैसे सूर ने नहीं। तुलसी की प्रतिभा सर्वतोमुखी है और सूर की एक-मुखी। पर एक-मुखी होकर उसने अपनी दिशा में जितनी दूर तक की दौड़ लगाई है, उतनी दूर तक की तुलसी ने भी नहीं; और किसी कवि की तो बात ही क्या है। जिस क्षेत्र को सूर ने चुना है, उस पर उनका अधिकार अपरिमित है, उसके वे सम्राट् हैं।

सूर की विशेषताओं के इस संक्षिप्त दिग्दर्शन को समाप्त करने के पहले इतना और कह देने को जी चाहता है कि सूर में साम्प्रदायिकता की छाप तुलसी की अपेक्षा अधिक है। अष्टछाप में वे थे ही। उन्होंने अपनी अनन्य उपासना के अनुसार कृष्ण या हरि को छोड़ और देवताओं की स्तुति नहीं की है। ग्रंथारंभ में भी प्रथानुसार गणेश या सरस्वती को याद नहीं किया है। पर तुलसीदास जी की वंदना कितनी विस्तृत है, यह रामचरित मानस और विनय पत्रिका के पढ़नेवाले मात्र जानते हैं। उनमें लोक-संग्रह का भाव पूरा पूरा था। उनकी दृष्टि लोक-विस्तृत थी। जन समाज के बीच—या कम से कम हिन्दू समाज के बीच—परस्पर सहानुभूति और सम्मान का भाव तथा सुखद व्यवस्था स्थापित देखने का अभिलाष भी उनमें बहुत कुछ था। शिव और राम को एक दूसरे का उपासक बनाकर उन्होंने शैवों और वैष्णवों में भेद बुद्धि रोकने का प्रयत्न किया था। पर सूरदासजी का इन सब बातों की ओर ध्यान नहीं था।

जो तुलसीदासजी के ग्रंथों को पढ़ता है, वह उन्हें देवताओं से

उदासीन भी नहीं समझता, उनका शत्रु और द्रोही समझना तो दूर रहा। इतने पर भी कुछ लोगों ने वनवास के करुण-प्रसंग के भीतर अथवा राम के महत्त्व आदि की भावना में लीन करनेवाले किसी पद में "सुर स्वारथी" आदि शब्द देखकर यह कहना बहुत जरूरी समझा है कि "सूर ने तुलसी के समान देवताओं को गालियाँ नहीं दी हैं"। इस पर यही समझकर रह जाना पड़ता है कि यह मत वैलक्षण्य के महत्त्व का युग है।

सूर की विशेषताओं पर स्थूल रूप से इतना विचार करने के उपरान्त अब हम उनकी उस संगीत-भूमि में थोड़ा प्रवेश करते हैं, जो 'भ्रमरगीत' के नाम से प्रसिद्ध है और जिसमें वचन की भाव-प्रेरित वक्रता द्वारा प्रेम-प्रसूत न जाने कितनी अन्तर्वृत्तियों का उद्घाटन परम मनोहर है। 'भ्रमरगीत' का प्रसंग इस प्रकार आया है। श्रीकृष्ण अक्रूर के साथ कंस के निमंत्रण पर मथुरा गए और वहाँ कंस को मारकर अपने पिता वसुदेव का उद्धार किया। इसी बीच में कुब्जा नाम की कंस की एक दासी को उसकी सेवा से प्रसन्न होकर उन्होंने अपने प्रेम की अधिकारिणी बनाया। जब अवधि बीत जाने पर भी वे लौटकर गोकुल न आए, तब नंद, यशोदा तथा सारे व्रजवासी बड़े दुखी हुए। उन गोपियों के विरह का क्या कहना है जिनके साथ उन्होंने इतनी क्रीड़ाएँ की थीं। बहुत दिनों पीछे श्रीकृष्ण ने ज्ञानोपदेश द्वारा गोपियों को समझाने बुझाने के लिये अपने सखा उद्धव को व्रज में भेजा। उद्धव ही को क्यों भेजा? कारण यह था कि उद्धव को अपने ज्ञान का बड़ा गर्व था, प्रेम या भक्ति मार्ग की वे उपेक्षा करते थे। कृष्ण का उन्हें गोपियों के पास भेजने में यह अभिप्राय था कि वे उनकी प्रीति की गूढ़ता और तन्मयता देखकर शिक्षा-ग्रहण करें और सगुण भक्ति मार्ग की सरसता और सुगमता के सामने उनका ज्ञान गर्व दूर हो—

जदुपति जानि उद्धव रीति।
जेहि प्रगट निज सखा कहियत करत भाव अनीति॥

बिरह-दुख जहँ नाहिं जामत, नाहिं उपजत प्रेम ।
रेख, रूप न बरन जाके यह धख्यो वह नेम ।
त्रिगुण तन करि लखत हमको, ब्रह्म मानत और ।
बिना गुण क्यों पुहुमि उधरै, यह करत मन डौर ॥
बिरह-रस के मंत्र कहिए क्यों चलै संसार ।
कछु कहत यह एक प्रगटत, अति भख्यो हंकार ।
प्रेम भजन न नेकु याके, जाय क्यों समझाय ?
सूर प्रभु मन यहै आनी, ब्रजहिं देहुँ पठाय ॥

"त्रिगुण तन करि लखत हमको, ब्रह्म मानत और" इसी भ्रम का निवारण कृष्ण चाहते थे। जगत से ब्रह्म को सदा अलग मानना, जगत की नाना विभूतियों मे उसे न स्वीकार करना भक्ति-मार्गियों के निकट बड़ी भारी भ्रान्ति है। "अहमात्मा गुडाकेश, सर्वभूताशयस्थित" इस भगवद्वाक्य को मन में बैठाए हुए भक्तजन गीता के इस उपदेश के अनुसार भगवान् के व्यक्त स्वरूप की ओर आकर्षित रहते हैं—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्त चेतसाम् ।
अव्यक्ताहि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥

उद्धव बात बात मे "एक प्रगटत"—अद्वैतवाद का राग अलापते थे। पर "बिरह-रस के मंत्र कहिए क्यों चलै संसार ?"—रस-विहीन उपदेश से लोक-व्यवहार कैसे चल सकता है ? रस-विहीन उपदेश किस प्रकार असर नहीं करते, यही दिखाने को भ्रमरगीत की रचना हुई है।

उद्धव के ब्रज में दिखाई पड़ते ही सारे ब्रजवासी उन्हें घेर लेते हैं। वे नंद यशोदा से सँदेसा कह चुकने के उपरान्त गोपियों की ओर फिरकर कृष्ण के संदेश के रूप में ज्ञान-चर्चा छेड़ते हैं। इसी बीच में एक भौंरा उड़ता उड़ता गोपियों के पास आकर गुनगुनाने लगता है—

यहि अंतर मधुकर इक आयो ।
निज सुभाव अनुसार निकट होइ सुंदर शब्द सुनायो ॥

पूछन लागीं ताहि गोपिका "कुबजा तोहिं पठायो।
कैधौं सूर स्यामसुन्दर को हमैं सँदेसो लायो?" ॥

फिर तो गोपियाँ मानो उसी भ्रमर को संबोधन करके जो जो जी में आता है, खरी खोटी, उलटी सीधी सब सुना चलती हैं। इसी से इस प्रसंग का नाम "भ्रमरगीत" पड़ा है। कभी गोपियाँ उद्धव का नाम लेकर कहती हैं, कभी उसी भ्रमर को संबोधन करके कहती हैं, विशेषत. जब परुष और कठोर वचन मुँह से निकालना होता है। शृंगार रस का ऐसा सुन्दर "उपालम्भ काव्य" दूसरा नहीं है।

उद्धव को देखते ही गोपियों को सम्बन्ध-भावना के कारण कृष्ण के मिलने का सा सुख हुआ—

ऊधो! पालागौं भले आए।
तुम देखे जनु माधव देखे, तुम त्रय ताप नसाए॥

प्रिय के सम्बन्ध से बहुत सी वस्तुएँ प्रिय लगने लगती हैं। यही बात यहाँ अपने स्वाभाविक रूप में दिखाई गई है। इसी को बढ़ाकर बिहारी कुछ और दूर तक ले गए हैं। उनकी नायिका को नायक के भेजे हुए पंखे की हवा लगने से उलटा और पसीना होता है। यह एक तमाशे की बात जरूर हो गई है—

हित करि तुम पठयो, लगे वा बिजना की बाय।
टरी तपनि तन की तऊ चली पसीने न्हाय॥

सूर ने भी प्रिय की वस्तु पाकर "सात्त्विक" होना दिखाया है, पर तमाशे के रूप में नहीं, अत्यन्त स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी रूप में तथा अत्यन्त अर्थ प्राचुर्य्य के साथ। उद्धव के हाथ से श्याम की पत्री राधा अपने हाथ में लेती हैं और—

निरखत अंक स्यामसुन्दर के बार बार लावति छाती।
लोचन-जल कागद-मसि मिलि कै ह्वै गइ स्याम स्याम की पाती॥

आँसुओं से भीगकर स्याही के फैलने से सारी चिट्ठी काली हो

गई, इससे कृष्ण-सम्बन्ध की भावना के कारण प्रबल प्रेमोद्रेक सूचित हुआ। आगे देखिए तो इस प्रेमोद्रेक की तीव्रता व्यंजित करने के लिये 'अंक' और 'श्याम' शब्दों में श्लेष कैसा काम कर रहा है। पत्री पाकर वैसा ही प्रेम उमड़ा, जैसा कृष्ण को पाकर उमड़ता। कृष्ण की पत्री ही उनके लिये कृष्ण हो गई। जैसे वे कृष्ण के अंक (गोद अर्थात् शरीर) को पाकर आलिंगन करतीं, वैसे ही कृष्ण के लिखे अंक (अक्षर) देखकर वे पत्री को बार बार हृदय से लगाती हैं। यहाँ भावाधिपति सूर ने भाव का और आधिक्य व्यंजित करने के लिये शब्द-साम्य की सहायता ऐसे कौशल से ली है कि एक बार शब्दों का साधारण अर्थ (अक्षर और काला) लेने से जिस भाव की अधिकता सूचित हुई, फिर आगे उनका श्लिष्ट अर्थ (गोद और श्रीकृष्ण) लेने से उसी भाव की और अधिकता व्यंजित हुई। इससे जो लाघव हुआ है—मज़मून में जो चुस्ती आई है—वह तो है ही, साथ ही प्रेम के अन्तर्भूत एक मानसिक दशा के चित्र का रंग कैसा चटकीला हो गया है! शब्द-साम्य को उपयोग में लानेवाला सच्चा कवि कौशल यही है।

यदि केशवदास के ढंग पर सूर भी यहाँ उक्त शब्द-साम्य को लेकर 'कृष्ण' और 'पत्री' की तुलना पर ज़ोर देने लगते—कहते कि पत्री मानो कृष्ण ही है, क्योंकि वह भी श्याम है और उसके भी अंक (वक्षस्थल) है—तो काव्य की रमणीयता कुछ भी न आती। राधा को वह पत्री जो कृष्ण के समान लग रही है, वह सादृश्य या साधर्म्य के कारण नहीं, बल्कि सम्बन्ध-भावना के कारण, कृष्ण के हाथ की लिखी होने के कारण। केवल शब्दात्मक साम्य को लेकर यदि हम किसी पहाड़ को कहें कि यह बैल है, क्योंकि इसे भी 'शृंग' है, तो यह काव्य-कला तो न होगी, और कोई कला हो तो हो। क्या ज़रूरत है कि शब्दों की जितनी कलाबाज़ियाँ हों, सब काव्य ही कहलावें?

गोपियाँ कहती हैं कि हम ने इतने सँदेसे भेजे हैं कि शायद उनसे

मथुरा के कूएँ भी भर गए होंगे; पर जो सँदेसा लेकर जाता है, वह लौटता नहीं—

> सँदेसनि मधुबन कूप भरे।
> जो कोउ पथिक गए हैं ह्याँ तें फिरि नहिं गवन करे॥
> कै वै स्याम सिखाय समोधे, कै वै बीच मरे ?
> अपने नहिं पठवत नँदनंदन हमरेउ फेरि धरे॥
> मसि खूँटी, कागर जल भींजे, सर दव लागि जरे।

प्रिय से सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्तियों या वस्तुओं का प्रिय लगना ऊपर दिखा आए हैं। इस पद में प्रेमाभिलाष की पूर्ति में जो वस्तुएँ बाधक होती हैं, सहायक नहीं होतीं या उपयोग में नहीं आतीं, उनके ऊपर बड़ी सुन्दर झल्लाहट स्त्रियों की स्वाभाविक बोली में प्रकट की गई है। पथिक सँदेसा लेकर गए, पर न लौटे; न जाने कहाँ मर गए! कोई चिट्ठी भी नहीं आती है। मथुरा भर में स्याही ही चुक गई, या कागज भींगकर गल गए अथवा सरकंडों में (जिनकी कलम बनती है) आग लग गई, वे जल गए ?

जो कोई पथिक उधर से होकर निकलता है, उसे रोककर गोपियाँ अपना सँदेसा कहने लगती हैं। अब तो यह दशा है कि इसी डर से पथिकों ने उधर से होकर जाना ही छोड़ दिया है—

> सूरदास सँदेसन के डर पथिक न वा मग जात।

ज्यों ही उद्धव अपना ज्ञान-संदेश सुनाना आरंभ करते हैं, त्यों ही गोपियाँ चकपकाकर पूछने लगती हैं—

> हम सों कहत कौन की बातें ?
> सुनि, ऊधो ! हम समुझति नाहीं फिरि पूछति हैं तातें।
> को नृप भयो, कंस किन मारयो, को बसुद्यौ सुत आहि।
> यहाँ हमारे परम मनोहर जीजत हैं सुख चाहि॥

गोपियों को यह 'चकपकाहट' उद्धव की बात की असंगति पर होती है। जिसने ऐसा सँदेसा भेजा है, वह न जाने कौन है। परम प्रेमी कृष्ण तो हो नहीं सकते। इसका तात्पर्य्य यह नहीं कि वे सचमुच उद्धव को कृष्ण का दूत नहीं समझ रही हैं। वे केवल विश्वास करने की अपनी असत्परता और आश्चर्य्य मात्र व्यंजित कर रही हैं। कृष्ण के सम्बन्ध से उद्धव भी गोपियों को प्रिय और अनोखे लग रहे हैं। इसी से बीच बीच में वे उन्हें बनाने और उनसे परिहास करने लगती हैं। वे कृष्ण पर भी फबती छोड़ती हैं और उद्धव को भी बनाती हैं—

> ऊधो ! जान्यो ज्ञान तिहारो।
> जानै कहा राजगति लीला अंत अहीर बेचारो॥
>
> आवत नाहिं लाज के मारे, मानहु कान्ह खिसान्यो।
> हम सबै अयानी, एक सयानी कुबजा सों मन मान्यो॥
>
> ऊधो जाहु बाहँ धरि ल्याओ सुंदर श्याम पियारो।
> ब्याहौ लाख, धरौ दस कुबरी, अंतहि कान्ह हमारो॥

परिहास के अतिरिक्त अंतिम चरण में प्रेम की उच्च दशा के 'औदार्य्य' की कैसी साफ झलक है!

उद्धव कहते जाते हैं, पर गोपियों के मन में यह बात समाती ही नहीं कि यह कृष्ण का सँदेसा है। कभी वे कहती हैं--"ऊधो ! जाय बहुरि सुनि आवहु कहा कह्यो है नंदकुमार"; कभी कहती हैं---"श्याम तुम्हैं ह्याँ नाहिं पठाए, तुम हौ बीच भुलाने"। जब उद्धव बकते ही जाते हैं, तब वे और भी बनाती हैं, कहती हैं कि जरा अपने होश की दवा करो—

> ऊधो ! तुम अपनो जतन करौ।
> हित की कहत कुहित की लागै, किन बेकाज ररौ॥

आय करो उपचार आपनो हम जो कहत हैं जी की ।
कछू कहत कछुवै कहि डारत, धुन देखियत नहिं नीकी ॥

बीच बीच में वे खिझला भी उठती हैं और कहती हैं कि तुम्हारे मुह कौन लगे, तुम तो सनक गए हो । वहाँ सिर खाने लगे थे, तभी तुम्हें यहाँ भेजकर श्रीकृष्ण ने अपना पल्ला छुड़ाया—

साधु होय तेहि उत्तर दीजै तुमसों मानी हारि ।
याही तें तुम्हें नँदनदन जू यहाँ पठाए टारि ॥

फिर चित्त में शुद्ध विनोद वृत्ति के आ जाने पर वे कहती हैं— "भाई ! खूब आए ! इस दुःख दशा में भी अपनी बेढब बातों से एक बार लोगों को हँसा दिया—

ऊधो ! भली करी तुम आए ।
ये बातें कहि कहि या दुख म ब्रज के लोग हँसाए ॥

प्रेम के जिस हास क्रीड़ामय स्वरूप को सूर ने लिया है, विप्रलंभ दशा के अश्रु और दीर्घ निश्वास के बीच बीच में भी बराबर उसकी क्षणिक और क्षीण रेखा झलक जाती है । श्याम गोपियों के पास नहीं हैं, उनके सखा ही सयोग से उनके बीच आ फँसे हैं जो सदा उनके पास रहते हैं । बस यही सम्बन्ध भावना कृष्ण के सदेश की विलक्षणता की भावना के साथ मिलते ही रह रहकर थोड़ी देर के लिये वृत्ति को विनोदमयी कर देती है—

ऊधो हम आज भई बड़ भागी ।
निरखे सब दुख देखत तुमको श्यामसुदर हम लागी ॥
ज्यों दर्पन मधि दृग निरखत जहँ हाथ तहाँ नहिं आई ।
त्योंही सूर हम मिली साँवरे बिरह बिथा बिसराई ॥

माध्यम द्वारा सयोग-सूत्र का कैसा सुदर स्पष्टीकरण सूर ने किया है ! सा सम्बन्ध भावना बीच बीच में गोपियों की वृत्ति विनोदमयी कर

देती है, वह कभी कभी स्पष्ट शब्दों में निर्दिष्ट होकर सामने आ जाती है। और पाठक उसे पहचान सकते हैं; जैसे—

मधुकर! जानत है सब कोऊ।
जैसे तुम औ मीत तुम्हारे, गुननि निपुन हौ दोऊ॥
पाके चोर, हृदय के कपटी तुम कारे औ वोऊ।

उद्धव को जो 'पक्के चोर और कपटी' प्रेम के ये संबोधन मिल रहे हैं, वह कृष्ण के संसर्ग के प्रसाद से।

ऐसेई जन दूत कहावत।
ऐसी परकृति परति छाहँ की जुवतिन जोग बुझावत॥

गोपियाँ कहती हैं कि बैठे बैठे योग और ज्ञान का सँदेसा भेजनेवाले हैं, यह हम अच्छी तरह जानती हैं—

हम तौ निपट अहीरि बावरी जोग दीजिए ज्ञानिन।
कहा कथत मामी के आगे जानत नानी नानन॥

कृष्ण की सम्बन्ध-भावना स्थान को भी कुछ अनुरंजक रूप प्रदान करती है—

बिलग जनि मानहु, ऊधो प्यारे!
वह मथुरा काजर की कोठरि जे आवहिं ते कारे॥
तुम कारे सुफलक-सुत कारे, कारे मधुप भँवारे।

गोपियाँ कहती है—'तुम्हारा दोष नहीं। वह स्थान ही ऐसा हो रहा है जहाँ से तुम आ रहे हो। एक कृष्ण से वहाँ ऐसी कृष्णता छा रही है कि तुम काले हो; अक्रूर जो आए थे, वे भी ऐसे ही काले थे; और यह घूमता हुआ भौंरा भी (जो बहुत दिन वहाँ न रहा होगा, घूमता फिरता कभी जा पड़ा होगा) वैसा ही काला है।

उद्धव अपने ज्ञानोपदेश की भूमिका ही बाँध रहे थे कि गोपियों के मन में कुछ कुछ 'शंका' होने लगी—

मधुकर ! देखि श्याम तन तेरो ।
हरिमुख की सुनि मीठी बातैं डरपत है मन मेरो ॥
अब लौं कौन हेतु गावत है हम्ह आगे यह गीत ।
सूर इते सों गारि कहा है जो पै त्रिगुन अतीत ॥

'त्रिगुणातीत' होंगे, हमें इससे क्या ? तू क्यों बार बार यह कहता है ? कुछ भेद जान नहीं पड़ता ।

उद्धव को कभी एक भोला भाला आदमी ठहराकर गोपियाँ अनुमान करती हैं कि कहीं श्रीकृष्ण ने यह सँदेसा इनके हाथ भेजकर हँसी न की हो और ये इसे ठीक मानकर बक बक कर रहे हों । यही पता लगाने के लिये वे उद्धव से पूछती हैं—'अच्छा, यह तो बताओ कि जब वे तुम्हें सन्देश कहकर भेजने लगे थे, तब कुछ मुस्कराए भी थे ?'

ऊधो ! जाहु तुम्हैं हम जाने ।
साँच कहो तुमको अपनी सौं, बूझत बात निदाने ।
सूर श्याम जब तुम्हैं पठाए तब नेकहु मुसकाने ?

यह अनुमान या 'वितर्क' रागात्मिका वृत्ति से सर्वथा निर्लिप्त शुद्ध बुद्धि की क्रिया नहीं है । संचारी 'मति' के समान यह भी भाव प्रेरित है, हृदय की रागद्वेष वृत्ति से सम्बन्ध रखता है । किसी बात को मानने न मानने की भी रुचि हुआ करती है । कृष्ण के प्रेम को गोपियाँ छोड़ना नहीं चाहतीं, अत: यह बात मानने को उनका जी नहीं करता कि कृष्ण ने ऐसा अप्रिय सन्देश भेजा होगा । जिस बात को कोई मानना नहीं चाहता, उसको न मानने के वह अनेक रास्ते ढूँढ़ता है । बस, गोपियों के अंतःकरण की यही स्थिति ऊपर के पद में दिखाई गई है ।

उद्धव के ज्ञान-योग की गोपियाँ कितनी कद्र करती हैं, अब थोड़ा यह भी देखिए । जो ऐसी चीज ढोए फिरता है, जिसे बहुत से लोग

बिलकुल निकम्मी समझ रहे हैं, उसे वे बेवक़ूफ़ समझकर ही नहीं रह जाते, बल्कि उसे बनाने में भी कभी कभी पूरी कल्पना खर्च करते हैं। बेवक़ूफ़ी पर हँसने का रवाज बहुत पुराना है। लोग बना बनाया बेवक़ूफ़ पाकर हँसते भी हैं और हँसने के लिये बेवक़ूफ़ बनाते भी हैं। हास की प्ररणा ही कल्पना को मूर्त्त का स्वरूप जोड़ने और वाणी को कुछ शब्द-रचना करने में तत्पर करती है। गोपियाँ कुछ कुछ इसी प्रेरणावश उद्धव से नीचे लिखी बात उस समय कहती हैं, जब वे घबराकर उठने को तैयार होते हैं—

उद्धव ! जोग बिसरि जनि जाहु।
बाँधहु गाँठ कहूँ जनि छूटै, फिरि पाछे पछितातु ॥
ऐसी वस्तु अनूपम, मधुकर ! मरम न जानै और।
ब्रजबासिन के नाहिं काम की, तुम्हरे ही है ठौर ॥

"देखना, अपना योग कहीं भूल न जाना। गाँठ में बाँध रखो; कहीं छूट जाय, तो फिर पीछे पछताओ। ऐसी वस्तु जिसका मर्म सिवा तुम्हारे या तुम्हारे ऐसे दो चार फालतू दिमाग़वालों के और कोई जान ही नहीं सकता, वह ब्रजवासियों के किसी काम की नहीं। ऐसी फालतू चीज के लिये तुम्हारे ही यहाँ जगह होगी, यहाँ नहीं है"। जिसके सखा के दर्शन से विरह से मुरझाई हुई गोपियों में इतनी चपलता आ गई कि वे लड़कों की तरह चिढ़ाने को तैयार हो गई, उसके दर्शन से उनमें कितनी सजीवता आती, यह समझने की बात है। ज्ञानयोग पर भी कैसी मीठी चुटकी है। जिसे केवल एक आध आदमी समझते हैं, वह वस्तु सब के काम की नहीं हो सकती। उद्धव जब उसे गले लगाते हैं, तब गोपियों का भाव बदलता है और वे उन्हें सीधे सादे बेवक़ूफ़ नहीं लगते, बल्कि एक ठग या धूर्त्त के रूप में दिखाई पड़ते हैं। यह भावान्तर उनकी कल्पना को कैसा चित्र खड़ा करने में लगाता है, देखिए—

(क) आयो घोष बड़ो व्यापारी।

लादि खेप गुन ज्ञान जोग की ब्रज में आय उतारी॥

फाटक दै कर हाटक माँगत भोरी निपट सुधारी।

(ख) ऊधो! ब्रज में पैठ करी।

यह निर्गुन निर्मूल गाठरी, अब किन करहु खरी॥

नफा जानिकै ह्याँ लै आए सबै वस्तु अकरी।

उदाहरण (ख) में 'निर्मूल' शब्द कितना अर्थ-गर्भित है। साधारण दृष्टि से तो यही अर्थ दिखाई पड़ता है कि 'बिना जड़ पेड़ की कहानी' अर्थात् जिसमें कुछ भी नहीं है, शून्य है। पर साथ ही इस अर्थ का भी पूरा संकेत मिलता है—"जिसमें कुछ मूलधन या पास की पूँजी नहीं लगी है" अर्थात् यह (ज्ञान गठरी) केवल किसी के मुँह से सुनकर इकट्ठी कर ली गई है, उसमें हृदय नहीं लगा है,—लग ही नहीं सकता—जो मनुष्य की असल पूँजी है। सूर ने यहाँ जिस बात को इस मार्मिक ढंग से कहा है, उसी को गो० तुलसीदासजी ने दार्शनिक निरूपण के ढंग पर 'स्वानुभूति' और 'वाच्य ज्ञान' का भेद बताकर कहा है—

अँगरेजी पुस्तक Civilization, its Causes and Cure में वर्तमान समय की उस वैज्ञानिक प्रवृत्ति का विरोध किया है, जिसमें बुद्धि-क्रिया ही सब कुछ मानी गई है, मनुष्य के हृदय-पक्ष तथा स्वानुभूति-पक्ष का एक दम तिरस्कार कर दिया गया है। उसने 'शब्दबोध की प्रणाली' को 'अज्ञान प्रणाली' कहा है। यही पक्ष तुलसी, सूर आदि भक्तों का भी रहा है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने स्पष्ट कह दिया है कि अज्ञान ही के द्वारा—शब्दबोध के ही सहारे—तो ज्ञान की बातें कही जाती हैं। वे ललकारकर कहते हैं—"ज्ञान कहै अज्ञान बिनु, सो गुरु, तुलसी दास"।

जब उद्धव की बकवाद बंद नहीं होती, वे ऐसी बातें बकते ही जाते हैं जो गोपियों को बे सिर पैर की लगती हैं, जिनका कुछ स्पष्ट अर्थ नहीं जान पड़ता, तब वे ऊबकर झुँझला उठती हैं। कहती हैं—"तुमसे कौन सिरपची करे—"ऐसी को ठाली बैठी है तोसों मूड़ खपावै" कह दिया कि तेरा सिर पटकना व्यर्थ है।"

कत श्रम करत, सुनत को ह्याँ है ? होत ज्यों बन को रोयो।
सूर इते पै समझत नाहीं, निपट दई को खोयो॥"

"निपट दई को खोयो"—स्त्रियों की झुँझलाहट के कैसे स्वाभाविक बचन हैं! अंत में वे उद्धव पर इस प्रकार झल्ला उठती हैं—

(क) ऊधो! राखति हौं पति तेरी।
हाँ ते जाहु, दुरहु आगे तें, देखति आँखि बरति हैं मेरी॥
तै तौ तैसेइ दोउ बने हैं, वै अहीर, वह कंस की चेरी।

(ख) रहु रे मधुकर मधु-मतवारे!
कहा करौं निर्गुन लैकै हौं? जीवहु कान्ह हमारे॥

क्या यह कहने की आवश्यकता है कि इस सारी 'झुँझलाहट' और 'झल्लाहट' (उग्रता) की तह में प्रेम की एक अखंड धारा बह रही है?

यह मल्लाहट बराबर नहीं रहती। थोड़ी देर में शान्त भाव आ जाता है और 'मति' का उदय दिखाई पड़ता है—

(क) ऊधो ! जो तुम हमहिं सुनायो।
सो हम निपट कठिनई करिकै या मन को समझायो॥
जुगुति जतन करि हमहूँ ताहि गहि सुपथ पथ लौं लायो।
भटकि फिर्‌यो बोहित के खग ज्यों, पुनि फिरि हरि पै आयो॥

(ख) मधुकर ! हम जो कहौ करैं।
पठयो है गोपाल कृपा कै, आयसु तें न टरैं॥
रसना वारि फेरि नवखँड कै दैं निर्गुन के साथ।
इतनी तनक विलग जनि मानहु, अँखियाँ नाहीं हाथ॥

ध्यान रखना चाहिए कि यह 'मति' संचारी भाव है, बुद्धि की स्वतंत्र निर्लिप्त क्रिया नहीं है। यह कृष्ण के प्रेम का आधार लिए हुए है। उद्धव का उपदेश गोपियों के मन में बैठा हो, यह बात नहीं है। वे बड़ी मुश्किल से उसे मानने का जो प्रयत्न कर रही हैं, वह केवल इस खयाल से कि कृष्ण ने कहलाया है और उनके खास दोस्त कह रहे हैं। यह खयाल आते ही फिर तो वे अपनी विवशता का अनुभव मात्र सामने रखती हैं। वे कहती हैं कि जबान तो कहो हम अभी 'निर्गुण' के हवाले कर दें; तुम्हारी तरह मुँह से 'निर्गुण निर्गुण' बका करें, या जबान ही कटा डालें—सब दिन के लिये मौन हो जायँ। पर आँखों से हम लाचार हैं, वे दर्शन की लालसा नहीं छोड़ सकतीं। कभी कभी उनकी वृत्ति अत्यन्त दीन और नम्र हो जाती है और उनके मुँह से ऐसे वचन निकलते हैं—

(क) ऊधो ! हम हैं तुम्हरी दासी।
काहे को कटु वचन कहत हौ, करत आपनी हाँसी।

(ख) अपने मन सुरति करत रहिबी ।

ऊधो ! इतनी बात श्याम सों समय पाय कहियी ।

घोष बसत की चूक हमारी कछू न जिय गहिबी ॥

कहाँ वह 'ममता' और कहाँ यह अदब से भरी 'दीनता' !

ऐसी ही दशा के बीच राधा अपनी सखी से अपनी उस विह्वलता या 'मोह' की बात कहती हैं जिसके कारण उद्धव के आगे कुछ कहते नहीं बनता—

सँदेसो कैसे कै अब कहौं ?

इन नैनन्ह या तनको पहरो कब लौं देति रहौं ?

जो कछु विचार होय उर अंतर रचि पचि सोचि गहौं ।

मुख आनत, ऊधो तन चितवत न सो विचार, न हौं ॥

इस प्रकार वे अपनी दुःख-दशा कहते कहते थक जाती हैं। फिर वे सोचती हैं कि हमारी दशा पर कृष्ण कदाचित् उतना ध्यान न दें; इससे वे नंद और यशोदा की व्याकुलता का वर्णन करती हैं; गायों का दुःख सुनाती हैं कि कदाचित् उन्हीं का खयाल करके वे एक बार आ जायँ—

ऊधो ! इतनी कहियो जाय ।

अति कृश गात भई हैं तुम बिनु बहुत दुखारी गाय ॥

जल-समूह बरसत अँखियन तें, हूँकति लीन्हे नावँ ।

जहाँ जहाँ गोदोहन करते ढूँढ़ति सोइ सोइ ठावँ ॥

कृष्ण किसी प्रकार आवें, बस यही अभिलाष सब के ऊपर है। वे किसी के खयाल से आवें; आवें तो सही। बदले में कृष्ण भी वैसा ही प्रेम रखें, इतनी बड़ी बात की आशा गोपियों से अब नहीं करते बनती। अब तो वे बहुत थोड़े में सन्तुष्ट होने को तैयार हैं। केवल उनका दर्शन पा जायँ, बस। यह तोष-वृत्ति नैराश्य-जन्य है। नीचे के पद में जो

'क्षमा' या 'उदारता' है, वह भी अभाव के दुःख की ही ओर से आती हुई जान पड़ती है—

> ऊधो ! कहियो यह सँदेस ।
> लोग कहत कुब्जा-रस माते, तातें तुम सकुचौ जनि लेस ॥

जिसके न रहने से जीवन की धारा ही खंडित जान पड़ती है, उसके दोषों का ध्यान कैसा? वह आवे, चाहे दो चार और दोष भी साथ लगाता आवे। यह चीज की वह कदर है जो उसके न रहने पर मालूम होती है। वियोग के अन्तर्गत यह हृदय की बड़ी ही उदार दशा है। इसमें दृष्टि दोषों की ओर जाती ही नहीं। यह दशा दूसरे के दोषों को ही आँख के सामने से नहीं हटाती, बल्कि स्वयं अपने में भी दोष सुझाने लगती है। प्रेम द्वारा आत्म-शुद्धि का यह विधान कैसा अचूक है! राधा अपनी एक एक त्रुटि का स्मरण या कल्पना करती हैं और व्याकुल होती हैं—

> मेरे मन इतनी सूल रही ।
> वे बतियाँ छतियाँ लिखि राखीं जे नँदलाल कहीं ॥
> एक दिवस मेरे गृह आए, मैं ही मथति दही ।
> देखि तिन्हें हौं मान कियो सो हरि गुसा गही ॥

कभी कभी उन्हें अपने प्रेम की ही कमी पर पछतावा होता है—

> कहाँ लगि मानिए अपनी चूक ।
> बिनु गोपाल, ऊधो ! मेरी छाती ह्वै न गई द्वै टूक ॥

वियोग गोपियों के हृदय को कभी कभी कैसा कोमल, उदार और सहिष्णु कर देता है, इसकी कैसी अनुताप मिश्रित सूचना इस पद में है—

> फिरि ब्रज बसहु, गोकुलनाथ ।
> बहुरि तुमहिं न जगाय पठवौं गोधनन के साथ ॥

बरजौं न माखन खात कबहूँ, देहुँ देन लुटाय ।
कबहूँ न देहौं उराहनो जसुमति के आगे जाय ॥

दौरि दाम न देहुँगी, लकुटी न जसुमति पानि ।
चोरी न देहुँ उघारि, किए अवगुन न कहिहौं आनि ॥

करिहौं न तुमसों मान हठ, हठिहौं न माँगत दान ।
कहिहौं न मृदु मुरली बजावन, करन तुमसों गान ॥

कहिहौं न चरनन देन जावक, गुहन बेनी फूल ।
कहिहौं न करन सिंगार बट तर बसन जमुना-कूल ॥

भुज भूषनन जुत कंध धरि कै रास नाहिं कराउँ ।
हौं सँकेत निकुंज बसि कै दूति मुख न बुलाउँ ॥

एक बार जो देहु दरसन प्रीति-पंथ बसाय ।
करौं चौंर चढ़ाय आसन नैन अँग अँग लाय ॥

देहु दरसन, नंदनंदन ! मिलन ही की आस ।
सूर प्रभु की कुँवर छवि को भरत लोचन प्यास ॥

इन मर्म भरी भोली-भाली प्रतिज्ञाओं में जो अनुताप, अधीनता और त्याग के उद्गार हैं, उनका यह प्रेम-गर्वसूचक वाक्य "कहिहौं न चरनन देन जावक" त्यज्यमाण विषय होने के कारण विरोधी नहीं होता । उक्त पद में ध्यान देने की सब से बड़ी बात यह है कि प्रेम अब किस प्रकार चपल क्रीड़ा-वृत्ति छोड़ शान्त आराधना के रूप में परिणत होने को तैयार हो गया है । यह प्रेम का भक्ति में पर्य्यवसान है । सुख-क्रीड़ा-त्याग रूप विरति पक्ष दिखाकर मानो सूर ने भक्ति मार्ग के शान्त रस का स्वरूप दिखाया है ।

आत्मोत्सर्ग की पराकाष्ठा वहाँ समझनी चाहिए, जहाँ प्रेमी निराश होकर प्रिय के दर्शन का आग्रह भी छोड़ देता है । इस अवस्था में

वह अपने लिये प्रिय से कुछ चाहना छोड़ देता है और उसका प्रेम इस अविचल कामना के रूप में आ जाता है कि प्रिय चाहे जहाँ रहे, सुख से रहे, उसका बाल भी बाँका न हो—

जहँ जहँ रहो राज करो तहँ तहँ, लेहु कोटि सिर भार ।
यह असीस हम देति सूर सुनु 'न्हात खसै जनि बार' ॥

विरहोन्माद की गहरी व्याकुलता के बीच में भी यह कामना बराबर बनी रहती है। गोपियों को वियोग में चद्रमा तपते सूर्य, गायबछड़े साँप और मेदिर जान पड़ रहे हैं। वे उद्धव से कहती हैं—'तुम तो यहाँ की दशा देख ही रहे हो, कह देना कि जब तक ये सब आफतें यहाँ से टल न जायँ, तब तक वहीं रहें, ऐसी हालत में यहाँ न आवें'—

ऊधो ! इतनी जाय कहौ ।
सब बल्लभी कहति हरि सों 'ये दिन मधुपुरी रहौ ॥
आज कालि तुमहू देखत हौ तपत तरनि सम चंद ।
सुंदर स्याम परम कोमल तनु, क्यों सहिहैं नँदनंद ॥
मधुर मोर पिक परप प्रबल अति बन उपवन चढ़ि बोलत ।
सिंह वृकन सम गाय बच्छ ब्रज बीथिन बीथिन डोलत ॥
तुम तौ परम साधु कोमलचित जानत हौ सब रीति ।
सूर स्याम को क्यों बोलें ब्रज बिन टारे यह ईति' ॥

विरही घोर दुःख सहता हुआ भी यह कभी मन में नहीं लाता कि यह प्रेम दूर हो जाता, तो अच्छा था। कोई मंत्रशास्त्री आकर कहे—'अच्छा, हम वह प्रेम ही मंत्रबल से उड़ाए देते हैं, जो सारे बखेड़े की जड़ है' तो कोई वियोगी शायद ही तैयार होगा—चाहे वह दुनिया भर से कहता फिरे कि 'प्रीति करि काहु सुख न लह्यो'। और दुःखों से वियोगदुःख में यही विशेषता है। वियोगी रस्सी तुड़ाकर प्रेम के

बाड़े के बाहर नहीं भागना चाहता। गोपियाँ प्रेमक्षेत्र के बाहर की किसी वस्तु के प्रति कैसी उपेक्षा या लापरवाई प्रकट करती है—

मधुकर ! कौन मनायो मानै ?
सिखवहु तिनहि समाधि की बातैं जे हैं लोग सयाने।
हम अपने ब्रज ऐसेइ बसिहैं बिरह-बाय बौराने॥

वे उद्धव को उलटा समझाती हैं कि विरह से भी प्रेम की पुष्टि होती है, वह पक्का होता है—

ऊधो ! बिरहौ प्रेम करै।
ज्यों बिनु पुट पट गहै न रंगहि, पुट गहे रसहि परै।
जौ आवों घट दहत अनल तनु तौ पुनि अमिय भरै॥

इसे प्रेम-सिद्धान्त का उपदेश मात्र समझकर न छोड़िए, भाव के स्वरूप पर भी ध्यान दीजिए। यह प्रतिकूल स्थिति की अनिवार्य्यता से उत्पन्न 'आत्म-समाधान' की स्वाभाविक वृत्ति है। एक अफीमची घोड़ी पर सवार कहीं जारहे थे। जिधर उन्हें जाना था, उधर का रास्ता छोड़ घोड़ी दूसरी ओर चलने लगी। जब बहुत मोड़ने पर भी वह न मुड़ी, तब उन्होंने बागढीली करके कहा—"अच्छा, चल! इधर भी मेरा काम है"। इसी प्रकार की अन्तर्वृत्ति इस वाक्य से भी झलकती है—

हम तौ दुहूँ भाँति फल पायो।
जौ ब्रजनाथ मिलैं तौ नीको, नातरु जग जस गायो॥

यह तो 'आत्म-समाधान' हुआ। दूसरे की कोई बात न मानने पर मन में कुछ खटक सी रहती है कि इसे दुःख पहुँचा होगा। अपनी इस खटक को मिटाने के लिये दूसरे के समाधान की प्रवृत्ति होती है; जैसे—

ऊधो ! मनमाने की बात।
जरत पतंग दीप में जैसे औ फिरि फिरि लपटात।
रहत चकोर पुहुमि पर, मधुकर ! ससि अकास भरमात।

पालागौं कहियो मोहन सों जोग कूबरी दीजै।
सूरदास प्रभु रूप निहारैं, हमरे सम्मुख कीजै ॥

वे कृष्ण जिन्होंने इतनी गोपियों का मन चुराया, एक साधारण कुबड़ी दासी के प्रेम-जाल में फँस गए, इस पर देखिए कैसी मीठी चुटकी और कैसा कुतूहलपूर्ण कृत्रिम सन्तोष प्रकाशित किया गया है—

यह वै कुब्जा भलो कियो।
सुनि सुनि समाचार, ऊधो ! मो कछुक सिरात हियो ॥
जाको गुन, गति, नाम, रूप हरि हार्यो फिरि न दियो।
तिन अपनो मन हरत न जान्यो, हँसि हँसि लोग जियो ॥

क्षुब्ध हृदय की कैसी भाव-प्रेरित वचन-रचना है ! इसी प्रकार की वाग्विदग्धता और वक्रता (बाँकपन) उद्धव के 'निराकार' शब्द पर आगे गोपियों की विलक्षण उक्ति में दिखाई पड़ती है। वे राधा को सम्बोधन करके कहती हैं—

मोहन माँग्यो अपनो रूप।
या ब्रज बसत अँचै तुम बैठी, ता बिनु तहाँ निरूप ॥

'कृष्ण का रूप तो तुम पी गई हो', वह तुम्हारे हृदय में रह गया है (तुम निरंतर उनके रूप का ध्यान करती रहती हो) इससे वे वहाँ 'निरूप'—बिना आकार के—हो रहे हैं। उद्धव के द्वारा उन्होंने अपना वही रूप माँग भेजा है कि निराकारता मिटे। तुम जो रात दिन उनके रूप का ध्यान करती रहती हो, उसे भी उद्धव छुड़ाने आए हैं, यह बात कितने टेढ़े ढंग से, किस वक्रता के साथ, प्रकट की गई है ! वाणी ने यह वक्रता हृदय की प्रेरणा से, उठते हुए भावों की लपेट में, ग्रहण की है। इसकी तह में भाव-स्रोत छिपा हुआ है।

ऐसे ही बाँकपन के साथ वे कृष्ण के रूप का ध्यान हृदय से न निकलने का कारण बताती हैं—

उर में माखनचोर गड़े।
अब कैसहु निकसत नहिं, ऊधो ! तिरछे ह्वै जो अड़े॥

जो लंबी चीज किसी बरतन में जाकर तिरछी हो जायगी, वह बड़ी मुश्किल से निकलेगी। कृष्ण की मूर्त्ति का राधा जब ध्यान करने लगती हैं, तब उनकी त्रिभंगी मूर्त्ति ही ध्यान में आती है, इसी से वह मन में अँटक सी गई है, निकलती नहीं है।

वचन की जो वक्रता भाव-प्रेरित होती है, वही काव्य होती है। "वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्" से यही वक्रता अभिप्रेत है, वक्रोक्ति अलंकार नहीं। भावोद्रेक से उक्ति में जो एक प्रकार का बाँकपन आ जाता है, तात्पर्य्य-कथन के सीधे मार्ग को छोड़कर वचन जो एक भिन्न प्रणाली ग्रहण करते हैं, उसी की रमणीयता काव्य की रमणीयता के भीतर आ सकती है। भाव-प्रसूत वचन-रचना में ही भाव या भावना तीव्र करने की क्षमता पाई जाती है। कोई मनुष्य किसी को बड़ा बहादुर कह रहा है। दूसरे से सुनकर रहा नहीं जाता; वह कहता है—"हाँ! अभी न बिल्ली देखकर गिर पड़े थे"। कहनेवाला सीधी तरह से कह सकता था—"वह बहादुर नहीं, भारी डरपोक है; बिल्ली देखकर डर जाता है"। पर इस सीधे वाक्य से उसका सन्तोष नहीं हो सकता था। भीरु को वीर सुनकर जो उपहास की उमंग उस के हृदय में उठी, उसने श्रोताओं को भी उपहासोन्मुख करने के लिये बिल्ली से डरने को बहादुरी के सबूत में पेश करा दिया। काव्य की उक्ति का लक्ष्य किसी वस्तु या विषय का बोध कराना नहीं, बल्कि उस वस्तु या विषय के सम्बन्ध में कोई भाव या रागात्मक स्थिति उत्पन्न करना होता है। तार्किक जिस प्रकार श्रोता को अपनी विचार-पद्धति पर लाना चाहता है, उसी प्रकार कवि अपनी भाव-पद्धति पर।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि 'विदग्धता' वहीं तक काव्योपयोगी हो सकती है, जहाँ तक वह भाव-प्रेरित हो—जहाँ तक उसका

कारण कोई भाव या कम से कम कोई रागात्मक दशा हो। 'विदग्धा नायिका' की वचन-विदग्धता या क्रिया-विदग्धता में काव्य की रमणीयता इसी लिये होती है कि उसकी तह में रति-भाव वर्त्तमान रहता है। किसी पुराने चोर या चाई की विदग्धता का ब्योरेवार वर्णन काव्य के अंतर्गत नहीं आ सकता; क्योंकि उसमें रसात्मकता नहीं। सूर ने कई स्थलों पर बालक कृष्ण की वचन-विदग्धता दिखाई है; जैसे—

मैं अपने मंदिर के कोने माखन राख्यो जानि।
सोई जाय तुम्हारे ढोटा लीनो है पहिचानि॥
बूझी ग्वालिन घर में आयो, नेकु न संका मानी।
सूर श्याम यह उतर बनायो 'चींटी काढ़त पानी'॥

इस विदग्धता में जो रमणीयता है, वह इसी कारण कि इससे बाल-प्रकृति का चित्रण होता है और यह भय-प्रेरित है।

अब सूर ने अपने सिद्धान्त पक्ष का जो काव्यात्मक निरूपण किया है, थोड़ा उसे भी दिखाकर इस प्रबन्ध को समाप्त करते हैं। उद्धव के ज्ञान-योग का पूरा लेक्चर सुनकर और उसे अपने सीधे सादे प्रेममार्ग की अपेक्षा कहीं दुर्गम और दुर्बोध देखकर गोपियाँ कहती हैं—

काहे को रोकत मारग सूधो?
सुनहु, मधुप! निर्गुन-कंटक तें राजपंथ क्यों रूँधो?
ताको कहा परेखो कीजै जानत छाँछ न दूधो।
सूर मूर अक्रूर गए लै ब्याज निबेरत ऊधो॥

हम अपने प्रेम या भक्ति के सीधे और चौड़े राजमार्ग पर जा रही हैं। उस मार्ग में तुम ये निर्गुण-रूपी काँटे क्यों बिछाते हो? हमारा रास्ता क्यों रोकते हो? जैसे तुम्हारे लिये रास्ता है, वैसे ही हमारे लिये भी है। तुम अपने रास्ते चलो, हम अपने रास्ते चलें। एक दूसरे का रास्ता रोकने क्यों जाय? भक्ति और ज्ञान के सम्बन्ध में सूर का यही मत समझिए। वे ज्ञान के विरोधी नहीं,

भक्ति-विरोधी ज्ञान के विरोधी हैं। गोपियों से वे उद्धव की बातों के अन्तिम उत्तर के रूप में कहलाते हैं—

बार बार ये बचन निवारो।
भक्ति-विरोधी ज्ञान तिहारो॥

मनुष्यत्व की पूर्ण अभिव्यक्ति रागात्मिका वृत्ति और बोध-वृत्ति दोनों के मेल में है। अतः इन में किसी का निषेध उचित नहीं। कोई एक की ओर मुख्यतः प्रवृत्त रहता है, कोई दूसरे की ओर। कुछ ऐसे पूर्ण-प्रज्ञ भी होते हैं, जिन में हृदय-पक्ष और बुद्धि-पक्ष दोनों की पूर्णता रहती है। वल्लभाचार्य्यजी ऐसे ही थे।

सूरदासजी वल्लभाचार्य्यजी के शिष्यों में से थे। वल्लभाचार्य्यजी ज्ञान-मार्ग की ओर तो वेदान्त की एक शाखा के प्रवर्तक थे और भक्ति-मार्ग की ओर एक अत्यन्त प्रेमोपासक सम्प्रदाय के। वल्लभाचार्य्यजी का अद्वैतवाद 'शुद्धाद्वैत' कहलाता है। रामानुजाचार्य्यजी ने अद्वैत को पक्षों (चित् और अचित्) से युक्त या विशिष्ट दिखाया था। वल्लभ ने यह विशिष्टता हटाकर ब्रह्म को फिर शुद्ध किया। उन्होंने निरूपित किया कि सत्, चित् और आनन्द स्वरूप ब्रह्म अपने इच्छानुसार इन तीनों स्वरूपों का आविर्भाव (विकास) और तिरोभाव करता रहता है। जड़ जगत् भी ब्रह्म ही है, पर अपने चित् और आनन्द स्वरूपों का पूर्ण तिरोभाव किए हुए तथा सत् स्वरूप का कुछ अंशतः आविर्भाव किए हुए। चेतन जगत् भी ब्रह्म ही है जिसमें सत्, चित् और आनंद इन तीनों स्वरूपों का कुछ आविर्भाव और कुछ तिरोभाव रहता है। इस सिद्धान्त में मायात्मक जगत् मिथ्या नहीं माना गया है। माया ब्रह्म ही की शक्ति मानी गई है जो उसी की इच्छा से विभक्त होती है। जीव अपने शुद्ध ब्रह्म स्वरूप को तभी प्राप्त करता है, जब आविर्भाव और तिरोभाव दोनों मिट जाते हैं; और यह बात केवल ईश्वर के अनुग्रह से ही, जिसे 'पुष्टि' या 'पोषण' कहते हैं, हो

सकती है। इस अनुग्रह की प्राप्ति के लिये वल्लभाचार्य्य ने एक विस्तृत उपासना-पद्धति भी चलाई, जिसे 'पुष्टि मार्ग' कहते हैं। रामानुज और वल्लभ दोनों का मोक्ष कैवल्य से भिन्न है। रामानुज की मुक्ति सारूप्य या सालोक्य मुक्ति है, वल्लभ की सायुज्य। जिस प्रकार वल्लभ की मुक्ति प्रेम के चरमानन्द की दशा है, उसी प्रकार उनके उपास्य भी प्रेम-मूर्त्ति कृष्ण हैं।

जगत् के नाना रूपों में ब्रह्म की जो प्रत्यक्ष सत्ता दिखाई पड़ रही है, उसका जो सगुण स्वरूप चारों ओर भासित हो रहा है, उसका बार बार निषेध और निर्गुण ब्रह्म का अत्यंत सूक्ष्म निरूपण सुनकर गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि तुम क्यों व्यर्थ तिनके की ओट में इतना भारी दमकता हुआ सुमेरु छिपाने का उद्योग कर रहे हो—

सुनिहै कथा कौन निर्गुन की, रचि पचि बात बनावत।
सगुन-सुमेरु प्रगट देखियत, तुम तृन की ओट दुरावत॥

उद्धव के ब्रह्म-निरूपण का कुछ भी आशय गोपियों की समझ में नहीं आता। वे पूछती हैं कि वह बिना रूप-रेखावाला तुम्हें कभी प्रत्यक्ष भी होता है, तुम्हें आकर्षित और मोहित भी करता है—

रेख न रूप, बरन जाके नहिं ताको हमें बतावत।
अपनी कहो, दरस वैसे को तुम कबहूँ हो पावत ?
मुरली अधर धरत है सो, पुनि गोधन बन बन चारत ?
नैन बिसाल, भौंह बंकट करि देख्यो कबहुँ निहारत ?
तन त्रिभंग करि, नटवर वपु धरि पीतांबर तेहि सोहत ?
सूरश्याम ज्यों देत हमैं सुख त्यों तुमको सोउ मोहत ?

'बतावत' पद में असंगतता किस प्रकार व्यंग्य है! जिसकी न कोई 'रूप-रेखा' न वर्ण, उसे बताना या बताने का प्रयत्न करना असंगत ही है। बताई वह वस्तु जाती है जिसका कुछ विशिष्ट स्वरूप होता है। पूर्णतया स्पष्ट और निर्दिष्ट अर्थ व्यक्त न होने पर भी कुछ शब्दों और वाक्यों

को बार बार दुहराना ही तो किसी वस्तु का सम्यक् साक्षात्कार नहीं है। यदि किसी प्रकार मान भी लें कि तुमने उस निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप समझा है तो यह बताओ कि वह स्वरूप तुम्हारे मन को मोहता भी है, तुम्हें कुछ आकर्षित भी करता है ? यदि नहीं, तो वह व्यवहार या उपासना के योग्य नहीं, केवल तर्क-वितर्क के लिये ही है।

गोपियाँ आग्रह के साथ कहती हैं कि जिसमें तुम मन लगाने को कहते हो, उसकी कोई ऐसी बात या ऐसा लक्षण तो बताओ, जिस पर मन ठहराया जा सके। पहले तो देश और काल के बीच उसका कोई स्थान हमारे लिये निर्दिष्ट कर दो—

निर्गुन कौन देस को बासी ?

मधुकर ! हँसि समझाय; सौंह दै बूझति साँच, न हाँसी ॥

स्त्रियों के कैसे स्वाभाविक हाव-भाव-भरे ये वचन हैं—"कसम है, हम ठीक ठीक पूछती हैं, हँसी नहीं, कि तुम्हारा निर्गुन कहाँ का रहनेवाला है"। कुछ विनोद, कुछ चपलता, कुछ भोलापन, कुछ घनिष्ठता—कितनी बातें इस छोटे से वाक्य से टपकती हैं !

ज्ञान-मार्गी वेदान्तियों और दार्शनिकों के सिद्धान्तों की लोक में अव्यवहार्य्यता तथा उनके बेडौल और भड़कीले शब्दों के अर्थों की अस्पष्टता और दुर्बोधता आदि की ओर गोपियों की यह झुँझलाहट कैसा संकेत कर रही है—

याकी सीख सुनै ब्रज को, रे !

जाकी रहनि कहनि अनमिल अति, कहत समुझि अति थोरे ॥

'उसकी बात कौन सुने, जो कहता कुछ है और करता कुछ है; तथा जो ऐसी बातें मुँह से निकालता है जिनको खुद बहुत ही कम समझता है।' पिछले कथन से सब के नहीं तो अधिकांश ब्रह्मज्ञान छाँटनेवालों के स्वरूप का चित्रण हो जाता है। ये बहुत से रटे रटाये वाक्यों और शब्दों की झड़ी बाँधा करते हैं, जिनके अर्थ को स्पष्ट

धारणा उन्हें कुछ भी नहीं रहती। बिना समझी हुई बातें बकबक वे लोगों के बीच बड़े समझदार बना करते हैं।

निर्गुण की नीरसता और सगुण की सरसता किस प्रकार अपने हृदय के सच्चे अनुभव के रूप में गोपियाँ उद्धव के सामने क्या, जगत के सामने रखती हैं—

ऊनो कर्म कियो मातुल बधि मदिरा-मत्त प्रमाद।
सूरश्याम एते अवगुन में निर्गुन तें अति स्वाद॥

ज्ञान मार्ग का गोपियों ने तिरस्कार तो किया, पर यह सोचकर कि कहीं उद्धव का जी न दुखा हो, वे उनका समाधान भी करती हैं। वे समझाती हैं कि ज्ञान मार्ग को हम बुरा नहीं कहतीं हैं, वह अत्यन्त श्रेष्ठ मार्ग है; पर अपनी रुचि को हम क्या करें? वह हमारे अनुकूल नहीं पड़ता। रुचि-भिन्नता दो समान वस्तुओं में भी भेद करके एक की ओर आकर्षित करती है और दूसरी से दूर रखती है—

ऊधो! तुम अति चतुर सुजान।
द्वै लोचन जो विरद किए श्रुति गावत एक समान।
भेद चकोर कियो तिनहू में विधु प्रीतम, रिपु भान॥

उद्धव अपनी सी कहते जा रहे हैं कि बीच में कोयल बोल उठती है। गोपियाँ चट उद्धव का ध्यान उधर ले जाती हैं—

ऊधो! कोकिल कूजत कानन।
तुम हमको उपदेस करत हौ भस्म लगावन आनन॥

यह सुनो! कोयल कूक रही है। तुम तो हमें राख मलने को कह रहे हो; उधर प्रकृति क्या कह रही है, वह भी सुनो।

(४) हस्त-लिखित हिन्दी पुस्तकों की खोज

[लेखक —राय बहादुर बा० हीरालालजी बी० ए० जबलपुर ।]

(१)

आज कोई साठ वर्ष होते हैं जब कि लाहौर के पंडित राधाकृष्ण ने संस्कृत हस्तलिखित पुस्तकों की खोज के लिये सरकार को प्रेरणा की। उसका फल यह हुआ कि सारे भारतवर्ष के दो विभाग किए गए और हर एक विभाग के लिये एक एक अन्वेषक नियुक्त किया गया। उत्तरीय विभाग में डाक्टर ब्यूलर की नियुक्ति हुई और दक्षिण के लिये डाक्टर कीलहार्न की। ये विद्वान् जर्मन थे; परन्तु खोज के समय भारतवर्षीय सरकार की नौकरी करते थे। डाक्टर ब्यूलर बम्बई की पाठशालाओं के इन्स्पेक्टर थे और डाक्टर कीलहार्न दक्खिन कालेज पूना के प्रिन्सिपल थे। इन दोनों विद्वानों ने अत्यंत परिश्रम के साथ सहस्रों अमूल्य ग्रन्थों का पता लगाया जिनका लोग नाम तक भूल गए थे। इस खोज में पीछे से डाक्टर रामकृष्ण गोपाल भांडारकर और उनके ज्येष्ठ पुत्र श्रीधर रामकृष्ण तथा प्राकृत भाषा के पंडित डाक्टर पीटर्सन साहब सम्मिलित किए गए। इन्होंने भी बड़े परिश्रम से अन्वेषण किया और अपनी विद्वत्ता के बल से ऐसी रिपोर्टें लिखी कि जिनको पढ़कर अज्ञ भी विज्ञ हो सकता है। भारतीय खोज की हवा चलते ही प्रान्तिक खोज का सिलसिला जमा; और प्रत्येक प्रदेश के लिये अनेक विद्वानों द्वारा हस्तलिखित पुस्तकों के सूचीपत्र बनवाए गए जिन्हें छपाने पर बड़ी मोटी मोटी पुस्तकें बन गईं। विलायत में भी अनेक देशों के संग्रहालयों की संस्कृत की पुस्तकों की सूचियाँ तैयार हो गईं। इन्हीं सब के आधार पर डाक्टर औफ्रेक्ट ने कैटेलोगस कैटेलोगोरम (Catalogus

Catalogorum) लिखा जो संस्कृत और प्राकृत ग्रन्थों तथा ग्रन्थकारों का एक अपूर्व वृहत् कोष है ।

संस्कृत के ग्रन्थों की खोज का अनुकरण कर सन् १८९५ ई० में नागरीप्रचारिणी सभा ने हिन्दी पुस्तकों की खोज के लिये मन्तव्य स्थिर किया और बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी को इस काम को हाथ में लेने के लिये प्रेरणा की। काम तो आरंभ कर दिया गया, परन्तु एक ही साल में थकावट आ गई। तब सभा ने भारत सरकार और संयुक्त प्रान्त की सरकार से लिखा पढ़ी की। उस पर हुक्म हुआ कि संस्कृत ग्रन्थों की खोज के साथ साथ हिन्दी पुस्तकों की भी खोज की जाय; परन्तु इससे भी संतोषदायक फल न निकला। तब सन् १८९९ ई० में सभा ने भारतीय सरकार से इस विषय में लिखा पढ़ी की और संयुक्त प्रान्त की सरकार ने सभा के ही द्वारा खोज कराने के लिये उदारतापूर्वक ४००) सालाना की सहायता देने का वचन दिया और रिपोर्ट को छपाने का भार भी अपने ऊपर ले लिया। पश्चात् यह रकम ५००), फिर १०००) और अब २०००) कर दी गई है। सभा ने अन्य प्रान्तिक सरकारों को भी इस विषय में उत्तेजित किया; परन्तु सिवाय पंजाब के कहीं से आर्थिक सहायता का प्रबन्ध न हुआ। पंजाब की सरकार ने तीन साल के लिये ५००) सालाना देना मंजूर किया और फिर अपनी सहायता बन्द कर दी।

अब हम यहाँ पर संयुक्त प्रान्त की खोज के काम का थोड़ा सा वर्णन करेंगे जिससे प्रकट होगा कि गत २६ वर्षों में कितने महत्व का कार्य संपादित हुआ है और हिन्दी जगत को क्या लाभ हुआ है। इसके पूर्व यहाँ पर काम करने के तरीके का कुछ दिग्दर्शन करा देना आवश्यक जान पड़ता है। इस काम के लिये एक अवैतनिक निरीक्षक नियुक्त किया जाता है जिससे बारह वर्ष योग देने की आशा की जाती है। उसको खोज करने के लिये एक या एक से अधिक अन्वेषक (एजंट)

दिए जाते हैं जो गाँवों में घूमकर पुस्तकों की खोज करते और उनका विवरण तैयार करते हैं। इस विवरण में ग्रंथ तथा ग्रन्थकर्त्ता का नाम, ग्रंथ का विस्तार, लिपि, निर्माणकाल, लिपिकाल, ग्रन्थ के मालिक और स्थान का पता आदि लिखा जाता है और ग्रन्थ के आदि तथा अंत का अंश उद्धृत किया जाता है ताकि पाठक उसकी शैली की जाँच कर सकें। इसके साथ ग्रन्थ के विषय का ब्यारेवार वर्णन किया जाता है। ग्रन्थ और ग्रन्थकार के विषय में जो अन्य बातें ज्ञात होती हैं, उनको भी नोट में दर्ज किया जाता है। इस सामग्री से आदि में वार्षिक रिपोर्ट बनाई जाती थी और सहायतादात्री सरकार को भेजी जाती थी जो उसे छाप देती थी। अब त्रैवार्षिक रिपोर्ट भेजने का नियम कर दिया गया है। गत २[illegible] साल में ६ वार्षिक और [illegible] त्रैवार्षिक रिपोर्ट लिखी गई हैं। उनमें से नौ छप चुकी हैं; शेष छप रही हैं। चूँकि इन रिपोर्टों के छपने में बहुत समय लगता है, इसलिये अब यह विचार किया गया है कि पाठकों के सूचनार्थ त्रैवार्षिक रिपोर्ट के तैयार होते ही उसका सारांश नागरीप्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित कर दिया जाय। इसलिये इस लेख में हम बतौर भूमिका के साधारण चर्चा करेंगे। पत्रिका के दूसरे अंक में सन् १९१७—१९ की त्रैवार्षिक रिपोर्ट का सारांश दिया जायगा; तीसरे में सन् १९२०—२२ की रिपोर्ट का और चौथे में सन् १९२२—२५ की रिपोर्ट का।

खोज के काम का परिणाम बतलाने के लिये नीचे एक तालिका दी जाती है जिसके देखने से तुरन्त प्रकट हो जायगा कि हर त्रिवर्ष में कितना काम किया गया। तुलना की समानता के लिये प्रथम ६ वर्ष की सालाना रिपोर्टें दो त्रैवार्षिक रिपोर्टों के रूप में दिखलाई गई हैं। उनके सामने की संख्याएँ तीन साल की संख्याओं के योग से प्रस्तुत की गई हैं।

रिपोर्ट	रिपोर्ट लेखक	ग्रन्थ संख्या	ग्रन्थकर्त्ताओं की संख्या	ग्रंथ जिनमें ग्रंथकर्ताओं के नाम नहीं मिले।
सन् १९००-०२	बाबू श्यामसुंदर दास बी. ए.	६६०	२३६	२७
सन् १९०३-०५		४६९	३१२	३४
सन् १९०६-०८		१०८३	४४७	२१०
सन् १९०९-११	पंडित श्यामविहारी मिश्र एम. ए.	८६६	४५७	९२
सन् १९१२-१४ या १६		४८२	२१८	११२
सन् १९१७-१९	राय बहादुर बा० हीरालाल बी. ए.	४४८	२०६	११२
सन् १९२०-२२		३३१	२०७	७
सन् १९२३-२५		११३०	५५०	९८
कुल—		५४६९	२५२६	६९२

पहले नौ वर्षों में निरीक्षक का काम बाबू श्यामसुन्दरदासने किया। पश्चात् सन् १९०९ से पंडित श्यामविहारी मिश्र बारह वर्ष के लिये नियुक्त हुए। ६ साल तक काम ठीक चला; फिर दो साल तक बंद रहा। फिर पंडित शुकदेवविहारी मिश्र अथवा समय मिश्र देखरेख करने लगे। इतने में पंडित श्यामविहारी मिश्र की १२ साल की अवधि पूरी हो गई। तब सन् १९२० के अंत में पं० शुकदेवविहारी की नियुक्ति की गई, परन्तु उन्होंने जूलाई सन् १९२२ में निरीक्षक के पद का त्याग कर दिया। तब विवश होकर बाबू श्यामसुन्दरदास को काम चलाना पड़ा। अन्त में सन् १९२३ से मुझे यह काम सौंपा गया। इस

प्रकार खोज के अभी तक चार निरीक्षक हुए हैं। इनमें बाबू श्यामसुन्दर-दास को प्रायः दस वर्ष तक काम करना पड़ा है; ३ वर्ष से मैं कर रहा हूँ; शेष १३ वर्षों में दो मिश्र बन्धुओं का अधिकार रहा, जिसमें मिश्रित काम चला। कदाचित् किसी नियम के अनुसार आपस में काम का बँटवारा कर लिया गया हो, परन्तु उसका कहीं उल्लेख नहीं पाया जाता। सभा को इन १३ सालों के बीच केवल दो रिपोर्टें उपलब्ध हुईं।

ऊपर दी हुई तालिका की संख्याओं का मनन करने से प्रकट हो जायगा कि अभी तक कोई साढ़े पाँच हज़ार हस्तलिखित ग्रन्थों का पता लगा है। इनमें से कई ऐसे हैं जिनकी नक़लें पृथक् पृथक् व्यक्तियों के पास से मिली हैं; इसलिये एक ही ग्रन्थ की अनेक प्रतियाँ गिनती में शामिल हो गई हैं। तथापि दुहरी लिखी प्रतियाँ छाँटने पर भी कम से कम तीन हज़ार ग्रन्थ ऐसे निकलेंगे जो स्वतंत्र होंगे; और उनमें प्रायः दो हज़ार ग्रन्थ ऐसे निकलेंगे जिनका कभी नाम भी नहीं सुना गया था। इनमें बहुतेरे उच्च कोटि के ग्रन्थ हैं जिन के छपाने का भी प्रयत्न सभा ने किया है; परन्तु यथोचित द्रव्य न होने के कारण जैसी चाहिए, वैसी वृद्धि अभी तक नहीं हो पाई। ग्रन्थकर्ताओं की भी संख्या अढ़ाई हज़ार से अधिक बैठती है। यदि एक से अधिक बार किसी ग्रथकर्त्ता के नाम आने के कारण संख्या घट भी जाय, तो भी निदान २००० अलग अलग ग्रन्थकार निकलेंगे। अभी खोज का काम एक ही प्रांत में चौथाई भी नहीं हुआ; तब तो इतनी संख्या निकली। पूरा होने पर कहाँ तक जायगी, इसका अभी अनुमान ही नहीं किया जा सकता। प्रायः ये सभी ग्रंथकार १८५० ई० के पूर्व के हैं। उसके पश्चात् अनेक लेखक हो गए हैं। यदि इन सब का हिसाब जोड़ा जायगा, तो हिन्दी के साहित्य के भंडार का गौरव हृदयंगम हो सकेगा। यह खोज ही का प्रताप है कि मिश्र बन्धु विनोद के समान, हिन्दी साहित्य के इतिहास का इतना बड़ा ग्रन्थ लिखा जा सका। इसी के आधार पर दो अँगरेज़ी ग्रन्थ बने

(५) वाल्मीकि और उनके प्राकृत सूत्र

[लेखक—श्रीयुक्त पंडित बटुकनाथ शर्म्मा एम० ए० और पं० बलदेव उपाध्याय एम० ए०]

जो विद्वान् प्राकृत भाषा और साहित्य से कुछ भी परिचित हैं, उनको यह बताने की आवश्यकता नहीं कि संस्कृत व्याकरण के शास्त्रीय ढंग पर लिखे हुए प्राकृत के एक दो नहीं बल्कि अनेक व्याकरण वर्तमान हैं। पहले पहल उपलभ्य व्याकरणों में भरत कृत नाट्य-शास्त्र में संक्षिप्त रूप से दिए हुए प्राकृत व्याकरण का नाम लिया जाना चाहिए*। किंतु उपलब्ध पाठ इतना थोड़ा और भ्रष्ट है कि उसका उपयोग करना अभी संभव नहीं है। इसलिये प्राकृत व्याकरणों में वररुचि ही सब से प्रथम तथा श्रेष्ठ समझे जाते है। यद्यपि इनके बाद अनेक आचार्यों ने बड़े बड़े ग्रंथ लिखे, पर इनकी कीर्ति उसी तरह अक्षुण्ण चली जाती है।

किन्तु प्राकृत व्याकरणों का यदि ऐतिहासिक ढंग से विचार किया जाय, तो ग्यारहवीं—बारहवीं शताब्दी बड़े महत्त्व की मालूम पड़ती है। इन शताब्दियों में बड़े बड़े आचार्यों ने अनेक प्रकार से विद्वत्ता-पूर्ण ग्रंथ लिखे। इन सब में जैनाचार्य हेमचंद्र का स्थान बहुत ऊँचा है। इन्होंने पाणिनि का अनुकरण करते हुए आठ अध्यायों का बृहत् व्याकरण लिखा। इस व्याकरण के आखिरी अध्याय में इन्होंने प्राकृत भाषाओं का भी विशद रूप से वर्णन किया है। यह व्याकरण जैनों में बहुत प्रसिद्ध रहा है। इन्हीं के सूत्रों से मिलते हुए सूत्र अन्य कई प्राकृत व्याकरणों में भी पाए जाते हैं।

इन ग्रंथों में तीन ग्रंथ ऐसे हैं जिनके सूत्र अविकल वही के वही

---

* भारतीय नाट्यशास्त्र, अध्याय १७.

है। सूत्रों की व्याख्या भिन्न भिन्न ढंग और भिन्न भिन्न क्रम से की गई है; इसलिये सूत्रों के एक रहने पर भी ये ग्रंथ एक दूसरे से बिलकुल विभिन्न से हो गए हैं। इन ग्रंथों में से सब से प्रथम त्रिविक्रम का प्राकृत व्याकरण है। यह ग्रंथ इस समय दुर्लभ सा हो रहा है। यह विजिगापट्टम से निकलनेवाली ग्रंथ प्रदर्शिनी सीरीज में प्रकाशित होना शुरू हुआ था, किन्तु इस समय उसका कुछ पता नहीं लगता। हस्तलिखित प्रतियाँ कई पुस्तकालयों में वर्तमान हैं। स्वर्गीय डाक्टर लड्डू इस ग्रंथ की प्रतिलिपि अपने हाथ से करके जर्मनी से लाए थे। यह प्रतिलिपि उनकी मृत्यु के बाद काशी में नीलाम हुई थी। अब वह कहाँ तथा किसके पास है, इसका पता नहीं। त्रिविक्रम का ठीक ठीक समय निर्दिष्ट करना कठिन है। इतना ही कहा जा सकता है कि ये १२ वीं शताब्दी में होनेवाले हेमचंद्र के अनतर और मल्लिनाथ के पुत्र कुमारस्वामी के पूर्व हुए। अत ये वैक्रमी तेरहवीं शताब्दी के आसपास के किसी समय में हुए होंगे।

इनका व्याकरण अन्य व्याकरणों से कहीं बड़ा है। उसमें १०८५ सूत्रों पर बड़े ही पाण्डित्यपूर्ण ढंग से विशद टीका लिखी गई है। यह व्याकरण किसी समय बड़े ही आदर की दृष्टि से देखा जाता था। 'षड्भाषा चन्द्रिका' के लिखनेवाले लक्ष्मीधर स्वयं बहुत उच्च कोटि के विद्वान् थे। वे अपने ग्रंथारम्भ में यों लिखते हैं—

"वृत्तिं त्रैविक्रमीं गूढां व्याचिख्यासन्ति ये बुधा
षड्भाषाचन्द्रिका तैस्तन् व्याख्यारूपा विलोक्यताम्"।

अर्थात्—जो विद्वान् त्रिविक्रम की गूढ वृत्ति को समझना और समझाना चाहते हों, वे उसकी व्याख्यारूप इस षड्भाषाचन्द्रिका को देखें।

त्रिविक्रम ने अपने ग्रंथ में सूत्रों के क्रम से व्याख्या की है। इनकी यह टीका पाणिनीय अष्टाध्यायी की टीका काशिका वृत्ति के ढग की है।

इनके बाद पूर्वोल्लिखित लक्ष्मीधर का नाम आता है। लक्ष्मीधर का भी ठीक समय निर्दिष्ट करना दुष्कर है। इतना ही कहा जा सकता है कि वे त्रिविक्रम के अनन्तर और अप्पयदीक्षित के पूर्व हुए। अप्पयदीक्षित ने अपने 'प्राकृत-मणिदीप' में अन्यों के साथ इनका भी नाम दिया है।

लक्ष्मीधर ने भी उन्हीं १०८५ सूत्रों पर टीका लिखी है; किंतु इस व्याख्या का क्रम त्रिविक्रम की व्याख्या का—अर्थात् सूत्रों का—क्रम नहीं है। इनकी व्याख्या विषय-क्रम से की गई है। इनके ग्रंथ की तुलना भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्त कौमुदी से की जा सकती है। इस ग्रंथ का संपादन पंडित कमलाशंकर प्राणशंकर त्रिवेदी ने किया है और प्रकाशन बॉम्बे संस्कृत सीरीज में हुआ है। इस मंडल के तीसरे व्यक्ति सिंहराज हैं। सिंहराज का समय भी पूर्वोक्त ढंग से साधारण तरह से ही निश्चित किया जा सकता है। हुल्श महाशय का कहना है कि इनके ग्रंथ में भट्टोजि की सिद्धान्तकौमुदी और नागोजि भट्ट के परिभाषेन्दुशेखर से उद्धरण मिलते हैं। यदि यह बात ठीक हो, तो वे दो अढ़ाई शतक से पुराने नहीं माने जा सकते।

इनके ग्रंथ का नाम है—प्राकृतरूपावतार। इस ग्रंथ में भी उन्हीं पूर्वोक्त सूत्रों पर लक्ष्मीधर की तरह विषय-क्रम से व्याख्या लिखी गई है। यह व्याख्या पूरे १०८५ सूत्रों पर नहीं की गई है। इन सूत्रों में से केवल ५७५ सूत्र चुन लिए गए हैं और उन पर संक्षेप से टीका लिखी गई है। यह ग्रंथ एक तरह से लक्ष्मीधर की षड्भाषाचंद्रिका का संक्षिप्त रूप कहा जा सकता है। इसकी तुलना वरदराज की मध्य-कौमुदी या लघुकौमुदी से हो सकती है। इस ग्रंथ का सम्पादन डाक्टर हुल्श ने तथा प्रकाशन विलायत की रायल एशियाटिक सोसाइटी ने किया है।

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट ही है कि इन तीनों ग्रंथों में जिन सूत्रों

पर व्याख्या लिखी गई है, वे बिल्कुल वही के वही हैं। यहाँ अब यह प्रश्न उठता है कि ये प्राकृत व्याकरण के सूत्र किसके और कब के बनाए हुए हैं। इस प्रश्न पर बहुत कुछ वाद विवाद हो चुका है, जिसका सारांश नीचे दिया जाता है।

श्रीयुक्त भट्टनाथ स्वामी ने इंडियन एंटिक्वेरी के ४०वें भाग (१९११ ई०) में Trivikrama and his followers नामक एक विद्वत्तापूर्ण लेख लिखा है। उसमें उन्होंने बहुतसी युक्तियों द्वारा यह प्रमाणित करना चाहा है कि इन सूत्रों के निर्माता त्रिविक्रम ही हैं। त्रिविक्रम विरचित ग्रंथ के आरंभ में निम्नलिखित श्लोक भी मिलते हैं—

> प्रकृतेः संस्कृतात् साध्यमानात् सिद्धाच्च यद् भवेत्।
> प्राकृतस्यास्य लक्ष्यानुरोधि लक्ष्म प्रचक्ष्महे ॥
> प्राकृतपदार्थसार्थप्राप्त्यै निजसूत्रमार्गमनुजिगमिषताम्।
> वृत्तिर्यथार्थसिध्यै त्रिविक्रमेणागमक्रमात् क्रियते ॥

ग्रंथ के अंत में यह श्लोक मिलता है—

> सप्रत्यय प्रकृतिसिद्ध मदीर्घसूत्र-
> सत्कारकं बहुविधक्रियमार्षदेश्यम्।
> शब्दानुशासनमिदं प्रगुणप्रयोगं
> त्रैविक्रमं जपत मन्त्रमिवार्थसिद्ध्यै ॥

पहले श्लोक का आशय यह है—संस्कृत से पूर्वसिद्ध या सिद्ध होनेवाले जो प्राकृत शब्द हैं, लक्ष्य के अनुसार उनके लक्षण हम कहते हैं।

भट्टनाथ स्वामी का कहना है कि यहाँ आया हुआ 'प्रचक्ष्महे' शब्द और 'देश्यमार्षम्' इत्यादि श्लोक में प्रयुक्त 'प्रचक्ष्महे' शब्द से स्पष्ट मालूम होता है कि इन सूत्रों के रचयिता त्रिविक्रम ही थे।

दूसरे श्लोक का तात्पर्य है—अपने सूत्र के मार्ग पर चलने की इच्छा रखनेवालों के प्राकृत समझने के लिये आगम के क्रम से त्रिविक्रम यह वृत्ति बनाते हैं।

इस श्लोक को लेकर भट्टनाथ स्वामी ने यह प्रमाणित करना चाहा है कि इन सूत्रों के रचयिता त्रिविक्रम ही हैं। उनका कहना है कि इस श्लोक में आए हुए 'निज' शब्द का त्रिविक्रम को द्योतन करने के अतिरिक्त और कोई अर्थ नहीं हो सकता।

तीसरे श्लोक से भी उन्होंने यही बात सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि यदि ये सूत्र त्रिविक्रम के बनाए हुए न होते, तो वे 'त्रैविक्रम शब्दानुशासनमिदम्' कभी न लिखते।

इन युक्तियों का खण्डन बड़े ही मार्मिक ढंग से अपनी 'षड्भाषा चन्द्रिका' की भूमिका में पण्डित कमलाशंकर प्राणशंकर त्रिवेदी जी ने किया है। उनकी युक्तियों का भी ऊपर के क्रम से ही संक्षेप में हम यहाँ उल्लेख करते हैं—

'प्रचक्ष्महे' शब्द से जो भट्टनाथ स्वामी त्रिविक्रम को सूत्रकार मानना चाहते हैं, यह ठीक नहीं। जिस दूसरे श्लोक का उन्होंने उल्लेख किया है, उसमे 'प्रचक्ष्महे' शब्द है ही नहीं। वह पूरा श्लोक यह है—

देश्यमार्षं च रूढत्वात् स्वतन्त्रत्वाच्च भूयसाम ।
लक्षम वक्ष्यते तस्य सम्प्रदायोपबोधके ॥

ऊपर दिए हुए पहले श्लोक में जो 'प्रचक्ष्महे' शब्द आया है, उससे यदि त्रिविक्रम का अभिप्राय अपने को सूत्रकार बतलाने का था, तो उन्होंने अपने ग्रन्थ को वृत्ति क्यों लिखा ? उसके बादवाला ही श्लोक जो ऊपर दिया हुआ है, उसके 'वृत्तिर्यथार्थसिद्ध्यै' इत्यादि शब्दों से ग्रन्थ के वृत्ति होने की सूचना मिलती है। उसी के अनन्तर यह श्लोक आता है—

तद्भवतत्समदेश्यप्राकृतरूपाणि पश्यता विदुषाम् ।
दर्पणतयेयमवनौ वृत्तिस्त्रैविक्रमी जयति ।

इस श्लोक में यह ग्रन्थ वृत्ति ही कहा गया है।

ऊपर दिए हुए श्लोकों में जो प्राकृत पदार्थ इत्यादि दूसरा श्लोक है, उसमें आए हुए 'निज सूत्र' इत्यादि शब्दों का श्रीयुत भट्टनाथ स्वामी को बड़ा सहारा है; किन्तु उसका अर्थ उन्होंने कुछ भी नहीं समझा। 'निजसूत्र' से वे 'अपना बनाया हुआ सूत्र' ऐसा अर्थ समझते हैं। उन्होंने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि जैनों में कुछ धर्म-ग्रन्थ सूत्र के नाम से प्रचलित हैं। उनमें से अधिकांश प्राकृत में लिखे गए हैं; अतः उनका 'निजसूत्र' इत्यादि से अपने जैन-धर्म ग्रन्थ की ओर ही संकेत है। अन्यथा 'अनुजिगमिषताम्' पद का भी क्या स्वारस्य होगा! ऊपर दिए हुए श्लोकों के पहले त्रिविक्रम ने एक श्लोक दिया है। उसमें सूत्र शब्द का दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता। वह श्लोक यह है—

अनन्यार्थः सुखोच्चारः शब्दः साहित्यजीवितम्।
वचः प्राकृतमेवेति मतं सूत्रानुवर्तिनाम्॥

इससे स्पष्ट विदित होता है कि 'निज' शब्द का 'अपना' (अर्थात् त्रिविक्रम का) अर्थ करना ठीक नहीं है। हुल्श साहब (Dr. Hultzsch) ने 'निज' शब्द का तामिल भाषानुसार 'उचित' 'वास्तविक' अर्थ किया है; पर उसकी भी आवश्यकता नहीं है।

तीसरे श्लोक में 'त्रैविक्रमं शब्दानुशासनम्' इत्यादि से श्रीयुत भट्टनाथ स्वामी ने त्रिविक्रम को जो सूत्रकार निर्धारित किया है, वह भी ठीक नहीं है। यदि शब्दानुशासन शब्द लिख देने से ही कोई सूत्रकार बन सके, तो यह पद पहले महर्षि पतञ्जलि को मिलना चाहिए, क्योंकि उनका महाभाष्य 'अथ शब्दानुशासनम्' से प्रारम्भ होता है।

ऊपर दी गई युक्तियों से स्पष्ट हो है कि इन सूत्रों के रचयिता त्रिविक्रम नहीं हैं। फिर यहाँ पहला प्रश्न उपस्थित होता है कि इन सूत्रों के रचयिता कौन हैं। यदि पूछिए तो इस प्रश्न का उत्तर लक्ष्मीधर ने अपनी 'षड्भाषा चन्द्रिका' में स्पष्ट दे दिया है। उनका एक श्लोक इस प्रकार है—

वाग्देवी जननी येषां वाल्मीकिर्मूलसूत्रकृत् ।
भाषाप्रयोगा ज्ञेयास्ते षड्भाषाचन्द्रिकाध्वना ॥

उनके लिखने से यही प्रतीत होता है कि इनके रचयिता कोई 'वाल्मीकि' नाम के व्यक्ति थे। लक्ष्मीधर को इस विषय में कुछ भी संदेह नहीं था कि इन सूत्रों के रचयिता वाल्मीकि हैं । इसके दो कारण हो सकते हैं। या तो उन्होंने गुरु परम्परा से यह बात सुनी होगी या स्वयं ग्रन्थ देखा होगा। यदि केवल सुनी सुनाई ही बात होती, तो वे 'वाल्मीकिः किल सूत्रकृत्' लिखते, न कि 'वाल्मीकिर्मूलसूत्रकृत्'। राव बहादुर रंगाचार्य के हस्तलिखित ग्रन्थों के सूचीपत्र में एक ऐसे ग्रन्थ का वर्णन आया है। इस ग्रन्थ में सूत्र वे ही हैं जिन पर त्रिविक्रम आदि ने टीका लिखी है; किन्तु इसमें दो ही अध्याय हैं। इसके आदि और अन्त के वाक्य ध्यान देने योग्य हैं।

इस ग्रंथ का आरम्भ इन श्लोकों से होता है—

येन श्रीरामचरितमधिगम्य सुरर्पितः ।
श्रीमद्रामायणं प्रोक्तं तस्मै वाल्मीकये नमः ॥

येन निर्मलिता ना (गा) वः षड्भाषाकृतयो नृणाम् ।
विमलैः सूक्तकतकैस्तस्मै वाल्मीकये नमः ॥

स्वान्तस्य काव्येन गिरां च पण्णां
सूत्रैर्नराणां कलुषं प्रपत्स्या ।
पराकरोद्यः प्रथमः कवीनां
वाल्मीकिमेनं मुनिमानतोऽस्मि ॥

और अन्त में यह लिखा हुआ है—

श्री वाल्मीकीयेषु सूत्रेषु द्वितीयाध्यायस्य पादश्चतुर्थः ।

यद्यपि इसमें रामायण के रचयिता ही इन प्राकृत सूत्रों के कर्ता

यथैव रामचरितं संस्कृतं तेन निर्मितम् ।
तथैव प्राकृतेनापि निर्मितं हि सतां मुदे ॥

पाणिन्याद्यैः शिक्षितत्वात् संस्कृती स्यात् यथोत्तमा ।
प्राचेतसव्याकृतत्वात् प्राकृत्यपि तथोत्तमा ॥

प्राकृतं चार्षमेवेदं यद्धि वाल्मीकिशिक्षितम् ।
तदनार्षं भवेद्यो वै प्राकृतः स्यात् स एव हि ॥

(६) मंत्र-विम्ब

[लेखक—श्रीयुत मौल्वी मुहम्मद यूसुफ़ख़ाँ अफर्ज़, काशी ।]

(ना० प्र० पत्रिका भाग १, अं० २, पृ० १८९ से आगे)

संख्यासूचक शब्द

संख्यासूचक शब्द उन शब्दों को कहते हैं जिनके लिखने से गणित विद्या के किसी अंक का बोध हो। ऐसे शब्द तिथि लिखने में भी काम देते हैं। अधिक करके एकाई के ९ अंक तक के शब्दों और शून्य के शब्द ही से सब काम चल जाता है। एकाई से लिखना आरंभ करते हैं। एकाई के बाद बाईं ओर जो दूसरा अंक होता है वह दहाई, तीसरा सैकड़ा, चौथा हज़ार कहलाता है। इसी प्रकार दस हज़ार, लाख, दस लाख इत्यादि समझ लेना चाहिए। पं० नारायणप्रसाद बेताब कृत "पिंगलसार" में लिखा है कि १, २, ३, ४ इत्यादि के स्थान में ऐसे शब्द कहने का रिवाज है जो गिनती में उतने ही मशहूर हों, जितने अपेक्षित हैं। जैसे ४ के बदले वेद, ३ के बदले काल, २ के बदले नेत्र, १ के बदले शशि कहें। ऐसे भ्रमोत्पादक शब्द, जिनके एक से अधिक अर्थ हों, न लिखें। जैसे, लोक शब्द ३ का बोधक है, और ७ का भी; दोष ३ और १० दोनों का सूचक है।

पर इस बात का ध्यान रखना कठिन है। कई शब्द ऐसे हैं जिनके एक से अधिक अर्थ हैं; और दस ही पाँच शब्द ऐसे निकलेंगे जो अधिक मशहूर हों। फिर भी जहाँ तक बने, कविवरों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए। रणछोड़ भाई उदयराम कृत "रणपिंगल" नाम पुस्तक के अनुसार, कुछ और अधिक बढ़ाकर, संख्यासूचक शब्द कवियों के सुभीते के लिये नीचे लिखे जाते हैं।

३		४		५	
शिखी	गंगा	श्रुति	अब्धि	बाण	शिवमुख
दहन	शिवनेत्र	मुक्ति	व्यूह	भूत	तत्व
अग्नि	संध्या	मोक्ष	कृत	शर	पाप
अनल	राम	फल	सेनांग	इन्द्रिय	क्लेश
हुताशन	ताप	चरण	हरिभुज	यक्ष	पंचामृत
वह्नि	काल	चतुर	वाणी	प्राण	नियम
पावक	अर्चिस्	पुरुषार्थ	गोस्तन	गव्य	कन्या
गुण	शूल	तुर्य	वर्ण	पंच	मास
नाड़ी	ग्राम	उपाय	याम	भज्ञु	कोष
त्रि	तिस्र	युग	पशुपद	कलम्ब	अनिल
दोष	त्रय	आश्रम	मंचपद	पाँच	अंग
विक्रम	गायत्री	ब्रह्ममुख	अकूपार	संधि	कल्पवृक्ष
लोक	शक्ति	विधिवदन	जलेश	इषु	महायज्ञ
हर-नयन	शुष्मा	समुद्र	सरित्पति	वर्म	पल्लव
भुवन	ज्वलन	वेद	उदनवान्	पाण्डव	यम
गंगाधर	अग्निचरण	वारिनिधि	सिन्धु	हरवदन	मन्दार
	वीतिहोत्र	आम्ना	रत्नाकर	अक्ष	हरिचन्दन

६		७		८	
षट्	अंग	मुनि	ऋषि	वसु	प्रहर
शास्त्र	वेदांग	अग	पर्वत	आठ	करि
गुहक	कृत्तिकातारा	हय	ताल	इभ	सात्विकभाव
खट	आततायी	वार	पाताल	अष्ट	धराधर
इति	भ्रमरपद	सप्त	धातु	गज	दिक्पाल
छ	द्विजकर्म	द्वीप	उपविष	दिग्गज	शिवमूर्ति
मक्षिकापद	छप्पयपद	सरोवर	चिरजीवी	नग	सिद्धांत
षड्	अयनमास	सुर	मातृ	मार्गांग	गंध
रस	घात	शर	राज्यांग	सर्प	विधिकर्ण
ऋतु	गुहानन	नग	तांडव	तरु	वारण
जख	शास्त्र	अश्व	नदी	अहि	मद
दर्शन	सपत्न	लोक	अग्निजिह्वा	सुख	ब्रह्मकर्ण
चक्र	द्विपद	तुरग	शिखरिन्	सिद्धि	दन्ती
रिपु	अहित	तुरंग	अहार्य	योग	दन्तावल
राग	दस्यु	घोटक	क्षमाभृत्	हस्ती	द्विप
अरि	पर	स्वर	अद्रि	द्विरद	कुंजर
तर्क	अराति	सूर्याश्व	शैल	याम	वारण

९	१०	११	१२	
भक्ति	दश	रुद्र	रवि	गृह
नव	पंक्ति	शिव	द्वादश	भवन
रंध्र	दिसि	एकादश	द्युमणि	संक्रान्ति
निधि	दिशा	हर	भानु	गुहबाहु
ग्रह	आशा	भव	सूर्य	भूपमंडल
नन्द	दोष	शर्व	आदित्य	सूर्य्य
अंक	अवतार	पशुपति	भग	अर्य्यमा
संख्या	रावणशिर	स्थाणु	इन	दिवाकर
द्वार	स्नान	करण	मित्र	ग्रब्न
प्राण	कामदशा	कुरुसेना	खरांशु	प्रभाकर
व्याघ्रस्तन	धूप	शूलिन्	हंस	भास्कर
ऋच्चा	रूपक	ईशान	साध्य	भास्वान्
सुधाकुंड	क्षम	भूतेश	तरणि	सप्ताश्व
नाथ	सहस्र	पिनाकिन्	अहस्	अर्क
रत्न	सहरा	उम	क	पूषा
धान्य	दिग्	सर्वक्ष	मास	ग्रपति
अंबष्ठ	सदक्	भर्ग	राशि	अरुण

१३	१४	१५	१६	१७
विश्व	चतुर्दश	पंचदश	षोडश	सप्तदश
परम भागवत	रत्न	तिथि	सोरह	अत्यष्टि
जगत्	मनु	घस्र	सोलह्	दशसप्तमी
त्रयोदश	विद्या	अह.	नृप	दशसप्तम्यन्त
रामचन्द्र	मह, इन्द्र	वासर	भूप	दशद्वीप
मलमास	अभिनय	दिवस	कला	
यज्ञ	मणि	दिन	संस्कार	
मन्व	वघस् पुत्र	पक्ष	शृंगार	

१८	१९	२०	२१	२२
अष्टादश	नवदश	विंशति	एकविंशति	द्वाविंशति
वनस्पति	अतिधृति	नख	मूर्च्छना	उपसर्ग
पुराण	अकनद्	अंगुल	अनुस्मृति	अजन्य
धृति	महाब्ज	पुनर्भव	समित्	सत्पात
मासपर्व	विराट् मुख	रावणभुज	समर	सत्परि
उपद्वीप	देववाद्य	नखर	मृघ	प्रेत

२४	२५	२७	३२	४९	१००
चतुर्विंशति	पंचविंशति	सप्तविंशति	द्वात्रिंदृश	नवचत्वरि-	शत
सिद्ध	तत्व	भ	रद	शति	सौ
जिन	पादशत	नक्षत्र	दंत	वायु	नारायुष
तीर्थंकर	पाद इन्द्रयज्ञ	उडु	दाँत	गन्धवह	कमलदल
अवतार	तत्त्व	ऋक्ष	द्विज	मारुत	इन्द्रयज्ञ
विष्णुजन्म	पावसौ	तारका	दशन	वात	कमलखण्ड

१०००					१०००००
दशशत	हजार	शेषशीर्ष	वेदशाखा	विष्णु-	लक्ष
सहस्र	गंगामुख	अर्जुनहस्त	इन्द्रनेत्र	लोचन	लाख

(असमाप्त)

(७) भारतवर्ष की आधुनिक आर्य भाषाएँ

[लेखक—श्रीयुक्त बाबूराम जी सक्सेना, एम० ए०, प्रयाग।]

इस विशाल भारत भूमि में, १९२१ की जनसंख्या रिपोर्ट के अनुसार ३१,६०,५६,१८३ मनुष्य निवास करते हैं। इस संख्या में से २,११,८९४ ऐसे हैं जो भारत विभिन्न अन्य एशिया महाद्वीप वासी हैं और वाणिज्य आदि के कारण यहाँ रहते हैं और अपने अपने देशों की भाषाएँ बोलते हैं। इनके अतिरिक्त ३,१९,११२ ऐसे हैं जो युरोपीय भाषाओं का व्यवहार करते हैं। इस प्रकार ५,३१,००६ मनुष्यों को छोड़कर शेष ऐसे हैं जिन को भारतीय भाषा-भाषी कह सकते हैं।

छोटी बड़ी सभी भारतीय भाषाओं की संख्या २२२ है। भाषा विज्ञान की रीति से इनका वर्गीकरण मोटे तौर से चार कुलों में होता है—भारतीय-चीनी (Indo-Chinese), मुण्डा, द्राविड़ तथा आर्य।

भारतीय-चीनी

भारतीय चीनी शब्द से उन बहु संख्यक बोलियों का बोध होता है जो भारत के विशेष भागों तथा चीन में बोली जाती हैं। इनके वक्ता प्रायः मङ्गोल जाति के लोग होते हैं। इन बोलियों में कुछ ऐसी विलक्षणताएँ हैं जिनके कारण इनमें तथा भारत की अन्य भाषाओं में क्या भेद है, यह भली भाँति प्रकट होता है। विशेष उल्लेखनीय बात इन में यह है कि यहाँ सब शब्द एकाक्षर (Mono-syllable) होते हैं; तथा उपसर्ग (Prepositions), विभक्तिसूचक शब्द (Postpositions) आदि सहायक शब्दों (Form-words) का प्रभाव है। भारत में ये भाषाएँ प्राय. बरमा तथा आसाम में बोली जाती हैं। इनके बोलनेवालों की संख्या एक करोड़ पैंतालिस लाख से कुछ अधिक है।

चावल'। 'किप् खउ' का अर्थ होगा 'धान की भूसी', 'भूसी का धान' नहीं। इस भाषा में जिस शब्द का सम्बन्ध अभिप्रेत हो, सम्बन्ध वाचक शब्द उसके उपरान्त रक्खा जाता है। हिन्दी में एक तो इस सीमा तक स्थान का महत्व नहीं—यहाँ विभक्तिसूचक शब्दों से अधिक काम लिया जाता है—और है भी तो कुछ अंशों में ठीक इसका उलटा है; यथा 'राजपुत्र' कहने से 'राजा का पुत्र' का बोध होगा न कि 'पुत्र का राजा'। संस्कृत में भी विभक्ति के प्रत्यय बहुधा विभक्ति की सूचना देते हैं। किन्तु इन चीनी भाषाओं में न विभक्ति के प्रत्यय की और न विभक्ति-सूचक उपसर्ग, परसर्ग * आदि की आवश्यकता है। केवल शब्दों के स्थान विशेष में रक्खे जाने से ही काम चल जाता है। इस युक्ति से इन भाषाओं में शब्दों की बड़ी किफायत है। एक ही शब्द नाद तथा शब्द-स्थान के भेद के कारण अनेक अर्थों का द्योतक होता है। इसी लिये ऐसे मनुष्य के लिये जो नाद की बारीकियों से परिचित नहीं है, ये भाषाएँ समझना बहुत ही कठिन है।

मोंख्मेर भाषाओं का शब्द भण्डार मुण्डा कुल की भाषाओं के शब्द भण्डार से बहुत कुछ मिलता जुलता है; किन्तु व्याकरण का भेद इतना अधिक है कि दोनों कुल बिल्कुल अलग अलग हैं। मोंख्मेर भाषाओं में सब शब्द एकाक्षर हैं; किन्तु मुण्डा भाषाओं में कुछ शब्द अनेकाक्षर भी हैं। मोंख्मेर भाषाओं में वाक्य में पहले कर्ता, फिर क्रिया और फिर कर्म आता है; किन्तु मुण्डा भाषाओं में पहले कर्ता, फिर कर्म और सब क्रिया आती है।

मुण्डा

४१ लाख से कुछ अधिक भारतवासी मुण्डा भाषाएँ बोलते हैं।

* उपसर्ग शब्द हिन्दी में Preposition का अर्थ दे जाता है, किन्तु Postposition के लिये कोई शब्द उपयुक्त नहीं है। इसके लिये उपसर्ग के नमूने पर मेरी समझ में 'परसर्ग' शब्द उपयुक्त होगा।

इनका कुल-गृह छोटा नागपुर के पहाड़ों की अधित्यकाएँ हैं; किन्तु इनके कुछ बोलनेवाले मद्रास, मध्यप्रदेश तथा बरार के उत्तर ओर महादेव पहाड़ियों पर भी पाए जाते हैं। ये सब पहाड़ी तथा जंगली जातियों के लोग हैं। इन जंगलों तथा पहाड़ों के पास के मैदानों तथा तराइयों में आर्य्य भाषा-भाषी निवास करते हैं। मुण्डा भाषाओं की प्रमुख भाषा खेरवारी है जिसकी प्रधान बोली * सन्थाली है। भाषा विज्ञान के पण्डितों की खोज से यह विदित हुआ है कि इन मुण्डा भाषाओं का बहुत कुछ सादृश्य दूरवर्ती भारत, मलय (Malaya), तथा निकोबार आदि प्रदेशों में तथा आस्ट्रेलिया के निवासी जंगली तथा पहाड़ी जातियों की भाषाओं से है। इससे कुछ लोगों का कहना है कि किसी समय में एक ही जाति के मनुष्य इन सारे उपरिलिखित देशों में निवास करते थे। इस प्रकार यह निश्चित प्राय है कि मुण्डा भाषाएँ † भारतवर्ष की भाषाओं में सब से प्राचीन हैं। इनको कभी कभी कोल-भाषाएँ भी कहते हैं। कोल शब्द का अर्थ संस्कृत में 'शूकर' होता है, और सम्भवतः भारत में आगन्तुक प्रथम आर्यों ने इन भारतीयों के प्रति यह शब्द अपमान के द्योतक स्वरूप प्रयुक्त किया होगा। जैसे फ़ारसी के कोषों में 'हिन्दू' शब्द का अर्थ घृणासूचक या काफ़िर होगा। मुण्डा भाषाओं को, आस्ट्रेलिया की भाषाओं से इनका सम्बन्ध होने के कारण, कभी कभी आस्ट्रिक भी कहते हैं।

मैक्समूलर ने सब से पहले मुण्डा भाषाओं को द्राविड़ भाषाओं से

---

* जहाँ भेद करने की जरूरत हुई है, वहाँ मैंने 'भाषा' शब्द Language के अर्थ में तथा 'बोली' dialect के अर्थ में प्रयुक्त किया है। [illegible] भाषा में 'बोली' के अर्थ में निरुक्ति (संस्कृत निरुक्ति) शब्द कई स्थानों पर आया है, किन्तु 'बोली' शब्द आजकल अधिक प्रचलित है।

† इन भाषाओं का मुण्डा नाम इसलिये रखा कि इनके बोलनेवाले छोटा नागपुर [illegible] निवासियों का नाम मुण्डा है [illegible]

अलग किया। इसके पूर्व जन साधारण मुण्डा तथा द्राविड़ भाषाओं को एक ही कुल की समझते थे। अब भी कुछ सज्जन ऐसा ही समझते हैं। किन्तु डा० स्टेन कोनो साहब ने लिंग्विस्टिक सर्वे में अपने विद्वत्ता-पूर्ण विवरण से यह स्पष्टता से सिद्ध कर दिया है कि मुण्डा और द्राविड़ यो अलग अलग भाषाकुल हैं। मुण्डा भाषाओं में अर्ध व्यंजन (semi-consonants) हैं, द्राविड़ी में नहीं। द्राविड़ भाषाओं में मध्य विन्यस्त पदों का (यथा मरं = महान्, म-न-रं = महत्व, म प-रं = अति महान्) प्रयोग नहीं होता, किन्तु मुण्डा में होता है। मुण्डा में संज्ञाओं का विभाग चेतन तथा अचेतन (animate and inanimate) में किया जाता है, किन्तु द्राविड़ी में विवेकी तथा अविवेकी (rational and irrational) में। मुण्डा में तीन वचन होते हैं और गिनती बीसियों से गिनी जाती है। द्राविड़ी में दो ही वचन होते हैं और गिनती भी दस दस करके ही होती है।

द्राविड़ी

इस कुल की भाषाओं के बोलनेवाले ६ करोड़ ४१ लाख से कुछ ऊपर हैं। द्राविड़ी भाषाएँ दक्खिनी भारत की प्रधान भाषाएँ हैं। बम्बई प्रान्त का दक्खिन भाग, मैसूर, दक्खिन हैदराबाद, मध्य प्रदेश का कुछ भाग, उत्तर सीलोन (लंका) तथा समस्त मद्रास प्रान्त इन्हीं भाषाओं का क्षेत्र है। छोटा नागपुर में भी गङ्गा के दक्खिन ओर राजमहल आदि स्थानों में द्राविड़ी भाषाएँ ही बोली जाती हैं। इनके अतिरिक्त द्राविड़ी भाषा भाषी कोई दो लाख मनुष्य भारत के पश्चिमोत्तर भाग में रहते हैं। इस बोली का नाम ब्राहुई है। इसके आस पास ईरानी भाषाएँ बोली जाती हैं।

द्राविड़ी की साधारण बातें ये हैं—संज्ञाओं का विभाग विवेकी तथा अविवेकी संज्ञाओं में होता है, अथवा जैसा कि तामिल वैयाकरण कहते

हैं—उच्च जाति की तथा जातिहीन संज्ञाएँ। विवेकी संज्ञाएँ उनको कहते हैं जिनसे विचार-शक्तिवाले जीवों का बोध होता है। इनके अतिरिक्त शेष संज्ञाओं का नाम अविवेकी संज्ञाएँ हैं। इस प्रकार का भेद द्राविड़ कुल की भाषाओं की ही विलक्षणता है। इन भाषाओं में दो लिङ्ग होते हैं—स्त्रीलिङ्ग तथा पुल्लिङ्ग; और फ़ारसी की भाँति किसी शब्द को पुल्लिङ्ग अथवा स्त्रीलिङ्ग बनाने के लिये पुरुष अथवा स्त्री-द्योतक शब्द जोड़ देते हैं। उच्च जाति की संज्ञाओं के साथ किसी किसी भाषा में, विशेषतः तामिल में, लिङ्ग भेद के लिये प्रत्यय जोड़े जाते हैं।

कुछ लोगों का अनुमान रहा है कि द्राविड़ लोग भारत में दक्खिन के किसी महावर्ष (Continent) से आए, जो अब भारत सागर की कल्लोलों के नीचे पड़ा हुआ है। परन्तु जब से पश्चिमोत्तर भारत की ब्राहुई भाषा का पता चला, तब से कुछ लोग इस बात की ओर झुक पड़े हैं कि द्राविड़ लोग भी आर्यों की भाँति पश्चिमोत्तर प्रदेश से ही आए हैं। यदि दक्खिन महासागरान्तर्गत महावर्ष द्राविड़ों का आदिम स्थान स्वीकार किया जाय, तो ऐसा प्रतीत होगा कि ब्राहुई भाषा-भाषी द्राविड़ लोग उस प्रथम शाखा के हैं जो सारे भारत को पार करती हुई पश्चिमोत्तर प्रदेश तक पहुँच गई है। यदि द्वितीय वाद स्वीकार किया जाय, तो ब्राहुई-भाषी द्राविड़ों की अन्तिम शाखा के होंगे। दोनों दशाओं में यह अभी तक भली भाँति स्पष्ट नहीं हो सका है कि किस कारण से ईरानी भाषाओं के मध्य में ब्राहुई अपना अस्तित्व कायम रख सकी।

उत्तर भारत की छोटी छोटी द्राविड़ जातियाँ तथा मध्य प्रदेश के गोंड बहुत शीघ्र हिन्दू होते जा रहे हैं और साथ ही साथ द्राविड़ भाषाओं के स्थान पर आर्य भाषाएँ बोलने लगे हैं। आर्य भाषाओं के इस प्रकार फैलने का अनिवार्य परिणाम यह हुआ है कि ऐसे लोग, जिनके पूर्वज द्राविड़ भाषाएँ बोलते थे, आर्य भाषाएँ बोलने लगे हैं। यह तो भारतवर्ष में आर्य जाति के पदार्पण करने के समय से ही हो रहा है। इस बात का

ध्यान रखना आवश्यक है कि आज सभी आर्य भाषा-भाषी पूर्व आर्यों की सन्तान नहीं हैं। इसी प्रकार भारत के सभी मुसल्मान ईरानियों, अरबों तथा तुर्कों की सन्तान नहीं हैं। आजकल के आर्य भाषा-भाषियों में से एक अच्छी खासी संख्या ऐसों की है जिनके पूर्वज किसी समय द्राविड़ भाषाएँ बोलते थे। यह अनार्य (Non-Aryans) जब आर्य भाषाएँ बोलने लगे, तब इन आर्य भाषाओं पर उनकी पूर्व भाषाओं द्राविड़ी आदि का यथेष्ट प्रभाव पड़ा। संस्कृत भाषा में भी कुछ ऐसे शब्द मिलते हैं जो निःसन्देह द्राविड़ी तथा मुण्डा से लिए गए हैं। प्राकृत भाषाओं में ऐसे शब्दों का और भी अधिक प्रयोग है और आधुनिक आर्य भाषाओं में उससे भी अधिक। जब दो जातियों का संघर्ष होता है और वे एक दूसरी के पास टिक जाती हैं, तब उनकी भाषाओं पर एक दूसरे की भाषा का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही होता है। एक भाषा के शब्द दूसरी भाषा में समाविष्ट हो ही जाते हैं। इसी कारण द्राविड़ी के कुछ शब्द आर्य भाषाओं में आ गए हैं। इस शब्द-प्रभाव के अतिरिक्त कुछ लोगों का कहना है कि मूर्धन्य व्यंजन ट, ठ, ड, ढ, तथा ड़, ढ़ जिनका अस्तित्व प्राचीन तथा आधुनिक सभी भारतीय आर्य भाषाओं में पाया जाता है, किन्तु जो भारत से भिन्न देशवर्ती आर्य भाषाओं (फ़ारसी, यूनानी, लातीनी, अँगरेज़ी आदि) में नहीं पाए जाते, द्राविड़ भाषाओं से आए हैं जहाँ इनका प्राचुर्य देखा जाता है। अन्य विद्वानों का मत है कि ये मूर्धन्य व्यंजन आर्य भाषाओं में द्राविड़ी से नहीं आए, किन्तु ये ऐसे प्राचीन दन्त्य व्यंजनों के विकारान्तर हैं जो जिह्वा के दाँतों की जड़ से स्पर्श होने पर निकलते थे*। इस दूसरे वाद को स्वीकार करने पर भी इतना निश्चय है कि प्राचीन आर्य दन्त्यों का इस प्रकार रूपान्तर हो जाना द्राविड़ प्रभाव के ही कारण हुआ होगा।

---

* अंगरेजी के व्यंजन टी (T) आदि हम लोगों के ट तथा त दोनों के मध्य में हैं। अंगरेजी की टी न तो मूर्धन्य ही है और न हमारे त की तरह दन्त्य ही।

इसी प्रकार ल और र का विनिमय (जिसके उदाहरण प्राकृतों में ही नहीं, संस्कृत में भी मिलते हैं) जो अन्य आर्य भाषाओं में नहीं मिलता, द्राविड़ी प्रभाव का द्योतक है। इसी प्रकार सम्भवतः व्याकरण का भी कुछ प्रभाव पड़ा है; किन्तु इस विषय का यहाँ विस्तार करना अ-प्रयोजनीय है।

आर्य

आर्यकुल* की भाषाएँ युरोप के अधिकांश में, फ़ारस, अफ़-ग़ानिस्तान, बलूचिस्तान तथा भारत के अधिकांश में बोली जाती हैं। भारत में जहाँ जहाँ भारत-चीनी, मुण्डा तथा द्राविड़ भाषाओं का क्षेत्र नहीं है, वहाँ वहाँ आर्य भाषाओं का ही है। इंग्लैण्ड से लेकर, जहाँ अंगरेज़ी बोली जाती है, आसाम तक की, जहाँ आसामी बोली जाती है, दूरवर्ती भाषाएँ आर्य कुल के अन्तर्गत हैं। कारण यही है कि ये सब आर्य जाति की भाषाओं के विकार हैं और अतएव इनमें कुछ मोटी मोटी बातों में विशेष सादृश्य है।

आर्य जाति के आदिम स्थान के विषय में कई वाद हैं। बहुत से विद्वानों का मत है कि ये लोग पहले मध्य युरोप में बन्या नदी के आस पास रहते थे और वहाँ से ही पूर्व की ओर चल पड़े। कोई कहते हैं कि नहीं, इनका आदिम स्थान मध्य युरोप में नहीं था, मध्य एशिया में था, जहाँ से एक शाखा भारत की ओर आई और दूसरी युरोप की ओर चली गई। कुछ भारतीय विद्वानों का यह भी मत रहा है कि आर्यों का स्थान उत्तर केन्द्रीय भुवन (Arctic Region) में था जहाँ से वे अधिक शीत पड़ने के कारण दक्षिण की ओर आये।

इन वादों में से हम लोग चाहे किसी में विश्वास करें, इतना स्पष्ट है कि किसी समय में आर्यों का एक समूह हिन्दूकुश पर्वत से नीचे की ओर काबुल नदी की तराई में आया; और वहाँ से भारत में पहुँचा जहाँ उसकी भाषा कई कारणों से प्रचलित हो गई। उसी भाषा के विकार आज कल की भारतीय आर्य भाषाएँ हैं। दूसरा समूह खोकन्द और बदख्शाँ से पूर्व की ओर पामीर-यारक़न्द तक गया; और एक तीसरा समूह पश्चिम की ओर जाकर पहले मर्व तथा पूर्वी फ़ारस में फैला; और फिर वहाँ से उसकी भाषा सारे फ़ारस, अफ़ग़ानिस्तान तथा बलूचिस्तान में व्याप्त हो गई। इस तीसरी शाखा की भाषा का नाम ईरानी पड़ा और आजकल इसकी दक्खिन-पूर्व की सीमा सिन्धु नद को समझना चाहिए। किन्तु यह भी समझ लेना आवश्यक है कि किसी समय भारतीय आर्यों का आधिपत्य सिन्धु नद के उस पार भी था और भारतीय भाषाएँ वहाँ भी बोली जाती थीं।

एशियाई शाखा की दोनों प्रशाखाएँ—भारतीय तथा ईरानी—किसी समय एक ही भाषा थीं और बहुत दिनों तक एक दूसरी से मिलती जुलती रहीं। ईरानी भाषा की प्राचीनतम पुस्तक अवेस्ता है और भारतीय आर्य भाषा की ऋग्वेद। यदि स्वर (sourd) के कुछ मोटे मोटे हेर फेर कर दिए जायँ, तो अवेस्ता के सभी अंश वैदिक संस्कृत में लिखे हुए जान पड़ने लगें। प्रोफेसर गेल्डनर ने संस्कृत और अवेस्ता में ये मोटे मोटे भेद बताए हैं—

(१) सं० स = ई० ह। यथा सिन्धुः हिन्दु; सप्तः हप्त।

(२) संस्कृत के घोषवत् महाप्राण अक्षर अवेस्ता की भाषा में प्रायः अल्पप्राण रह जाते हैं। यथा सं० घ, भ, ध = ई० ग, ब, द। यथा भ्रातृः ब्रात्र, घर्मः गरेम।

(३) कभी कभी संस्कृत ह के स्थान में अवेस्ता में ज मिलता है। यथा बाहुः बाजु।

ये भेदात्मक विकार धीरे धीरे हुए। कालान्तर में ये भेद इतने बढ़ गए कि आज कल की भारतीय आर्य भाषाओं में और फ़ारस की भाषा फ़ारसी में आकाश पाताल का अन्तर हो गया।

ईरानी भाषा की शीघ्र ही दो शाखाएँ हो गईं—

(१) पर्शी—फ़ारस के राजा दारा के दरबार की राजभाषा (दारा का काल ईसा के पूर्व ५२२ से ४८६ वर्ष तक है)। इसी भाषा में महाराज दारा के लेख पाए गए हैं और यही कालान्तर में पहलवी और फिर फ़ारसी हुई।

(२) ज़ेंदी—यह पूर्वी शाखा थी, और पर्शी पश्चिमी शाखा थी। इसी में अवेस्ता—पारसियों का आदि ग्रन्थ—मिलता है। कालान्तर में यह लिखने पढ़ने की भाषा न रही। पर्शी ने इसका स्थान छीन लिया, किन्तु जन साधारण की यही भाषा प्रायः रही। इसी के सन्तान स्वरूप ब्रिटिश बलूचिस्तान, भारत के उत्तर-पश्चिम प्रदेश तथा पंजाब के कुछ सहस्र मनुष्यों की भाषाएँ (पश्तो आदि) हैं। भारतीय साम्राज्य के निवासी

रूप हैं, वे साहित्यिक संस्कृत से बहुत मिलते जुलते हैं। उदाहरणार्थ वैदिक संस्कृत में अवाम् ('हम दोनों' के अर्थ में) मिलता है। संस्कृत में यही शब्द आवाम् रूप में मिलता है, और यही रूप आवाम् परकालीन ब्राह्मण ग्रन्थों में भी मिलता है। उत्तर-कालीन ब्राह्मण ग्रन्थों की ही नहीं, उपनिषदों तथा सूत्र ग्रन्थों की भी भाषा साहित्यिक संस्कृत के समान ही है। इस प्रकार जिस बोली का प्रयोग ऋग्वेद से आरम्भ हुआ था, वही होते होते कई शताब्दियों में संस्कृत में परिणत हो गई। पाणिनि का समय ईसा के पूर्व चतुर्थ शताब्दी में माना जाता है। उस समय तक संस्कृत के रूप प्रायः निश्चित और स्थगित हो गए थे। पाणिनि के व्याकरण में ही इस बात का प्रमाण है कि उन महर्षि के समय में साहित्यिक भाषा ने एक निश्चित रूप धारण कर लिया था। कात्यायन के वार्तिक तथा पतंजलि के महाभाष्य से पाणिनि द्वारा निश्चित भाषा में भी दो एक रूपों के हेरफेर होने के प्रमाण मिलते हैं। तब भी यह कहना अत्युक्ति न होगा कि पाणिनि के काल तक संस्कृत साहित्यिक भाषा प्रायः निश्चित हो गई थी। इसके उपरान्त संस्कृत भाषा में जितने ग्रन्थ बने ('और जो आज भी बन रहे हैं), उन सब को पाणिनि की कसौटी पर रखकर ही परखते हैं।

इस प्रकार जिस समय संस्कृत का रूप स्थगिति हो गया, उस समय जन साधारण की भाषा उससे भिन्न कुछ और ही थी। संस्कृत स्वयं एक समय में जनसाधारण (विशेषतः शिक्षित समुदाय) के बोलने की भाषा थी, इसके कई प्रमाण हैं। पाणिनि के व्याकरण में ही संस्कृत को भाषा और वैदिकी को छन्दस् कहा है। इन दो नामों से ही इस बात का यथेष्ट प्रमाण मिलता है कि पाणिनि के समय भी संस्कृत एक बड़े जनसमुदाय की दैनिक कामकाज की बोली रही होगी। किन्तु उसी समय भारतवर्ष के करोड़ों आदमी ऐसी भाषा बोलते होंगे जो संस्कृत से बहुत भिन्न होगी। यह जन साधारण की बोली बराबर विकृत होती

बोलियाँ रही होंगी। इनमें की केवल एक बोली * ऋग्वेद द्वारा सुरक्षित है। किसी समय आर्य भाषा की और भी बोलियाँ रही होंगी। पाली तथा प्राकृत में कई शब्द ऐसे हैं जिनका आदि रूप ऋग्वेद में भी नहीं मिलता। संभवतः ये शब्द उस काल की बोलियों में थे, किन्तु अब वे बोलियाँ ही नहीं हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आर्य भाषा के दो भिन्न मार्ग हो गए—एक का विकास होते होते साहित्यिक संस्कृत हुई और दूसरी बोलियाँ जनसाधारण की भाषाएँ रहीं; और कालान्तर में वही पाली और प्राकृत आदि कहलाईं।

प्राकृत भाषाओं का सब से पहला नमूना जो हमको मिलता है, वह पाली भाषा है। यह सिंहलद्वीप के बौद्ध धर्मावलम्बियों के धर्मग्रन्थों की भाषा है। इतिहास से हमें विदित होता है कि बुद्ध भगवान ने अपने धर्म का प्रचार करने के लिये संस्कृत को छोड़कर रोजमर्रह की बोल चाल की भाषा का प्रयोग किया था। विद्वानों का मत है कि वह भाषा पाली थी जो आजकल सिंहलद्वीप के महा ग्रन्थों में सुरक्षित मिलती है†। पाली एक बोली नहीं; उसमें कई बोलियाँ मिली हुई हैं; अतः एक ही शब्द के कई भिन्न भिन्न रूप मिलते हैं। ये सब बोलचाल की बोलियाँ थीं, यह प्रकट है। संस्कृत की तरह यहाँ कृत्रिम सन्धि नहीं मिलती। जो दो चार सन्धियाँ हैं भी, वे सब स्वाभाविक हैं। एक ही शब्द के कई कई रूप मिलते हैं। मुहावरों तथा बोल चाल की

---

* कुछ विद्वानों का मत है कि ऋग्वेद में भी एक ही बोली नहीं है, उसमें भी कई बोलियाँ होने के प्रमाण हैं। कोई कोई शब्द कई रूपों में मिलता है।

† इधर कुछ श्रद्धेय विद्वानों ने इस मत का खंडन किया है। उनका मत है कि सिंहलद्वीप के धर्म ग्रन्थों की भाषा वह भाषा नहीं है जिसमें बुद्ध भगवान ने धर्म का प्रचार किया था। आजकल जो पाली मिलती है, वह भिन्न भाषा है और उसमें किसी समय (प्राय ईसा के पूर्व दूसरी या तीसरी शताब्दी में) बौद्ध ग्रन्थों का रचना किया गया था। इस नवीन मत के पोषक विशेषतया प्रोफेसर कीथ हैं।

कहावतों का माधुर्य्य है। वार्तालाप में स्थान स्थान पर व्याकरण की अशुद्धियाँ हैं जिनसे स्पष्ट है कि कोई साहित्यिक भाषा नहीं लिखी जा रही थी। इस प्रकार ईसा के पूर्व पंचम शताब्दी की भाषा का लिखित रूप हमें मिलता है। संभवतः उस समय पाली से भिन्न और भी बहुत सी भाषाएँ रही होंगी; किन्तु बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये इसका प्रयोग होने के कारण यह अब भी सुरक्षित रूप में मिलती है। औरों का आज दिन कोई पता नहीं।

इसके उपरान्त बोल चाल की भाषाओं का रूप हमको महाराज अशोक के शिला तथा स्तंभ-लेखों में मिलता है। इस न्यायप्रिय तथा दयालु राजा ने अपनी प्रजा के कल्याण के लिये तथा उपदेश के लिये प्रदेश प्रदेश की बोलियों में १४ आदेश शिलाओं पर तथा ७ आदेश स्तंभों पर खुदवा दिए थे। ये शिलाएँ तथा स्तंभे भारतवर्ष के प्रायः प्रत्येक प्रदेश में पाए गए हैं। यथा इनके लेख अटक के पास शहबाजगढ़ी, उत्तर पंजाब में अबटाबाद के. पास मानसेहरा, काठियावाड़ प्रान्त में गिरनार तथा ज़िला कटक, ज़िला गंजाम आदि स्थानों में मिलते हैं। इन आदेशों की भाषा तथा भाव एक हैं। सम्भवतः यही अशोक के राजकाज की भाषा रही होगी। किन्तु भिन्न भिन्न स्थानों के लेखों के शब्दों में बोलचाल का हेरफेर है। पश्चिमी प्रदेशों में पाए गए लेख पूर्व देश के लेखों से बोली में बहुत भिन्न हैं। इतना स्पष्ट है कि इन लेखों में बोलचाल का हेरफेर है।

प्राकृत भाषाओं का प्रथम वर्गीकरण (भेदात्मक) हमको वररुचि के लिखे हुए प्राकृत प्रकाश में मिलता है। यह ग्रन्थ हमारा प्रथम प्राकृत व्याकरण है। लोक सम्प्रदाय के अनुसार संस्कृत के वैयाकरण कात्यायन, पाली के कच्चायनो तथा प्राकृत भाषाओं के वररुचि, तीनों एक ही थे। यदि इस बात पर विश्वास किया जाय तो वररुचि ईसा के पूर्व तीसरी शताब्दी के लगभग हुए होंगे। किन्तु

इसमें अविश्वास रखने पर भी वररुचि को ईसा के पूर्व प्रथम शताब्दी के इधर नहीं रख सकते। इस समय तक प्राकृत भाषाएँ बहुतायत से लिखने पढ़ने तथा साहित्य निर्माण के काम में लाई जाने लगी होंगी। किसी भाषा का व्याकरण, साहित्य-निर्माण के उपरान्त ही बनता है; अतः वररुचि का व्याकरण बनने के पूर्व प्राकृत भाषाओं में यथेष्ट साहित्य रहा होगा। गुणाढ्य की बृहत्कथा* का काल ईसा के पश्चात् प्रथम शताब्दी में माना जाता है। यह संभवतः इसके दो एक शताब्दी पूर्व ही रहा होगा। आदि से आदि संस्कृत नाटकों में भी प्राकृत का प्रयोग मिलता है। अस्तु।

प्राकृत प्रकाश में चार प्राकृतों का उल्लेख है अर्थात् महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी तथा शौरसेनी। छठी शताब्दी के प्रख्यात कवि आचार्य दण्डी ने अपने काव्यादर्श में दो का और उल्लेख किया है—लाटी तथा उसी प्रकार की एक और (अन्या च तादृशी) जिससे उस का अभिप्राय कदाचित् अवन्ती से रहा हो। मागधी के स्थान पर उन्होंने गौड़ी नाम दिया है। बारहवीं शताब्दी के प्रख्यात प्राकृत वैयाकरण हेमचन्द्र ने दो और प्राकृतों का उल्लेख किया है—तथाहि आर्ष (जिससे उसका अभिप्राय जैन धर्मग्रन्थों की भाषा अर्ध मागधी से था) और चूलिका पैशाचिका। १७ वीं शताब्दी के वैयाकरण पण्डित मार्कण्डेय ने प्राकृत भाषाओं की एक बड़ी लम्बी सूची दी है और उनको भाषा विभाषा में विभक्त करके उक्त प्रायः सभी भाषाओं को भाषा के नीचे तथा कुछ और कम महत्व की भाषाओं को विभाषा के नीचे स्थान दिया है।

इन प्राकृत भाषाओं के नाम देखने से ही स्पष्ट हो जाता है कि

---

* यह ग्रन्थ अप्राप्य है। इसके दो संस्कृत अनुवाद क्षेमेन्द्र कृत बृहत्कथा मंजरी तथा सोमदेव कृत कथासरित्सागर अब भी मिलते हैं, जिनसे पता चल सकता है कि यह ग्रन्थ कितने गौरव का रहा होगा।

इसका व्याकरण देते हैं तथा नागर आदि दो चार भेद भी देते हैं। मार्कण्डेय का अपभ्रंश संबंधी विवरण और भी विस्तारपूर्वक है। दण्डी के उल्लेख के अनुसार एक समय विद्वानों का यह मत था कि आभीर आदि जंगली जातियों की भाषा का नाम अपभ्रंश है। किन्तु खोज करने से पता चला है कि अपभ्रंश किसी जाति विशेष की भाषा का नाम न था, केवल तत्कालीन जन साधारण की भाषा का नाम था। इनका काल प्राकृत भाषाओं के उपरान्त हुआ और प्रायः प्रत्येक प्राकृत भाषा की स्थानापन्न उसकी अपभ्रंश हुई; यथा शौरसेनी के स्थान में शौरसेनी अपभ्रंश।

प्राकृत भाषाओं की इस प्रकार मोटे ढंग से तीन अवस्थाएँ हुईं—(क) प्रारंभिक प्राकृत—इसमें पाली तथा अशोक के लेखों की भाषा है; (ख) माध्यमिक प्राकृत—इसमें साहित्यिक महाराष्ट्री आदि प्राकृतें हैं; और (ग) अपभ्रंश। पहली अवस्था का प्रारंभ काल मोटे ढंग से ईसा के पूर्व छठी शताब्दी में, दूसरी का पहली शताब्दी में तथा तीसरी का ईसा के उपरान्त छठी शताब्दी में कहा जा सकता है। तीसरी अवस्था अर्थात् अपभ्रंश प्रायः ११०० ईसवी के लगभग रही। उसी समय से आधुनिक आर्य भाषाओं का प्रादुर्भाव कहा जा सकता है।

पूर्व इसके कि हम आधुनिक आर्य भाषाओं पर विचार करें, यह आवश्यक है कि हम अच्छी तरह समझ लें कि वैदिक भाषा तथा प्राकृत भाषा में क्या अन्तर हो गया। वैदिक भाषा में प्रत्ययों का बहुतायत से व्यवहार था। कोई संज्ञा ले लें; यदि कर्ता, कर्म, करण आदि किसी कारक का बोध कराना हो तो एक प्रत्यय जोड़ दीजिए, संज्ञा का एक परिवर्द्धित रूप हो जायगा; और वही शब्द संज्ञा के वास्तविक अर्थ का तथा आगन्तुक प्रत्यय के कारण विभक्ति का दोनों अर्थ बतलावेगा। यथा देव शब्द में जस् (अः) प्रत्यय लगाने से देवाः हुआ और इसका अर्थ हुआ देवता लोग (कर्ता)। आज कल की

हिन्दी की तरह 'ने' आदि विभक्तिसूचक शब्द नहीं जोड़े जाते थे। इसी प्रकार क्रिया आदि भाषा के और अंगों का भी हाल था। नाद संबंधी प्रक्रिया भी बड़ी जटिल थी; उच्चारण के लिये विशेष प्रयत्न तथा अवधान की जरूरत थी। प्राकृत भाषाओं में संस्कृत से भेद होने का मुख्य कारण था सुगमता। वैदिक कालीन भाषा के समझने, सीखने तथा उच्चारण करने के लिये विजित अनार्य जातियों में उतनी योग्यता न थी; अतएव उन्होंने इन आर्य भाषाओं के सुगम हो जाने में बड़ी सहायता की। प्राकृत काल की प्रथम अवस्था तक वैदिक के कुछ स्वर—ऋ, ॠ, लृ, ऐ और औ, तथा कुछ संयुक्त अक्षर यथा ह्व, ष्क, ष्ट आदि, जो उच्चारण में क्लिष्ट समझे जाते थे, लुप्त हो गए। वैदिक में तीन वचन थे; जन साधारण की भाषा में दो ही रह गए। द्विवचन का भी स्थान बहुवचन ने ग्रहण कर लिया। विभक्तियों में से सम्प्रदान कारक के लिये कभी चतुर्थी का कभी षष्ठी का प्रयोग होने लगा। अन्त में दूसरी अवस्था तक चतुर्थी का प्रायः लोप ही हो गया। क्रिया में भी बड़ा रूपान्तर हो गया। वैदिक भाषा की धातुएँ दस गणों में विभक्त थीं; और प्रत्येक गण के रूपों में कुछ न कुछ भेद था ही। पाली की धातुओं की सूची बनाने पर हमें केवल सात गणों का पता चलता है। दूसरी अवस्था तक तो केवल दो ही गण रह गए। इस प्रकार जो सारल्य हमको प्राकृत काल की पहली अवस्था में दिखाई देता है, उसी ने बढ़ते बढ़ते तीसरी अवस्था में विराट रूप धारण कर लिया। संज्ञा तथा धातु के रूपों का बाहुल्य धीरे धीरे कम होते हुए दो ही तीन प्रकार का रह गया। धातु तथा संज्ञाओं के प्रत्यय नाद की समानता के कारण एक से होने लगे, जिससे जिन शब्दों में वे जोड़े जाते थे, वे शब्द भी प्रत्ययों की विभिन्नता न होने के कारण एक से ही रूप धारण करने लगे।

इस प्रकार एक ऐसी अवस्था आ गई जिसमें एक ही शब्द के रूपों के

ऐक्य अथवा घनिष्ट सादृश्य के कारण सम्बन्धादि द्योतक और और शब्दों की आवश्यकता पड़ने लगी। इन नए विधानों का साक्षात् अपभ्रंशों में प्रारंभ हो जाता है। कारकों का बोध, जो अब तक प्रत्ययों से होता था, अब पर-सर्ग के प्रयोग से होना आरंभ हो गया। इस प्रकार उदाहरणार्थ प्राकृत 'घरस्स' के स्थान पर हिन्दी में 'घर का' कहते हैं। यहाँ 'स्स' प्रत्यय का स्थान पर-सर्ग 'का' ने ले लिया है। इन पर-सर्गों का प्रयोग भाषा में क्रमशः ही हुआ। तुलसीदासजी के समय भी उतना प्रयोग न था जितना अब है। आरण्यकांड में ८३१ ऐसे शब्द हैं जिनके उपरान्त आज कल की हिन्दी के अनुसार पर सर्गों का प्रयोग होना चाहिए; किन्तु केवल २१५ शब्दों के उपरान्त, अर्थात् २५ प्रति सैकड़ा है। इसी प्रकार की विधि क्रिया के विषय में भी है *।

भाषा में इन वियोगात्मक विधियों के प्रयोग से ही प्राकृत काल की अन्तिम अवस्था—अपभ्रंश—तथा आधुनिक भाषाओं में भेद जान पड़ता है। भारत में आधुनिक आर्य भाषाएँ दो कारणों से बड़ा महत्त्व रखती हैं। एक तो यह कि भारतीय सभ्यता पर इनका बड़ा प्रभाव पड़ा है; दूसरे यह कि इनके बोलनेवालों की संख्या बहुत अधिक है। आजकल कुल भारत की आबादी ३१ करोड़ से ऊपर ही है। इनमें से २४ करोड़ मनुष्य आर्य भाषा-भाषी हैं; अर्थात् प्रत्येक १०० भारतवासियों में ७२ से अधिक आर्य भाषाएँ बोलते हैं। ये भाषाएँ उस सभ्यता के प्रतिनिधि-स्वरूप हैं, जो भाग्यवश बहुत कुछ पलटा खाने पर भी अब भी जीवित हैं और संसार की आधुनिक सभ्यताओं के सामने अपना सिर ऊँचा रखने का प्रयत्न कर रही हैं।

---

* इस विषय के सविस्तर विवरण के लिये देखिए—

Noun Declension in the Ramayan of Tulsidas—Indian Antiquary, Vol LII, 1923; pp. 71-76, और

The Verb in the Ramayan of Tulsidas—Allahabad University Studies; Vol. II; 1926; pp. 207-38.

सरकार की आबादी की रिपोर्टों के अनुसार भारत में इस समय १९ आर्य भाषाएँ बोली जाती हैं। किन्तु यदि कुछ कम महत्व-वालियों को उनकी पड़ोसी महत्वशील भाषाओं के साथ जोड़ दें, अथवा दो एक भाषाओं को, जिनमें अधिकांश समानता है, एक जगह रख दें तो मोटे तौर से १५ भाषाएँ ठहरती हैं। इनमें से प्रत्येक का सविस्तर वर्णन सरकार द्वारा निकाली हुई और पाश्चात्य विद्वान् श्रद्धेय सर जार्ज ग्रियर्सन द्वारा सम्पादित भाषा सम्बन्धी रिपोर्टों में दिया हुआ है। यहाँ पर केवल उनका सार रूप दिया जायगा। प्रत्येक भाषा को ले कर उसके बोले जाने का प्रदेश, बोलनेवालों की संख्या, उसकी विशेषताएँ, प्रमुख बोलियों के नाम, साहित्य तथा वह भाषा संभवतः किस प्राकृत का रूपान्तर है, यह दिखलाने का प्रयत्न किया जायगा। बोलनेवालों की संख्या तथा भाषा विशेष के क्षेत्र (प्रदेश) विशेष के विषय में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि जो कुछ हाल हमें भाषा और आबादी सम्बन्धी रिपोर्टों में मिलता है, वह बिल्कुल ठीक नहीं हो सकता। कारण यह है कि जब तक दो भाषाओं के बीच में बाधा स्वरूप बड़े बड़े पहाड़, रेगिस्तान अथवा दूसरे ही कुल की भाषाएँ न हों, दोनों भाषाएँ एक दूसरी से क्रमशः विभिन्न होती जाती हैं। उनके विषय में यह कहना असंभव है कि अमुक स्थान पर अमुक भाषा का अन्त हुआ और अमुक का प्रादुर्भाव हुआ। दृष्टान्त के लिये यदि कोई प्रयाग से शाहजहाँपुर की ओर यात्रा करे और मार्ग में पड़ती हुई भाषाओं पर ध्यान देता जाय, तो वह यह नहीं बता सकता कि किस स्थान पर अवधी बोली का अन्त हुआ और कनौजी का प्रदुर्भाव। किन्तु हम लोगों को विदित है कि प्रयाग की भाषा अवधी और शाहजहाँपुर की कनौजी है; और इन दोनों स्थानों की भाषा का अध्ययन करके कहते हैं कि प्रयाग की अवधी इस प्रकार की है और शाहजहाँपुर की कनौजी ऐसी। मार्ग में मिली हुई बोलियों में से कोई

एक से अधिक समानता रखेगी, कोई दूसरी से। हिन्दी में कहावत है कि बोली बारह कोस पर बदल जाती है। इसका केवल यह तात्पर्य है कि भाषा सम्बन्धी भेद बारह कोस के उपरान्त साधारण मनुष्य को भी दिखाई पड़ जाता है।

बँगला

बँगला या बङ्गाली आधुनिक भारतीय भाषाओं में सब से अधिक महत्वं रखती है। भारतीय प्रदेशों में आज बंगाल ही दिमागी बातों में और सब प्रदेशों से आगे है। इसी का साहित्य ऐसा है जिसने दूर दूर तक नाम पाया है। बँगला सारे बंगाल में बोली जाती है। पश्चिम की ओर छोटा नागपुर तक और पूर्व की ओर आसाम की तराई तक इस का विस्तार है। दक्खिन की ओर अकियाब तक चली गई है। पूर्व में तथा पूर्वोत्तर में टिपरा, गारो, खासी तथा जयन्तिया पहाड़ियों के कारण उसकी सीमा सी बन गई है। भाषा सीमा—पूर्वोत्तर में आसामी, दक्षिण पूर्व में बर्मी, पश्चिमोत्तर में बिहारी भाषाएँ तथा दक्षिण पश्चिम में मुण्डा और उड़िया। बँगना बोलनेवालों की संख्या ४ करोड़ ९३ लाख है।

बङ्गाल मे इस भाषा को बाङ्ला अथवा बङ्ग भाषा कहते हैं; अर्थात् बङ्ग देश की भाषा। संस्कृत साहित्य में बङ्ग देश प्रसिद्ध रहा है। बंगाल शब्द की व्युत्पत्ति कठिनसी है। किसी समय दक्षिण में बङ्ग के स्थान में बङ्गाल शब्द प्रसिद्ध था। वहाँ से अर्बी भौगोलिक इस शब्द को अरब ले गए। वही शब्द मुसलमान विजेताओं के साथ भारत में फिर लौटा; और जब मुसल्मानों ने बङ्गाल पर अधिकार किया, तो बङ्गाल नाम प्रसिद्ध हो गया। आईने अकबरी में अब्बुलफ़ज़ल ने स्वयं लिखा है कि असल और ठीक नाम बङ्ग है, बंगाल नहीं।

जिस साहित्यिक बँगला का आजकल प्रचार है, वह तो

ईसवी १९ वीं शताब्दी में बनी है। इसके विधाता थे संस्कृत के धुरीण पण्डित, जिन्होंने इसे संस्कृत शब्दों से खचाखच भर दिया है। बीम्स साहब का यह कथन बिलकुल ठीक है कि बँगला किसी ऐसी बालिका के समान है जिसकी अवस्था अधिक हो, तथा जो स्वयं हृष्ट पुष्ट हो और अपने पैरों चलने योग्य हो, किन्तु जिसे उसकी माँ के पल्ले से कस कर बाँध दिया जाय और जिसे माँ घसीटती हुई ले चले। बँगला की एक विशेषता है उसका उच्चारण। ऊपर हम देख चुके हैं कि प्राकृत काल में संस्कृत शब्दों के उच्चारण में जो असुविधाएँ थीं, प्रायः वे सभी दूर कर दी गई थीं; उदाहरणार्थ क्ष के स्थान में क्ख अथवा, ज्ञ का ज्झ आदि। मागधी में दंत्य स के स्थान में श हो जाता था। इस प्रकार लक्ष्मी, मत्स्य, सागर और वाह्य के स्थान में मागधी प्राकृत में लक्खी, मच्च, शागर (शायर) तथा वज्झ प्रचलित हुए। बँगला में कुतूहल की बात यह है कि लिखने में प्रयोग होता है संस्कृत शब्दों का, किन्तु बोलने में प्राकृत का। वे लिखेंगे लक्ष्मी; किन्तु जब पढ़ेंगे अथवा बोलेंगे, तब कहेंगे लक्खी। इसी प्रकार लिखेंगे सूत्र, किन्तु पढ़ेंगे शुत्र। इस प्रकार फरासीसी भाषा की तरह बँगला भाषा में लिखित भाषा तथा उच्चरित भाषा में बड़ा अन्तर पड़ गया है।

किन्तु तो भी बँगला इस विषय में हिन्दी से अच्छी है। बँगला की तरह आजकल हिन्दी को भी खचाखच संस्कृत शब्दों से भरने की प्रथा चल गई है। किन्तु बँगला लिखित शब्द में ही नक़ल करती है, उच्चारण तो उसका निज का है! हिन्दी में तो लिखते भी संस्कृत हैं और उच्चारण भी वही हजारों वर्ष पुराना। इसका नतीजा यही है कि हिन्दी दिनों दिन कठिन होती जाती है और इसको सीखने के लिये अधिक परिश्रम की जरूरत होती है।

बँगला में बड़ा भारी साहित्य है और वह सब इधर १९ वीं

शताब्दी का ही है। पुराने ग्रन्थकारों में चण्डीदास (लगभग १४ वीं शताब्दी) के कृष्ण भगवान की भक्ति के गीत प्रसिद्ध हैं। महाप्रभु चैतन्य (१६ वीं शताब्दी का आदि) के धर्म-प्रचार के उपरान्त बहुत से कवि हुए। भारतचन्द्र जिनका 'विद्यासुन्दर' प्रसिद्ध ही है, पुरानी चाल के लेखकों में अन्तिम समझे जाते हैं। ये १८ वीं शताब्दी में हुए थे। १९ वीं शताब्दी में बँगला में युगान्तर हो गया। इसी में सुविख्यात बङ्किमचन्द्र चटर्जी, माइकेल मधुसूदन दत्त, रमेशचन्द्र दत्त आदि धुरन्धर लेखकों ने बँगला का मुख उज्ज्वल किया। आज रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गिनती संसार के सर्वोच्च कवियों में है।

इस नवीन साहित्य की भाषा का नाम है साधु भाषा, अर्थात् भले मानसों की भाषा। इसी का प्रयोग कलकत्ते में तथा देहात में भी पढ़े लिखे मनुष्य करते हैं। बङ्गाल में इसका वही स्थान है जो संयुक्तप्रदेश में खड़ी बोली का। हाँ, वहाँ उर्दू की सी कोई सौतेली बहन हिस्सा बाँट करने को नहीं है। साधु भाषा के अतिरिक्त और कई बोलियाँ हैं जो देहात में बोली जाती हैं। मोटे ढंग से इनके पश्चिमी बोलियाँ तथा पूर्वी बोलियाँ ये दो विभाग कर सकते हैं। पूर्वी बोलियों का केन्द्र ढाका है।

ऊपर देखा जा चुका है कि मागधी प्राकृत भाषाओं में एक प्रसिद्ध भाषा थी। वररुचि के काल ही में वह प्रख्यात हो चुकी थी। मागधी मगध प्रान्त की बोली का नाम था। मगध बहुत दिनों तक एक प्रसिद्ध साम्राज्य रहा; अतएव वहाँ की बोली का प्रसिद्ध हो जाना स्वाभाविक ही है। मगध साम्राज्य बहुत विशाल था। उसके अन्तर्गत वङ्ग, कलिंग आदि कई प्रान्त कई सौ वर्षों तक रहे। इन प्रान्तों की बोली पर मागधी का काफी प्रभाव पड़ा। वस्तुतः वैयाकरणों ने ढक्की, उत्कली अथवा ओड्री आदि भाषाओं को केवल मागधी के अन्तर्गत शाखाओं का ही रूप दिया है। आचार्य दण्डी ने अपनी काव्यादर्श में गौड़ी भाषा का उल्लेख किया है, मागधी का नहीं। टीकाकारों का मत है कि आचार्य

का अभिप्राय मागधी ही से रहा होगा। किन्तु संभव है कि यह गौड़ देश की भाषा मागधी से कुछ पृथक् रही हो और उस समय इसकी ही अधिक ख्याति हो। गौड़ देश बंगाल का पुराना नाम है। अतः अनुमान है कि बँगला भाषा इसी गौड़ी की सन्तान हो*। इतना निश्चय है कि कई पूर्वी भाषाएँ मागधी अथवा उसकी शाखाओं या पड़ोसी भाषाओं की सन्तान हैं। बिहारी बोलियाँ (मैथिली, मगही आदि) मागधी अथवा उसकी शाखाओं की, बँगला तथा आसामी संभवतः गौड़ी की तथा उड़िया ओड्री की सन्तति हैं। आसामी, बँगला, उड़िया तथा बिहारी इन सब भाषाओं के समूह का नाम वैज्ञानिकों ने पूर्वी भाषाएँ रक्खा है। इनमें कुछ विशेषताएँ हैं। उदाहरणार्थ अ का उच्चारण है। जितने पूर्व चले जाइए, इस स्वर का उच्चारण गोल सा होता जाता है; यहाँ तक कि आसामी में इसका उच्चारण प्रायः ओ के तुल्य होता है। बँगला तथा उड़िया में कुछ कम गोला, बिहारी में उससे कम, और हिन्दी में आकर अ की गोलाई लुप्त हो जाती है। उदाहरणार्थ हिन्दी शब्द घर है। आसामी में इसे प्रायः घोर कहते हैं; बँगला तथा उड़िया में घोर (छोटा ओ), तथा बिहारी में गोलाई इससे भी कम हो जाती है।

इस समूह की भाषाएँ मूर्धन्य व्यंजनों की अपेक्षा दन्त्य व्यंजनों का अधिक प्रयोग करती हैं। उड़िया को छोड़कर (जहाँ संभवतः द्राविड़ी भाषाओं के संसर्ग से ण का प्रयोग कुछ अधिक है) इस समूह की और भाषाओं में ण के स्थान में न का ही अधिक प्रयोग है। ऊष्म वर्णों में मागधी में सब कहीं शकार (तालव्य) का ही प्रयोग पाया जाता था। बँगला तथा आसामी दोनों में तालव्य श का ही प्रचार है, स अथवा ष का बिल्कुल नहीं। किन्तु उड़िया तथा बिहारी में स ही

* [illegible] बँगला [illegible] लिखी है [illegible] विस्तारपूर्वक [illegible] किया है।

है। पूर्वी समूह की भाषाओं में एक आध कारक तथा क्रिया काल का बोध कराने में वे अभी संयोगात्मक अवस्था में ही हैं। यथा हिन्दी 'घर का' का बोध कराने के लिये बँगला घरेर, उड़िया घरोर तथा बिहारी घरक अथवा; हिन्दी 'घर में' के स्थान पर इन सब भाषाओं में 'घरे' है। सर्वनाम तथा क्रिया में भी कई ऐसी बातें हैं जिनमें इस समूह की भाषाएँ समान हैं; यथा हिन्दी 'मेरा' (ब्रज) के स्थान पर बँगला, बिहारी, उड़िया सब में 'मोर' है; अर्थात् ए के स्थान में ओ। अवधी में भी ओ है; किन्तु ब्रज आदि पश्चिमी बोलियों में ए हो है। गुजराती में 'मारो' है। क्रिया में भी इसी प्रकार समानता है; यथा भूतकाल में आसामी, 'मारिले', बँगला 'मारिल', उड़िया 'मारिला', किन्तु हिन्दी मारा। पूर्वी समूह में भविष्य का बोध कराने के लिये जाबो, खाबो आदि ब व्यंजनवाले रूप हैं। हिन्दी में मारोगे आदि में ग वाले तथा ब्रज में ह वाले। इस प्रकार पूर्वी भाषाओं की एक समूहात्मक सत्ता कही जा सकती है।

आसामी

यह भाषा आसाम की तराई में लखीमपुर और ग्वालपाड़ा जिलों में बोली जाती है। किन्तु जहाँ जहाँ यह बोली जाती है, वहाँ और भी भाषाएँ उपस्थित हैं और बोली जाती हैं। पड़ोस के जंगलों तथा पहाड़ियों में जंगली जातियाँ अनार्य भाषाएँ बोलती हैं। आसामी बोलनेवालों की संख्या १७ लाख है। 'आसामी' बंगाली नाम है। आसामी लोग ओखोम (संस्कृत—असम अर्थात् समता रहित) कहते हैं, जिसका अर्थ है ऊँचा नीचा प्रदेश। संस्कृत साहित्य में इस देश का नाम कामरूप आया है।

कुछ लोगों का मत है कि आसामी कोई भाषा नहीं; वह बँगला की एक बोली मात्र है। किन्तु दो भाषाओं के विभिन्न होने के लिये

व्याकरण ही कारण नहीं; साहित्य के कारण भी भाषाएँ अलग हो सकती हैं। आसामी का साहित्य उतना ही पुराना है जितना बँगला का, और उतना ही प्रचुर भी। काश्मीर के अतिरिक्त एक आसाम ही ऐसा प्रदेश है जहाँ के साहित्य में ऐतिहासिक ग्रन्थ मिलते हैं। महाभारत काल के प्रख्यात राजा भगदत्त के इतिहास के विषय में अब भी यत्र तत्र कुछ ग्रन्थ विद्यमान हैं। पिछले छः सौ वर्ष का पूरा इतिहास प्राप्त है। आसाम में एक प्रथा है कि प्रत्येक प्रसिद्ध कुल में ऐसे लेख सुरक्षित रक्खे जाते हैं जिनमें समय समय की बातों तथा राज्य सम्बन्धी परिवर्तनों का सविस्तर उल्लेख रहता है। इन्हीं लेखों में वर्तमान काल की बातें बराबर जुड़ती रहती हैं। इस प्रकार यह ऐतिहासिक दृष्टि से बहुमूल्य है। आसामी में इनको बुरंजी कहते हैं। किन्तु आसाम का पुराना साहित्य केवल ऐतिहासिक ही नहीं है, और साहित्य विशेषत: धार्मिक विषयों पर कविता के रूप में मिलता है। विशेष उल्लेख के योग्य भागवत का एक अनुवाद है जो कोई ५०० वर्ष पुराना है। इसके लेखक का नाम श्री शंकर था। आयुर्वेद पर भी कई उपयोगी ग्रन्थ हैं।

शिव सागर में बोली जानेवाली बोली आसामी की मुख्य बोली है।

बिहारी

बिहारी केवल कई बोलियों का समूह है। ये बोलियाँ हिमालय पहाड़ के दक्खिन से लेकर दक्खिन में सिंहभूमि तक, तथा पूर्वोत्तर में स्थित मानभूमि से लेकर पश्चिम में बस्ती तक बोली जाती हैं। इस प्रकार यह सारे बिहार प्रान्त, आगरा प्रान्त के पूर्वी जिलों तथा अवध के एक छोटे से भाग में बोली जाती हैं। इनके उत्तर में भारतीय चीनी भाषाएँ, दक्खिन में उड़िया, पूर्व में बँगला तथा पश्चिम में पूर्वी हिन्दी बोली जाती है। बिहारी के बोलनेवालों की संख्या ३ करोड़ ६० लाख है।

ऐतिहासिक दृष्टि से उन जातियों का, जो आजकल बिहारी बोलियाँ

बोलती हैं, हिन्दी भाषा-भाषी जनता से अधिक सम्बन्ध है; किन्तु उनकी भाषा हिन्दी की अपेक्षा बँगला से अधिक मिलती है। इनका उच्चारण पूर्वी हिन्दी और बँगला के बीच का है। परसर्ग भी इसी भाँति दोनों भाषाओं के मध्य में ही पड़ते हैं। किन्तु बिहारी में बँगला की भाँति विशेषणों में लिंग भेद बिल्कुल नहीं माना जाता; हिन्दी में माना जाता है। क्रिया के रूपों में भी बँगला से अधिक समानता है। सहायक क्रियाएँ (Auxielary Verbs) तीन प्रकार की हैं—च्छ रूपवाली, बाटे रूप-वाली तथा है रूपवाली। इनमें से, बँगला की भाँति, प्रथम दो बिहारी में पाई जाती हैं, अन्तिम हिन्दी में। भूत काल की क्रियाओं में ल बँगला और बिहारी दोनों में है, किन्तु हिन्दी में नहीं है।

बिहारी की कई बोलियाँ हैं जिनमें मैथिली (तिर्हुतिया), मगही तथा भोजपुरी मुख्य हैं। इन सब में केवल मैथिली ही ऐसी है जो साहित्य की दृष्टि से प्रसिद्ध रही है और महत्वपूर्ण है। मिथिला के पण्डित चिर काल से स्मृति, मीमांसा तथा न्याय में विद्वान् रहे हैं। मिथिला देश में ही लखिमा ठकुरानी नाम की प्रसिद्ध देवी ईसवी १५ वीं शताब्दी में हुईं। इन्होंने साहित्य क्षेत्र में अच्छी ख्याति प्राप्त की है। विद्यापति ठाकुर, जिनको अपनाने का हिन्दी तथा बँगलावाले दोनों ही प्रयत्न करते हैं, इसी मिथिला में हुए। इनके उपरान्त इस बोली में लिखनेवाले कितने ही लेखक हुए हैं। मगही तथा भोजपुरी में कुछ साहित्य प्राप्त नहीं है। भोजपुरी में कुछ गीतिकाएँ (Lyrics) इधर उधर सुन पड़ती हैं जो भावपूर्ण और मधुर हैं; किन्तु अभी प्रकाशित नहीं हुई हैं।

उड़िया

यह भाषा खास तौर से उड़ीसा में बोली जाती है। किन्तु कुछ उड़िया भाषा-भाषी लोग बिहार, मध्य प्रदेश तथा मद्रास प्रान्त में भी बिखरे हुए हैं—बिहार के सिंहभूमि जिले में, मध्य प्रदेश के संभलपुर,

तथा रायपुर जिलों में और मद्रास के गंजाम तथा विजगापटम जिलों में। थोड़े दिनों से ये उड़िया लोग इस बात का प्रयत्न कर रहे हैं कि वे सब एक प्रान्त के अन्तर्गत कर दिए जायँ। इनकी संख्या १ करोड़ १३ लाख है।

राजा नरसिंह देव (द्वितीय) के एक शिलालेख में, जिसको लोग १२९६ ईसवी का बताते हैं, कुछ ऐसे शब्द हैं जिनको लोग उड़िया भाषा का आदि रूप कहते हैं। बँगला की तरह उड़िया में भी बहुवचन का भाव बताने के लिये कोई शब्द जोड़ते हैं। मनुष्य-वाची शब्दों के अन्त में 'माने' तथा औरों के साथ सब, समस्त आदि का बोध करानेवाले किसी शब्द को जोड़कर बहुवचन का काम निकाला जाता है।

उड़िया में बोलियों के भेद प्रायः नहीं हैं। इस भाषा के साहित्य का आरंभ उपेन्द्रभंज नाम के कवि से होता है। इन्होंने कई धार्मिक ग्रन्थ बनाए थे। श्रीकृष्णदास नाम के कवि ने रस-कल्लोल नाम का एक सुन्दर काव्य बनाया था जो बहुत प्रसिद्ध है। वर्तमान काल में कई गद्य ग्रन्थ लिखे गए हैं; किन्तु कहा जाता है कि उनमें मौलिकता का अभाव है।

मराठी

यह भाषा बम्बई प्रान्त, बरार तथा मध्य प्रदेश के कुछ हिस्से में बोली जाती है। इसके अतिरिक्त हैदराबाद रियासत के पश्चिमोत्तर भाग में तथा मद्रास और मध्य भारत की रियासतों में भी मराठी बोलनेवालों की संख्या अच्छी खासी है। इस भाषा के उत्तर में गुजराती, राजस्थानी, पश्चिमी हिन्दी तथा पूर्वी हिन्दी, पूर्व में पूर्वी हिन्दी, गोंडी (गोंड़ जाति की भाषा) तथा तेलगू और दक्खिन में गोंड़ी, तेलगू और कनारी भाषाएँ बोली जाती हैं। सब मिलाकर मराठी बोलनेवाले १ करोड़ ९८ लाख हैं।

ऐसा अनुमान है कि द्राविड़ी भाषाओं के बहुत निकट होने के

कारण ही मराठी में भी मूर्धन्य व्यंजनों की बहुतायत है। मराठी में अनुनासिक (ँ) का उच्चारण नहीं होता। जहाँ कहीं उसके उच्चारण की ज़रूरत पड़ जाती है, वहाँ उसके स्थान में न् बोला जाता है। इसी कारण मराठी भाषा-भाषी हिन्दी 'हैं' के स्थान में केवल 'है' बोलते हैं। गुजराती की भाँति मराठी में भी ज्ञ का उच्चारण द्न् के तुल्य होता है, उत्तर भारत की भाँति ग्य नहीं। इसी प्रकार ऋ को वह लोग रु बोलते है, उत्तर भारत की भाँति रि नहीं।

मराठी में प्रायः बोलियों का अभाव है। मराठी की केवल कोंकणी ही एक बोली है।

आज जहाँ मराठी बोली जाती है, वह देश साहित्य सेवा के लिये सदा से प्रसिद्ध रहा है। वैदर्भी रीति, जो विदर्भ देश के लेखकों की शैली का केवल दूसरा नाम है, संस्कृत साहित्य में प्रमुख रीति समझी गई है। विदर्भ आज कल के बरार का ही पुराना नाम है। मराठी भाषा का प्रारंभ वैष्णव मत के प्रचार के साथ साथ समझना चाहिए। मराठी के आदि कवि नामदेव थे। ये पंढरपुर में ईसवी १३ वीं शताब्दी में हुए थे। इनके अभंग पद बड़े प्रसिद्ध हैं। वे प्रायः नष्ट हो गए हैं, किन्तु सौभाग्यवश सिक्खों के आदि ग्रन्थ में कुछ मिलते हैं। गीता की ज्ञानेश्वरी टीका के रचयिता ज्ञानेश्वर भी नामदेव के समकालीन थे। इन्होंने यह ग्रन्थ सन् १२०८ में ओवि छन्द में लिखा। एकनाथ (इनकी मृत्यु सन् १६०९ मे हुई) ने कुछ अभंग पद संस्कृत ऐतिहासिक काव्यों के आधार पर लिखे। व्रज भाषा में भी इन्होंने कुछ पद रचे थे। शिवाजी के समय में समर्थ गुरु रामदास जी ने अपना अद्वितीय ग्रन्थ दासबोध लिखा। ये शिवाजी के गुरु थे। कहते हैं कि एक बार शिवाजी ने इनको अपना सारा राज्य अर्पण करना चाहा था, किन्तु इन्होंने लेने से इन्कार कर दिया। इनके उपरान्त प्रसिद्ध कवि मोरोपन्त (सन् १७२९–९४) हुए। इन्होंने मराठी काव्य में संस्कृत

अलंकार शास्त्र का समावेश किया। मराठी में शृंगार रस का काव्य भी ऊँचे दरजे का है और लावनी इत्यादि के नाम से प्रसिद्ध है। आजकल के मराठी साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यासों का अच्छा जोर है।

आर्यावर्त के दक्खिन में कृष्णा नदी तक फैला हुआ विस्तृत महाराष्ट्र देश था। इसी देश की भाषा थी महाराष्ट्री प्राकृत, जो प्राकृत भाषाओं में सदा प्रमुख गिनी गई है। इस प्राकृत का जो सब से पुराना ग्रन्थ प्राप्त है, वह हाल सातवाहन की गाथा सप्तशती (गाहासत्तसई) है। यह गोदावरी तीरस्थ सुप्रसिद्ध नगर प्रतिष्ठान में बना था। प्राकृत साहित्य में महाराष्ट्री काव्य (पद्य) की भाषा थी। संस्कृत नाटकों में यह प्राकृत गीत आदि के लिये और शौरसेनी गद्य के लिये प्रयुक्त हुई है। महाराष्ट्री की विशेषता यह थी कि दो स्वरों के बीच में आनेवाले किसी किसी व्यंजन का उच्चारण बिलकुल नहीं किया जाता था; जैसे ऊपर की शती में त का। इसी से कुछ विद्वानों का मत था कि महाराष्ट्री भाषा कोई असल भाषा नहीं थी, केवल कवियों की कल्पना थी। किन्तु यह मत भ्रममूलक है। फ्रेंच भाषा में अधिकांश व्यंजनों का उच्चारण नहीं किया जाता; तो क्या वह कृत्रिम हो गई? मराठी का आदिम लेख पाटन का सन् १२०८ में लिखा हुआ लेख समझा जाता है। इससे पूर्व मराठी का स्वरूप नहीं मिलता।

गुजराती

गुजराती गुजरात, काठियावाड़ तथा कच्छ की भाषा है और सिन्ध तक फैली हुई है। इसके उत्तर की ओर मारवाड़ी तथा दक्खिन की ओर मराठी बोली जाती है। इसके बोलनेवालों की संख्या ९५ लाख है।

पश्चिमी हिन्दी से गुजराती बहुत कुछ मिलती जुलती है, किन्तु इसकी सम्प्रदान तथा सम्बन्ध की विभक्तियाँ अभी तक संयोगात्मक अवस्था में हैं। मूर्धन्य व्यंजनों का इसमें भी बाहुल्य है; व्यंजन के द्वित्व के

स्थान में एकही रह जाता है; यथा पंजाबी तथा पश्चिमी हिन्दी मक्खन है, किन्तु गु० माखन। फारसी भाषा से लिए हुए शब्दों में ह के पूर्व आनेवाले अ का उच्चारण ए किया जाता है; जैसे सेहर (शहर)। हिन्दी की ऐ और औ की जगह यहाँ ए और ओ बोला जाता है; यथा बेठा (बैठा), लोण्डी (लौंडी)। इस बात में गुजराती और पश्चिमी हिन्दी की आधुनिक हिन्दोस्तानी से समानता है।

गुजराती में बोलियों का कुछ प्रभेद नहीं। हाँ पढ़े-लिखों की बोली में और अनपढ़ों की बोली मे कुछ अन्तर जरूर है। मुसलमान तथा पारसी लोग उच्चारण में बड़ी लापरवाही करते हैं।

गुजराती का साहित्य थोड़ा है, किन्तु है बड़ा रोचक। गुजराती के प्रथम कवि नरसिंह मेहता हुए जिनको नरसय्या भी कहते हैं। ये १५ वीं शताब्दी में हुए थे और अपने पदों के लिये प्रसिद्ध हैं। गुजराती में चारणों की गाथाएँ भी पाई जाती हैं।

इस भाषा का इतिहास जानने के लिये तथा विकास समझने के लिये काफी सामग्री है। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में नागर अपभ्रंश का अच्छा ब्योरा दिया है। गुजराती उसी का रूपान्तर है। हेमचन्द्र के उपरान्त २०० वर्ष पीछे का गुजराती भाषा मे लिखा एक संस्कृत व्याकरण मिलता है। फिर उस समय से आज तक की गुजराती की बहुत सी किताबें हैं।

राजस्थानी

बिहारी की भाँति राजस्थानी शब्द से भी केवल कई बोलियों के समूह का बोध होता है। ये राजपूताने तथा मध्य भारत की रियासतों में बोली जाती हैं। राजस्थानी के उत्तर में पश्चिमी पंजाबी, पंजाबी तथा बाँगड़ू, पश्चिम में पश्चिमी पंजाबी तथा सिन्धी, दक्खिन में बुंदेली, मराठी, भीली और गुजराती, तथा पूर्व में व्रज और बुंदेली ये बोलियाँ बोली जाती हैं। राजस्थानी भाषा-भाषी मनुष्यों की संख्या १ करोड़ २७ लाख है।

इस समूह में कई बोलियाँ हैं जिनमें मारवाड़ी, जयपुरी, मालवी और मेवाती महत्व की हैं।

साहित्य केवल मारवाड़ी में मिलता है। पुरानी मारवाड़ी में कई काव्य हैं। इसको लोग डिंगल कहते थे और व्रज को पिंगल। कहते हैं कि मारवाड़ी भाषा में ही दादू-पन्थियों के पाँच लाख पद्द हैं।

राजस्थानी में भी गुजराती और सिन्धी की भाँति मूर्धन्य व्यंजनों का बाहुल्य है। ल तथा ण बहुत बोले जाते हैं। राजस्थानी में केवल दो ही लिंग हैं; गुजराती और मराठी में तीसरा नपुंसक भी है। पश्चिमी हिन्दी से राजस्थानी बोलियों का व्याकरण भिन्न होने के कारण यह अलग भाषा गिनी गई है।

खानदेशी तथा भीली बोलियाँ

राजपूताने, मध्य भारतीय रियासतों, मध्य प्रदेश तथा बम्बई प्रान्त इन सब के मध्यस्थित प्रदेश में भील, अहीर आदि कुछ जंगली जातियाँ रहती हैं। यही जातियाँ ये बोलियाँ बोलती हैं। इनकी उत्तरी सीमा अरावली पहाड़ी पर अजमेर के नीचे है तथा दक्खिनी सीमा अरब सागर के तीरस्थ दमन नगर के निकट है। इन बोलियों के चारों ओर गुजराती, राजस्थानी और मराठी भाषाएँ बोली जाती हैं। इन जंगली जातियों के मनुष्यों की संख्या २० लाख है।

ये सभी बोलियाँ एक दूसरी से बहुत कुछ मिलती जुलती हैं। मुख्य है खानदेशी, जो कुछ दिन पहले मराठी की शाखा समझी जाती थी; किन्तु इसके प्रत्यय बहुधा राजस्थानी और गुजराती से अधिक मिलते हैं, मराठी से कम। उच्चारण में भी कुछ विशेषताएँ हैं। अ गोल नहीं बोला जाता, किन्तु बिल्कुल खुला हुआ। चवर्गी व्यंजनों में स की झनकार रहती है; यथा च के स्थान में प्रायः त्स। नादरहित व्यंजनों के स्थान में भी नादयुक्त व्यंजनों का प्रयोग करने की प्रथा है; यथा घोड़ों के स्थान पर खोड़ों।

यहाँ साहित्य का नाम नहीं है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से यह सिन्धी और पश्चिमी पंजाबी या लहँदा से मिलती है।

सिन्धी

सिन्धी सिन्ध प्रान्त की भाषा का नाम है। यह बलूचिस्तान, पंजाब, राजपूताने और कच्छ तक फैली हुई है। इसके पच्छिम में बलोची, उत्तर में लहँदा, पूर्व में मारवाड़ी तथा दक्खिन में गुजराती भाषाएँ हैं। इसके बोलनेवालों की संख्या ३३ लाख है।

सिन्धी और लहँदा का पश्चिमोत्तर प्रदेश की दर्दी भाषाओं से, विशेषतया काश्मीरी से, बड़ा सम्बन्ध है। सिन्धी में आदिम त और द के स्थान में ट और ड हो जाता है। जैसे हि० ताँबा, सि० टामो या ट्रामो, हि० देना सि०डिश्रणु। और भाषाओं में प्रायः दो स्वरों के बीच में आनेवाले त व्यजन का लोप हो जाता है, किन्तु सिन्धी में नहीं; यथा हि० छुआ, सि० छुतो।

सिन्धी की चार बोलियाँ हैं। पढ़ने लिखने की बोली विचोली है। इसके अतिरिक्त सिरइकी, थरेली और लाड़ी हैं।

साहित्य इस भाषा में बहुत थोड़ा है; और जो है भी, वह सब प्रकाशित नहीं हुआ है। इसके एक प्रसिद्ध लेखक अब्दुललतीफ़ थे जो १७ वीं शताब्दी के अन्त में हुए। इनके काव्य 'शाह-जो-रिसालो' की सिन्धी विद्वान् बड़ी प्रशंसा करते हैं और इन्हें सिन्ध का हाफ़िज़ समझते हैं।

मार्कण्डेय के अनुसार सिन्ध प्रान्त में ब्राचड़ अपभ्रंश बोली जाती थी। इसी से सिंधी निकली है। ब्राचड़ में भी त और द के स्थान में ट और ड हो जाता था, जो विशेषता सिंधी में भी पाई जाती है।

लँहदा *

लँहदा पश्चिमी पंजाब में बोली जाती है। इसको कोई कोई

* वास्तव में "लँहदा" किसी भाषा का नाम नहीं है। पंजाबी में "लँहदा" का

कोई पश्चिमी पंजाबी, जटकी, मुल्तानी अथवा हिंदको भी कहते हैं। हिंदको का अर्थ है हिन्दुओं की बोली; क्योंकि इसके दूसरी ओर पश्तो है जो मुसल्मानों की बोली है। लँहदा के पूर्व में पंजाबी, उत्तर में काश्मीरी, शिणा, कोहिस्तानी आदि दर्दी भाषाएँ, पच्छिम में पश्तो और बलोची तथा दक्खिन में सिंधी और राजस्थानी हैं। इसके बोलने-वालों की संख्या ५६ लाख है।

इस भाषा की विशेषता यह है कि इसमें भविष्य में स का प्रयोग होता है; यथा हि० मरेगा, लँ० मर्सी। इस बात में यह पच्छिमी गुज-राती और राजस्थानी से मिलती है, सिंधी से नहीं। किन्तु और कई बातों में यह सिंधी से मिलती है। दर्दी भाषाओं में घ, झ, ढ, ध और भ के स्थान में क्रम से ग, ज, ड, द और ब हो जाते हैं। इसके कई उदाहरण लहँदा में भी मिलते हैं; जैसे (गिद्द से—गिद्ध संस्कृत गृहीत से), बुक्क (भुक्त से)। नादयुक्त व्यंजनों के स्थान में नादरहित अक्षरों का आदेश हो जाता है; जैसे काश्मीरी भाषा में हापत् शब्द जो संस्कृत श्वापद से निकला है। लहँदा में भी इस बात के कई उदाहरण हैं। दर्दी और लहँदा दोनों में अनन्तर आनेवाले स्वर के कारण पूर्व स्वर में भी विकार हो जाता है; यथा कुकड़ी (मुर्गी) की जगह लँ० कुकिड़ी जहाँ अन्तिम ई के कारण उसके पूर्व आनेवाले अ के स्थान में भी इ हो गई अथवा वाहुड़ (वाहड़ से) अर्थात् बैल। लँ० के सर्वनाम भी हिन्दी से भिन्न हैं—जैसे लँ० अस्सीं और तुस्सीं, हिन्दी हम और तुम की जगह। पंजाबी, सिंधी और काश्मीरी इस बात में सब एक सी ही हैं।

अर्थ "उतरना" होता है। ग्रियर्सन साहब ने "लँहदे की बोली" लिखा है। यहाँ "लँहदा" का अर्थ है—वह दिशा जिधर सूर्य उतरता या अस्त होता है, अर्थात् पश्चिम दिशा। और "लँहदे की बोली" का वास्तविक अर्थ है—पश्चिमी पंजाब की भाषा। —संपादक।

लहँदा में कई बोलियाँ हैं जिनमे शाहपुर जिले में बोली जानेवाली मुख्य है।

दर्दी अथवा पिशाच भाषाएँ

महाभारत तथा पुराणों में दरद अथवा दारद जाति का उल्लेख मिलता है। यूनानी और रोमन इतिहास लेखकों ने हिन्दूकुश और भारत की सीमा के बीच के पहाड़ी स्थानों में रहनेवाली जातियों का नाम दर्द लिखा है। इसी प्रदेश को लोग आसानी के लिये दर्दिस्तान भी कहते हैं। इसी प्रदेश में पिशाच नाम की एक मनुष्य जाति रहती थी, जिसकी भाषा का नाम था पैशाची।

दर्दी भाषाओं के अंतर्गत भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश की भाषाएँ हैं। इस समूह में शिणा और काश्मीरी दो भाषाएँ विशेष उल्लेख-योग्य हैं। इन दो भाषाओं के बोलनेवालों की संख्या १३ लाख है। काफिरी, चित्राली आदि अन्य दर्दी भाषाओं के बोलनेवालों की संख्या का पता नहीं।

काश्मीरी को छोड़कर अन्य दर्दी भाषाओं में साहित्य नहीं है। काश्मीर तो बहुत दिनों से साहित्य के लिये प्रसिद्ध रहा है। काश्मीरी की आदि लेखिका एक महिला थीं जो ईसवी १४ वीं शताब्दी में हुई। इनका नाम था लल्ला अथवा लाल देद। इनकी कविता धार्मिक और शैव मत की है। १५ वीं शताब्दी में बाणासुरवध बना। १८ वीं शताब्दी में देवाकर प्रकाश भट्ट ने एक रामायण लिखी जो इस विचार से महत्व की है कि उसमें ऐसी कथाएँ भी हैं जो और रामायणों में नहीं मिलतीं। परमानन्द की कृष्ण कथा भी प्रसिद्ध है। ये दोनों कथाएँ सुन्दर शुद्ध काश्मीरी भाषा में लिखी हैं और बड़ी रोचक हैं।

काश्मीरी में दो बोलियाँ हैं—एक हिन्दुई और दूसरी मुसलमनी। एक में संस्कृत शब्दों का अधिक समावेश होता है, दूसरी में फारसी का।

बढ़े चढ़े साहसी थे, वे राजपूताने की ओर चले गए। जो बचे, वे क्षत्रियोचित धार्मिक कर्म न करने के कारण क्षत्रियों के अच्छे पद से च्युत समझे गए। यह खश जाति तथा काश्मीर में बसनेवाली पिशाच जाति आर्य ही थीं, किन्तु कठिन वर्णाश्रम धर्म को न निभाने के कारण वर्णाश्रम धर्म में नहीं गईं। ये सब आर्य भाषा भाषी थे और एक ही समूह के थे; इसी कारण इनकी भाषाएँ मिलती जुलती हैं।

खशकुरा नेपाल निवासी आर्य विजेताओं की भाषा का नाम है। जब से नेपाल में राष्ट्रीय जीवन का दौर दौरा हुआ है, तब से यह भाषा दिन पर दिन उन्नति कर रही है। इसका साहित्य भी बढ़ता जा रहा है। नेपाल के राजकाज में अब यही भाषा काम में आती है। इसका दूसरा नाम गोर्खाली है।

कुमाऊनी कुमायूँ प्रदेश के निवासियों की भाषा है। इस भाषा में भी थोड़ा सा साहित्य है जो अल्मोड़ा से प्रकाशित हुआ है। कुमाऊनी लेखकों में सब से प्रसिद्ध गुमानी कवि हुए हैं। इन्होंने संस्कृत, हिन्दी, कुमाउनी तथा गोर्खाली सभी भाषाओं में काव्य-रचना की है। ये महाशय १९ वीं शताब्दी में हुए थे। कुमाउनी जनता अपने आपस को छोड़कर हिन्दी का ही अधिक प्रयोग करती है; इसी कारण इस भाषा का साहित्य उन्नति नहीं कर सका है।

गढ़वाली गढ़वाल में बोली जानेवाली बोली का नाम है। इसमें कोई साहित्य नहीं है।

पश्चिमी पहाड़ी के अन्तर्गत बहुत सी छोटी छोटी बोलियाँ हैं जो शिमले के आसपास पहाड़ियों पर बोली जाती हैं। इनमें से मुख्य बघाट में बोली जानेवाली बघाटी तथा कुल्लू में बोली जानेवाली कुलुई हैं।

पहाड़ी भाषाओं के समान ही बंजारा, ओड़, साँसियाँ आदि घूमती फिरती जातियों की भी बोलियाँ हैं। ये लोग प्रायः जहाँ जहाँ जाते हैं, वहीं की बोली बोलने लगते हैं और इस प्रकार बहु-

भाषाभाषी होते हैं। इनकी बोली प्रायः राजस्थानी से मेल रखती है। इनकी संख्या १५ हजार से कुछ अधिक है।

पंजाबी

यह भाषा पंजाब के पूर्वी भाग, बीकानेर के उत्तरी कोने में तथा दक्खिन जम्मू रियासत में बोली जाती है। इसके पश्चिम में लहँदा, उत्तर में पहाड़ी भाषाएँ, पूर्व में पश्चिमी हिन्दी तथा दक्खिन में राजस्थानी का विस्तार है। पंजाबी भाषाभाषी जनता की संख्या १ करोड़ ६२ लाख है।

पश्चिमी हिन्दी तथा पंजाबी का कुछ भाग एक ही है; अर्थात् यह निश्चित करना कठिन है कि यहाँ की भाषा पंजाबी है अथवा हिन्दी, किन्तु सिक्ख यहाँ भी पंजाबी ही बोलते हैं। आदि व के स्थान में हिन्दी में प्रायः सर्वत्र ब बोला जाता है; किन्तु पंजाबी में कहीं कहीं व भी रहता है; यथा हिं० बीच, पं० विच्च। पश्चिमी हिन्दी में साथ आनेवाले दो समान व्यंजनों के स्थान में एक ही रह जाता है, किन्तु पंजाबी में दोनों रहते हैं; यथा हिं० गाड़ी या काम के स्थान में पंजाबी में गड्डी या कम्म होता है। हिन्दी के संबंध-सूचक पर-सर्ग का के स्थान में पंजाबी में दा है। पंजाबी में संस्कृत तत्सम शब्द बहुत ही कम हैं।

पंजाबी में साहित्य भी कम है। आदि ग्रन्थ में बहुत से कवियों द्वारा लिखित पदों का संग्रह है और अधिकतर पश्चिमी हिन्दी में ही है। सिक्खों का एक और प्रसिद्ध ग्रन्थ साखीनामा है। पंजाबी की प्रेम कहानियाँ बहुत रोचक हैं। उनमें से विशेष उल्लेख के योग्य राजा रसालू, हीर और राँझा तथा मिर्जा और साहिबा की कहानियाँ हैं।

पूर्वी हिन्दी

पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत तीन बोलियाँ हैं—अवधी, बघेली तथा

छत्तीसगढ़ी। अवधी का विस्तार फैजाबाद जिले का कुछ भाग छोड़कर और हरदोई जिले को छोड़कर सारे अवध में, आगरा प्रान्त के इलाहाबाद तथा फतेहपुर जिलों में तथा मिरजापुर और जौनपुर के कुछ भाग में है। बघेली का सारे बघेलखंड में तथा बुँदेलखंड के कुछ भाग में और छत्तीसगढ़ी का मध्य प्रदेश के छत्तीसगढ़ में तथा छोटा नागपुर के छोटे से भाग में है। इस प्रकार नैपाल के नीचे से लेकर मध्यप्रदेश में दक्खिन में बस्तर तक पूर्वी हिन्दी का विस्तार है। इसके अतिरिक्त अवध के कुछ लोग आसाम तथा दक्खिनी बंगाल में जाकर बस गए हैं और वहाँ भी अवधी ही बोलते हैं। पूर्वी हिन्दी के पश्चिम में पश्चिमी हिन्दी की कनौजी और बुंदेली बोलियाँ तथा पूर्व में बिहारी की भोजपुरी बोली बोली जाती है। इसके उत्तर में गोर्खाली तथा दक्खिन में मराठी और उड़िया हैं। अवधी, बघेली तथा छत्तीसगढ़ी में परस्पर बहुत कम अन्तर है। केवल छत्तीसगढ़ी पर पड़ोसी मराठी तथा उड़िया का कुछ प्रभाव पड़ा है, इस कारण वह कुछ भिन्न हो गई है।

साहित्यिक दृष्टि से अवधी महत्वपूर्ण है। हिन्दी भाषा का रत्न स्वरूप रामचरितमानस इसी बोली में है। इसके कुछ पर्व प्रसिद्ध मुसलमान कवि मलिक मुहम्मद जायसी ने पदमावत की अद्वितीय प्रेम-कथा इसी में रची। नूर मुहम्मद का काव्य 'इन्द्रावती' भी इसी में है। बघेली में कुछ साहित्य नहीं है। रीवाँ के महाराज पूर्व काल में साहित्य और कलाओं के बड़े पोषक रहे हैं और कोई कोई अच्छे कवि भी हो गए हैं। अकबर के प्रसिद्ध गवैए तानसेन रीवाँ दरबार के ही थे, जहाँ से अकबर ने उन्हें १५९३ ई० में बुलवाया था और तब से अपने दरबार में ही रख लिया। महाराज नेजाराम, महाराज विश्वनाथ सिंह तथा महाराज रघुराजसिंह अच्छे कवि हो गए हैं। छत्तीसगढ़ी में भी कुछ गीतों तथा कहानियों को छोड़कर कोई साहित्य नहीं है। इधर छत्तीसगढ़ी जनता में कुछ राष्ट्रीयता के भाव आ रहे हैं।

पूर्वी हिन्दी के पश्चिम में पश्चिमी हिन्दी की बोलियाँ हैं और पूर्व में बिहारी की बोली भोजपुरी। पश्चिमी हिन्दी का विकास शौरसेनी प्राकृत से तथा बिहारी का मागधी प्राकृत के किसी रूप विशेष से हुआ है। इस प्रकार पूर्वी हिन्दी की उत्पत्ति शौरसेनी और मागधी प्राकृतों की मध्यवर्ती प्राकृत से होनी चाहिए। यह प्राकृत थी अर्धमागधी। पूर्वी हिन्दी की तुलना उसकी पड़ोसिनों से करने पर उसमें कुछ बातें शौरसेनी की सन्तान पश्चिमी हिन्दी की और कुछ मागधी की कन्या भोजपुरी की मिलती हैं। अर्धमागधी भी ठीक इसी प्रकार की मध्यस्थ भाषा थी। पूर्वी हिन्दी के परसर्ग का और मा, भोजपुरी के और में तथा कनौजी को और महियाँ के बीच के हैं। पूर्वी हिन्दी में 'था' 'थे' आदि का बोध कराने के लिये रहेउँ, रहेन हैं, कनौजी में हतो, हते तथा भोजपुरी में बाटेउ आदि पाए जाते हैं। भोजपुरी के समान उत्तम पुरुष का भविष्य ब वाले रूप का (कहिब, रहिब आदि) होता है, किन्तु और पुरुषों में कनौजी के समान ह वाले रूप का (रहिहउ, रहिहैं) होता है।

इस प्रकार व्याकरण की दृष्टि से (और भाषाओं का विभाग करने के लिये यही दृष्टि मुख्य है) पूर्वी हिन्दी न तो भोजपुरी के साथ जा सकती है, न अपनी पश्चिमी बहन के साथ। इसी कारण भाषा-वैज्ञानिकों ने इसको अलग ही स्थान दिया है। किन्तु इन दो हिन्दी भाषाओं में जो भेद है, उसको साधारण मनुष्य नहीं समझते; और इसी कारण आबादी की रिपोर्टों में इन के बोलनेवालों की अलग ठीक संख्या नहीं मिलती। दोनों हिन्दी के बोलनेवालों की संख्या ९ करोड़ ६७ लाख से कुछ अधिक है।

पश्चिमी हिन्दी

इस भाषा का स्थान पुराना मध्यदेश है। इसका विस्तार पश्चिम

में सरस्वती से लेकर पूर्व में प्रयाग के छोर तक और उत्तर में हिमालय की तराई से लेकर दक्खिन में नर्मदा तट तक है।

इसकी पाँच बोलियाँ हैं—हिन्दुस्थानी, बाँगडू, ब्रज, कनौजी तथा बुंदेली जो सभी अपना अपना महत्व रखती हैं। इसमें भी ब्रज तथा हिन्दुस्थानी सारे भारत में फैलने के कारण महत्व रखती हैं। ब्रज पूर्व समय में उत्तरी भारत के हिन्दू मात्र की साहित्यिक भाषा रही है। कृष्ण भगवान् की प्रार्थना उपासना के लिये असंख्य पद इसी भाषा में बने और इसी कारण इसका प्रचार दूर तक के प्रदेशों में हुआ। ऊपर देख ही चुके हैं कि ब्रज में मराठी कवि एकनाथ जी ने तथा कुछ सिक्ख कवियों ने पद रचे हैं। हिन्दुस्थानी आज सारे भारत की बोल चाल की भाषा है और उसकी दिन प्रति दिन उन्नति हो रही है। भारत में अंगरेजी का स्थान किसी समय यही भाषा लेगी।

ऊपर कहा जा चुका है कि पूर्वी हिन्दी तथा पश्चिमी हिन्दी का एक साथ वर्गीकरण नहीं हो सकता। पश्चिमी हिन्दी पर अधिक प्रभाव संस्कृत भाषा का पड़ा है, पूर्वी हिन्दी पर पाली आदि प्राकृतों का।

कुछ सज्जनों का विचार है कि हिन्दुस्थानी के अन्तर्गत दो विभिन्न भाषाएँ हैं—साहित्यिक हिन्दी तथा साहित्यिक उर्दू। किन्तु भाषा विज्ञान की दृष्टि से ये दोनों अलग नहीं कही जा सकतीं। दोनों शौरसेनी प्राकृत की सन्तान हैं। अन्तर केवल वर्णमाला और शब्द-समूह का है। उर्दू अर्बी अक्षरों में लिखी जाती है, हिन्दी देवनागरी में। हिन्दी को जब शब्दों की ज़ुरूरत पड़ती है, तब वह संस्कृत की शरण लेती है; उर्दू फ़ारसी की। इस विभिन्न शब्द समूह के कारण दोनों बोलियाँ एक दूसरी से दिन प्रति दिन अलग होती जाती हैं और कठिन भी होती जाती हैं। यदि उर्दू तथा हिन्दी साहित्य-सेवी सज्जन संस्कृत और फारसी के शब्दों की भरमार करना छोड़कर सीधे सादे रोजमर्रह के शब्द प्रयोग करें, तो सम्भवतः उर्दू हिन्दी का यह

झगड़ा मिट जाय और भाषा भी सरल ही बनी रहे। भाषा तत्वज्ञों की यही धारणा है; किन्तु जब साहित्य के धुरंधर निर्माता इस ओर ध्यान दें तब न।

---

* इस लेख के लिखने में भारत सरकार द्वारा प्रकाशित डाक्टर सर जार्ज ग्रियर्सन [illegible] लिंग्विस्टिक सर्वे की जिल्दों से पूरी सहायता ली गई है। आधुनिक भाषाओं का विवरण देते समय सर्वे से अंश लेकर स्वतन्त्र रूप से अनुवाद किए गए हैं। हिन्दी में इस विषय की सामग्री कम होने के कारण शायद लेख की उपयोगिता होगी।

(८) माघ कवि का समय

[लेखक—श्रीयुत राय बहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा, अजमेर ।]

भारतवर्ष का प्राचीन लिखित इतिहास न होने के कारण यहाँ के अनेक विद्वानों आदि की जीवन-लीला के सम्बन्ध में हम कुछ भी नहीं जान सकते। इतना ही नहीं, किन्तु उनका समय भी अज्ञात ही है। हमारे यहाँ के विद्वान् निरभिमानी और निःस्वार्थी होने के कारण अपने ग्रंथों में बहुधा अपना नाम ही दिया करते थे; अपनी जीवन-लीला का वर्णन करना वे आडम्बर समझते थे। कभी कभी किसी ने अपने वंश का कुछ परिचय या अपने ग्रंथ की समाप्ति का समय भी दिया है, परंतु ऐसे उदाहरण बहुत कम मिलते हैं।

माघ कवि का प्रसिद्ध ग्रंथ "शिशुपाल-वध काव्य" संस्कृत के प्रेमी बड़े उत्साह से पढ़ते हैं, क्योंकि यह प्रसिद्धि चली आती है कि कालिदास के ग्रंथों में उपमा, भारवी के किरातार्जुनीय में अर्थ-गौरव और दंडी के ग्रंथों में पद-लालित्य की विशेषता है, परन्तु माघ का शिशुपाल-वध इन तीनों गुणों से परिपूर्ण है*। ऐसे विद्वद्रत्न का जीवनचरित्र तो दूर रहा, निश्चित समय भी अज्ञात ही है।

माघ कवि ने शिशुपालवध काव्य के अंत में अपना वंश वर्णन किया है, जिसका आशय यह है—"राजा वर्मलात का सर्वाधिकारी (प्रधान मंत्री) सुप्रभदेव हुआ। राजा अपने हित की इच्छा से उस

---

* उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दंडिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥
(प्राचीन पद्य)

(सुप्रभदेव) के शुद्ध कथन को भगवान् बुद्धदेव के कथन के समान मानता था। सुप्रभदेव का पुत्र दत्तक हुआ जो क्षमाशील और धर्मपरायण था। उस सत्पुरुष के गुणों से रंजित होकर लोगों ने उसको सर्वाश्रय की उपाधि (उपनाम) प्रदान की थी। उस (दत्तक) के पुत्र (माघ) ने 'शिशुपालवध काव्य' की रचना की " *। माघ का दिया हुआ यह परिचय उसका समय निर्णय करने के लिये पर्याप्त नहीं है।

शिशुपाल वध की भिन्न भिन्न हस्त-लिखित पुस्तकों में वर्मलात के स्थान पर "वर्मलाख्य, वर्मनाम, धर्मलात, धर्मनाम, धर्मनाथ, धर्मलाभ, धर्मदेव, धर्मलात और निर्मलान्त" पाठ मिलते हैं †। प्राचीन नागरी लिपि में 'घ' और 'व' में अंतर केवल यही था कि 'घ' के ऊपर सिर की आड़ी लकीर नहीं लगाई जाती थी, किन्तु 'व' में लगाई जाती थी। इस प्रकार 'घ' और 'व' का वास्तविक भेद न जानने के कारण नकल करनेवालों ने वर्मलात को धर्मनाभ, धर्मनाथ धर्मलाभ, और धर्मदेव आदि

---

* सर्वाधिकारी सुकृताधिकारः श्रीवर्मलातस्य बभूव राज्ञः ॥
असक्तदृष्टिर्विरजाः सदैव देवोऽपरः सुप्रभदेवनामा ॥ १ ॥
काले मितं तथ्यमुदर्कपथ्यं तथागतस्येव जनः सचेताः ॥
विनानुरोधात्स्वहितेच्छयैव महीपतिर्यस्य वचश्चकार ॥ २ ॥
तस्याभवद्दत्तक इत्युदात्तः क्षमी मृदुर्धर्मपरस्तनूज ॥
यं वीक्ष्य वैयासमजातशत्रोर्वचो गुणग्राहिजनैः प्रतीये ॥ ३ ॥
सर्वेण सर्वाश्रय इत्यनिन्द्यमानन्दभाजा जनितं जनेन ॥
यश्च द्वितीयं स्वयमद्वितीयो मुख्यः सतां गौणमवाप नाम ॥ ४ ॥
श्रीशब्दरम्यकृतसर्गसमाप्तिलक्ष्म
लक्ष्मीपतेश्चरितकीर्तनमात्रचारु ॥
तस्यात्मजः सुकविकीर्तिदुराशयादः
काव्यं व्यधत्त शिशुपालवधाभिधानम् ॥ ५ ॥
(शिशुपाल-वध काव्य के अंत का कवि वंशवर्णन)

† महामहोपाध्याय पंडित दुर्गाप्रसादजी लिखित शिशुपालवध काव्य का उपोद्घात, पृ० ६ (निर्णयसागर संस्करण)। उक्त सब पाठों में से शुद्ध पाठ 'वर्मलात' है, जैसा कि उसी राजा के वि० सं० ६८२ के शिलालेख में मिलता है।

लिख दिया हो, यह संभव है। ऐसे ही 'ध' को 'घ' पढ़कर "घर्मलात" और 'व' को 'च' पढ़कर "चर्मलात" लिख दिया हो।

भिन्न भिन्न युरोपियन विद्वानों ने माघ का समय भिन्न भिन्न माना है। प्रोफेसर ह्यर्मन जैकोबी ने ईसवी सन् की सातवीं शताब्दी * से पूर्व, डाक्टर-फ्लीट ने ई० सन् की नवीं शताब्दी † के अंत में, प्रोफेसर मैक्डोनल ने ईसवी सन् की दसवीं शताब्दी ‡ के पूर्व और डाक्टर कीथ ने ईसवी सन् ७०० के आस पास उसका समय बतलाया है +। महामहोपाध्याय पंडित दुर्गाप्रसादजी का कथन है कि माघ पंडित का समय ईसवी सन् की नवीं शताब्दी से पीछे किसी प्रकार नहीं माना जा सकता ×। अब यह निश्चय करने की आवश्यकता है कि वास्तव में माघ कवि कब हुआ।

वि० सं० की ११ वीं शताब्दी के पीछे जैन विद्वानों ने इतिहास की तरफ ब्राह्मणों की अपेक्षा अधिक ध्यान दिया, जिससे उनके यहाँ कई चरित्र-ग्रंथों की रचना हुई। उनमें जैन एवं जैनेतर राजाओं, विद्वानों आदि के चरित अंकित किए गए हैं; परंतु उनमें भी पहले के राजाओं, विद्वानों आदि के सम्बन्ध में जो कुछ परम्परागत जनश्रुति से उन्होंने सुना, वही संग्रह किया है। इसलिये अपने से अधिक समय पहले के विद्वानों आदि के सम्बन्ध में जो कुछ उन्होंने लिखा है, वह सब का सब प्रमाणयुक्त है, यह नहीं कहा जा सकता।

अब तक पहले के तीन संस्कृत लेखकों का माघ कवि के सम्बन्ध का कथन उपलब्ध हुआ है, जिनमें से दो जैन हैं; और उनमें भी सब

* वियेना ओरिएण्टल जरनल, जि० ३, पृ० १४१।

† वही; जि० ४, पृ० ६१ और आगे; तथा पृ० २३६ और आगे।

‡ मैक्डॉनल; ए हिस्ट्री आफ् संस्कृत लिट्रेचर; पृ० ३२९।

+ कीथ, क्लासिकल् संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ५४।

× शिशुपालवध का उपोद्घात, पृ० ५।

से पहला जैन लेखक चन्द्रप्रभ सूरि है। उसने वि० सं० १३३४ में प्रभावक-चरित नामक चरितावलि लिखी, जिसके १४ वें शृङ्ग या प्रबन्ध में सिद्धर्षि का वृत्तान्त लिखा है। वह माघ के सम्बन्ध में उपयोगी है, इस कारण उसका आशय नीचे दिया जाता है।

"गुर्जर (गुजरात) देश के समृद्धिवान् श्रीमाल नगर के राजा वर्मलात का मंत्री सुप्रभदेव था। उसके दो पुत्र दत्त (दत्तक) और शुभंकर हुए। दत्त (दत्तक) का पुत्र माघ हुआ, जिसका बाल-मित्र विद्वान् राजा भोज था। माघ ने 'शिशुपाल-वध काव्य' की रचना की, जिसकी सतत प्रशंसा हो रही है। माघ का चचा शुभंकर श्रेष्ठी (व्यापारी) बड़ा दानी हुआ। उसकी सती स्त्री लक्ष्मी, विष्णु-पत्नी लक्ष्मी जैसी थी, जिससे सिद्ध नामक पुत्र हुआ। सिद्ध का विवाह एक कुलवती कन्या से हुआ था, पर वह दुराचरण में पड़कर व्यभिचारी और जुआरी हो गया। अपनी माता के कठोर वचन सुनकर वह एक रात्रि को जैन उपाश्रय में जा रहा। वहाँ जैन साधुओं की तपस्या और निर्मल आचरण देखकर उसने जैन धर्म की दीक्षा लेकर साधु होना निश्चित किया। पिता ने उसको बहुत कुछ समझाया, परंतु वह अपने निश्चय से नहीं डिगा। अंत में उसने गर्गर्षि नामक जैन साधु से दीक्षा ग्रहण कर ली। फिर वह विद्याध्ययन कर बड़ा विद्वान् हो गया और सिद्धर्षि नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसने 'उपमितिभवप्रपंचा महाकथा' नामक बड़े ग्रंथ की रचना की। हरिभद्र सूरि का ग्रंथ (ललितविस्तर) पढ़ने से उसके चित्त पर बड़ा प्रभाव पड़ा था, जिससे वह उनको भी गुरुवत् मानता था *।"

'प्रभावक चरित' में सत्य का अंश अवश्य है; क्योंकि माघ कवि ने स्वयं अपने वंश का जो शुद्ध परिचय दिया है, वह ज्यों का त्यों उसमें

* चंद्रप्रभसूरि-रचित 'प्रभावकचरित्' निर्णयसागर संस्करण, पृ० १९१-२०४ [illegible] सिद्धर्षि [illegible]।

भी पाया जाता है। वर्मलात भी गुर्जर देश * की राजधानी श्रीमाल (भीनमाल) नगर का राजा अवश्य था। चीनी यात्री हुएन्त्संग ने भी गुर्जर देश की राजधानी भीनमाल में होना लिखा है। †

चन्द्रप्रभसूरि ने माघ या राजा वर्मलात का कोई समय नहीं दिया। परंतु यदि वास्तव में सिद्धर्षि माघ का चचेरा भाई ‡ हो, तो माघ के समय का कुछ अनुमान हो सकता है; क्योंकि सिद्धर्षि ने अपनी "उपमितिभवप्रपंचा कथा" की समाप्ति संवत्सर '९६२ ज्येष्ठ सुदी ५, पुनर्वसु नक्षत्र और गुरुवार' के दिन होना लिखा है +। सिद्धर्षि ने इसमें केवल संवत्सर शब्द का प्रयोग किया है; परंतु यह स्पष्ट नहीं लिखा कि यह शब्द विक्रम संवत् का अथवा शक संवत् का सूचक है। तो भी उसके साथ मास, पक्ष, तिथि, नक्षत्र और वार दिए हैं, जिससे गणित के द्वारा उसका निर्णय हो सकता है। संवत्सर ९६२ शक संवत् तो हो नहीं सकता; क्योंकि उक्त शक संवत् में ज्येष्ठ सुदि ५ को पुनर्वसु नक्षत्र और गुरुवार नहीं, किन्तु अश्लेषा नक्षत्र और सोमवार था। यदि वह

---

* इस समय गुर्जर अर्थात् गुजरात देश उसी प्रदेश को कहते हैं, जहाँ गुजराती भाषा बोली जाती है। परन्तु प्राचीन काल में जोधपुर राज्य के उत्तरी हिस्से से लेकर दक्षिण तक का सारा प्रदेश तथा उससे मिला हुआ गुजरात का मही तक का सारा प्रदेश गुर्जर देश या गुजरात कहलाता था। अब तो केवल उसका गुजरात का अंश ही उक्त नाम से प्रसिद्ध है। गुर्जर देश के विशेष वर्णन के लिये देखो—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग १, पृ० २४१–४६।

† बील, 'बुद्धिस्ट रेकर्ड्स ऑफ दी वेस्टर्न वर्ल्ड,' जि० २, पृ० २७०।

‡ माघ को सिद्धर्षि का चचेरा भाई मानने के लिये कोई प्राचीन लिखित प्रमाण नहीं है और न सिद्धर्षि ने अपनी 'उपमितिभवप्रपंचा कथा' में इस विषय का कोई उल्लेख किया है। चन्द्रप्रभसूरि ने माघ से अनुमान ६०० वर्ष पीछे यह बात लिखी है; इसलिये यह विश्वसनीय नहीं प्रतीत होती।

+ संवत्सरशतनवके द्विषष्ठिसहिते लंघिते चास्याः।
ज्येष्ठे सितपञ्चम्यां पुनर्वसौ गुरुदिने समाप्तिरभूत्॥
(उपमितिभवप्रपंचा कथा)

विक्रम संवत् हो, तो यह भी निश्चय करना आवश्यक है कि वह चैत्रादि (उत्तरी गणना का) अथवा कार्तिकादि (दक्षिणी गणना का) विक्रम संवत् है। चैत्रादि विक्रम संवत् ज्येष्ठ सुदि ५ को भी पुनर्वसु नक्षत्र और गुरुवार नहीं, किन्तु पुष्य नक्षत्र और रविवार था। कार्तिकादि विक्रम संवत् ९६२ ज्येष्ठ सुदि ५ को पुनर्वसु नक्षत्र भी था और गुरुवार भी, ऐसा गणित से पाया जाता है। अतएव 'उपमितिभवप्रपंचा कथा' की समाप्ति कार्तिकादि विक्रम संवत् ९६२ (चैत्रादि ९६३) में होना निश्चित है। परंतु माघ का इस संवत् के आसपास होना हम स्वीकार नहीं कर सकते, जिसका कारण आगे लिखा जायगा।

वि० सं० १३६१ में वर्द्धमान (वडवाण, काठियावाड़) में मेरुतुंगाचार्य ने अपनी 'प्रबंध चिन्तामणि' नामक पुस्तक समाप्त की थी * उक्त पुस्तक में माघ पंडित के विषय में जो कुछ लिखा है, उसका सारांश नीचे लिखा जाता है।

"मालवे के प्रसिद्ध विद्यानुरागी राजा भोज ने माघ पंडित की विद्वत्ता का हाल सुनने पर उसको श्रीमाल (भीनमाल) नगर से बड़े सम्मानपूर्वक अपने यहाँ बुलाकर उसके विनोद तथा सुख का सब प्रबंध किया और रात्रि में वह उससे वार्तालाप करता रहा। दूसरे दिन प्रातःकाल ही माघ ने राजा से अपने घर जाने की आज्ञा माँगी। राजा ने विस्मित होकर पूछा कि क्या आपके भोजन आच्छादन आदि में कुछ त्रुटि रह गई है? इस पर माघ ने खाने पीने की बात छोड़कर कहा कि मैं तो शीत-रक्षार्थ रजाइयों के ही बोझ से मर रहा हूँ। इस पर राजा ने खिन्न होकर उसे अपने घर जाने की आज्ञा दे दी और शहर के बाहर के बगीचे तक वह उसे पहुँचाने भी गया। वहाँ माघ पंडित ने राजा से प्रार्थना की कि आप भी कृपाकर मेरे यहाँ पधारें। जब राजा ने इस बात को स्वीकार किया, तब वह स्वदेश को लौटा। फिर

* बंबई की छपी हुई (संवत् १६४४) 'प्रबंध चिन्तामणि' पृ० ३२२।

कुछ समय के बाद राजा भोज माघ का वैभव आदि देखने के लिये श्रीमाल नगर को गया। माघ पंडित उसकी पेशवाई कर उसे अपने घर ले आया। राजा उसका अतुल वैभव देखकर चकित हो गया और कुछ दिन वहाँ ठहरकर मालवे को लौट गया। कुबेर जैसी संपत्तिवाला माघ विद्वानों और याचकों को उनके इच्छानुसार द्रव्य दे देकर वृद्धावस्था में दरिद्र हो गया, जिससे अपने देश में रहना उसने उचित न समझा। उसने 'शिशुपालवध महाकाव्य' की रचना की और अपनी स्त्री सहित जाकर धारा नगरी में निवास किया। उसने द्रव्य-प्राप्ति की आशा से अपना ग्रंथ (शिशुपालवध महाकाव्य) अपनी स्त्री को देकर उसे राजा (भोज) के पास भेजा। भोज ने उस स्त्री की वह दशा देखकर उस पुस्तक को खोला, तो प्रातःकाल के वर्णन का 'कुमुदवनमपश्रि *' से प्रारंभ होनेवाला एक श्लोक दृष्टिगोचर हुआ। उस श्लोक का भाव देखते ही उसने मुग्ध होकर कहा कि काव्य का तो कहना ही क्या; यदि उक्त श्लोक के लिये ही सारी पृथ्वी दे दी जाय तो भी कम होगा। फिर उसको एक लाख रुपए देकर विदा किया। घर जाते हुए याचकों ने उसे माघ की पत्नी जानकर याचना की, जिस पर उसने वह सारा द्रव्य उन लोगों को दे दिया। घर पहुँचकर उसने यह

---

* शिशुपालवध काव्य में यह पूरा श्लोक इस तरह है—

कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजषण्डं
त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः ।
उदयमहिमरश्मिर्याति शीतांशुरस्तं
हतविधिलसितानां ही विचित्रो विपाकः ॥

सर्ग ११, श्लोक ६४।

भावार्थ—सूर्य के उदय और चंद्र के अस्त होने पर कुमुद (रात्रि में खिलनेवाले कमलों) की शोभा नष्ट हो जाती है और अम्भोज (दिन में खिलनेवाले कमल) सुशोभित होते हैं, उल्लू निरानन्द और चक्रवाक सानन्द होते हैं। (इससे प्रतीत होता है कि) भाग्यहीन और भाग्यवान् के लिये कर्म की गति अवश्य विचित्र होती है।

'उपमितिभवप्रपंचा कथा' की रचना से सौ वर्ष से भी अधिक पीछे मानना पड़ता है, जो संभव नहीं। ऐसे ही भोज ने माघ के मरने पर श्रीमाल का नाम भिल्लमाल नाम रक्खा, यह भी मानने योग्य नहीं है; क्योंकि भिल्लमाल नाम प्राचीन है और वि० सं० की सातवीं शताब्दी के अंत के लगभग चीनी यात्री हुएन्त्संग ने गुर्जर देश की राजधानी का नाम 'भीनमाल' लिखा है, जो विशेष विश्वास योग्य है।

बल्लाल पंडित रचित भोज-प्रबन्ध से पाया जाता है कि पंडित माघ गुर्जर देश से मालवे के राजा भोज की राजधानी धारा नगरी में गया और उसने अपनी स्त्री को एक पत्र देकर राजा भोज के पास भेजा। भोज ने उस पत्र को पढ़ा, तो उसमें प्रातःकाल के वर्णन का उपर्युक्त "कुमुदवनमपश्रि" से प्रारंभ होनेवाला श्लोक देखकर वह बड़ा प्रसन्न हुआ और माघ की पत्नी को तीन लाख रुपए देकर कहा कि माता! यह तो आपके भोजन के लिये है। कल प्रातःकाल आपके पति के दर्शन कर उनका मनोरथ पूर्ण करूँगा। आगे माघ की स्त्री के वह धन मार्ग में याचकों को दे देने और माघ के मर जाने का वृत्तान्त प्रबंध-चिन्तामणि के अनुसार ही है। भोजप्रबंध से इतना और अधिक पाया जाता है कि माघ की पत्नी अपने पति के साथ सती हुई और राजा भोज ने पुत्रवत् उन दोनों का अंतिम संस्कार किया*।

बल्लाल पंडित का भोजप्रबंध कब बना, यह अनिश्चित है; परंतु अनुमान होता है कि वह प्रबंधचिन्तामणि से पीछे का बना हुआ होगा; क्योंकि उसमें ऐतिहासिक तत्त्व कुछ भी नहीं है। उस (बल्लाल पंडित) को तो यह भी मालूम नहीं था कि मुंज बड़ा भाई था और सिंधुल छोटा, जिससे यह लिख दिया कि सिंधुल ने मरते समय अपने बालक पुत्र भोज को अपने छोटे भाई मुंज के सपुर्द कर दिया, जिसने

* भोज प्रबन्ध (बेंवेटियर प्रेस का संस्करण) पृ० ६७–६६।

राज्य के लोभ से भोज को मारने की आज्ञा दे दी आदि। सच बात तो यह है कि मालवे का राजा मुंज (वाक्पतिराज, अमोघवर्ष) बड़ा विद्वान् था, जिसने अपने भतीजे भोज पर अधिक प्रीति होने तथा उसके योग्य होने के कारण उसी को अपना उत्तराधिकारी (गोद लेकर) बना दिया था। परंतु वि० सं० १०५०-१०५४ के बीच कर्णाटक के राजा तैलप के साथ की लड़ाई में कैद होकर मारे जाने के कारण उसका छोटा भाई सिंधुल (सिंधुराज, नवसाहसांक) और उसके पीछे उसका पुत्र भोज मालवे का राजा हुआ था*। इसी तरह बल्लाल पंडित ने "भवभूति, बाण, कालिदास, मयूर, शंकर कवि, गोविंद पंडित, सीता पंडिता, वररुचि, लक्ष्मीधर, माघ" आदि जितने कवियों के नाम उसको मालूम हो सके, उन सब का भोज के दरबार में होना लिख दिया है, जो सर्वथा अविश्वसनीय है।

इन तीनों ग्रंथकारों ने माघ को गुर्ज्जर देश का रहनेवाला बतलाया है; और पहले दो ने *गुर्ज्जर देश की राजधानी भीनमाल* का उल्लेख किया है, जो ठीक है। स्वयं माघ ने तथा प्रभावक चरित के कर्ता ने भी माघ के दादा को राजा वर्मलात का प्रधान मंत्री लिखा है; अतएव यदि राजा वर्मलात का ठीक समय ज्ञात हो जाय, तो माघ के समय का भी ठीक ठीक निश्चय हो सकता है।

ई० सन् १९०४ (वि० सं० १९६१) में सिरोही राज्य का इतिहास लिखते समय उक्त राज्य में प्राचीन शिलालेखों की खोज करते हुए वहाँ के वसंतपुर (आबू पर्वत से थोड़े ही अंतर पर) नामक प्राचीन नगर से राजा वर्मलात का वि० सं० ६८२ का शिलालेख मुझे मिला, जिसका आशय इस प्रकार है—"बड़े बलशाली और विजयी राजा वर्मलात का भृत्य (सामंत) वज्रभट (सत्याश्रय) अर्बुद (आबू)

* मेरा लिखा हुआ 'राजपूताने का इतिहास', पहला खंड, पृ० १८६-८७, और 'सोलंकियों का प्राचीन इतिहास,' प्रथम भाग, पृ० ७५-७७ और उनकी टिप्पणियां।

का स्वामी था, जिसका पुत्र राज्जिल हुआ। उस समय वटाकर (वट, वसिष्ठपुर, वसंतपुर) स्थान में पितामह के पुत्र सत्यदेव वणिक् (महाजन) ने अन्य कई गोष्ठिकों (मन्दिरादि में चन्दा देनेवालों का समुदाय) सहित क्षेमार्या (क्षेमंकरी, खींमेल माता) नामक देवी का मन्दिर बनवाया *।"

इस लेख से यह निश्चय हो गया कि वि० सं० ६८२ में आबू का प्रदेश वर्मलात नामक बड़े राजा के सामंत वज्रभट (सत्याश्रय) और उसके पुत्र राज्जिल के अधिकार में था। उक्त लेख में वर्मलात का नाम देखकर मैंने यह निश्चय किया कि माघ का दादा सुप्रभदेव जिस वर्मलात राजा का मंत्री था, वह यही राजा होना चाहिए, क्योंकि उसकी राजधानी भीनमाल आबू से केवल ४० मील उत्तर-पश्चिम में है। इस प्रकार माघ के दादा का समय निश्चित हो जाने पर उस (माघ) का समय भी सहज ही ज्ञात हो सकता है।

संस्कृत साहित्य के इतिहास के सम्बन्ध में यह शिलालेख बहुत महत्त्व का था, इससे मैंने उसकी सूचना सन् १९०५ ई० में अपने विद्वान् मित्र वियेना (आस्ट्रिया) निवासी डॉक्टर कीलहॉर्न को दी और उसकी एक छाप भेजकर यह भी सूचित किया कि इस लेख से माघ कवि का समय निश्चित हो जायगा। उक्त विद्वान् ने १९०६ ई० में Gottingen Nachrichten नामक पत्रिका के दूसरे खंड में 'एपिग्राफिक नोट्स' नाम की अपनी भारतीय पुरातत्व सम्बन्धी लेखमाला की संख्या १९ में उक्त लेख का आशय प्रकट कर माघ कवि का समय ईसवी सन् की ७ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में होना माना; और साथ में यह भी लिखा कि मिस्टर ओझा का मानना ठीक है †। डाक्टर कीथ ने ई० सन् ७००

---

* एपिग्राफिया इंडिका; जिल्द ९, पृ० १९१-९२।

† When Mr. Ojha first informed me of the discovery of this inscription, by a letter of the 24th December 1905, he sugges-

के आस पास माघ का होना अनुमान किया है, जिसका आधार भी यही लेख है।

'उपमितिभवप्रपंचा कथा' चैत्रादि विक्रम संवत् ९६३ में समाप्त हुई थी। उसके कर्त्ता सिद्धर्षि को प्रभावक चरित के कर्त्ता चन्द्रप्रभ सूरि ने माघ का चचेरा भाई माना है, जो संशययुक्त ही है; क्योंकि माघ का वि० सं० की दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में होना संभव नहीं।

माघ ने शिशुपालवध काव्य में राजनीति का वर्णन करते हुए श्लेषालंकार में राजनीति की समता शब्द-विद्या (व्याकरण शास्त्र) के साथ की है, जिसका आशय यह है—"पद पद पर नियम का पालन करनेवाली अर्थात् सब व्यवहार-वाली (अनुत्सूत्रपदन्यासा) सेवकों को यथा योग्य जीविका देनेवाली (सद्वृत्तिः) और स्थायी जीविका देनेवाली (सन्निबन्धना) होने पर भी यदि राजनीति गुप्त दूत रहित (अपस्पशा) हो, तो शोभा नहीं देती, जैसे कि सूत्रों के पदों को न छोड़नेवाले न्यासवाली (अनुत्सूत्रपदन्यासा) सुन्दर वृत्ति-वाली (सद्वृत्तिः) और भाष्य (महाभाष्य) वाली (सन्निबन्धना) शब्द-विद्या (व्याकरण विद्या) यदि उपोद्घात रहित (अपस्पशा) हो, तो शोभा नहीं देती *।" उपर्युक्त श्लोक के दूसरे भाग में वृत्ति †,

---

ted that it would perhaps 'settle the date of the poet Magha'. My subsequent examination having confirmed this view......
(Gottingen Nachrichten, 1906, Heft 2, P. 1.)

* अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा ॥११२॥
(शिशुपालवध काव्य, सर्ग २)

† पाणिनि के सूत्रों पर जयादित्य और वामन की काशिकावृत्ति, आचार्य रामचन्द्र की 'प्रक्रियाकौमुदीवृत्ति' और भट्टोजी दीक्षित की 'सिद्धान्त कौमुदी वृत्ति' प्रसिद्ध है। इसी तरह उनके पूर्व भी चुल्लि, कुणि, भट्टी और निल्लूर के प्राचीन वृत्ति ग्रंथ भी थे, जो अब उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु उनका उल्लेख व्याकरण के ग्रंथों में मिलता है। कुणि की वृत्ति तो महाभाष्य का रचयिता के समय भी विद्यमान थी, देखो "एङ् प्राचां देशे" (१.१.७५) सूत्र पर

न्यास * और परपश † शब्द व्याकरण शास्त्र के सांकेतिक रूप हैं। व्याकरण के मूल सूत्रों के व्याख्या (टीका) रूप ग्रंथों को वृत्ति, वृत्ति के टीका रूप ग्रंथों को न्यास और ग्रन्थारम्भ के उपोद्घात रूप अंश को परपश कहते हैं।

उक्त श्लोक की टीका करते हुए मल्लिनाथ ने व्याकरण के सम्बन्ध में वृत्ति को काशिका वृत्ति और न्यास को उक्त वृत्ति पर का न्यास (जिनेन्द्रबुद्धि का) मान लिया है जो उपलक्षण मात्र है। वृत्ति और न्यास काशिका वृत्ति से पूर्व भी अनेक थे और पीछे भी बने, ऐसा पहले (टिप्पणी में) बताया जा चुका है।

चीनी यात्री इत्सिंग अपने यात्रा-विवरण की पुस्तक में भारतीय पठन-पाठन का वर्णन करते हुए काशिका-कार जयादित्य की मृत्यु अपनी पुस्तक के लिखे जाने से ३० वर्ष पूर्व अर्थात् ई० सन् ६६१-६२ (वि० सं० ७१८-१९) के आस पास होना सूचित करता है ‡ और जिनेन्द्रबुद्धि या उसके न्यास का उल्लेख नहीं करता; अतएव

व्याख्या में कैयट और नागोजी सूचित करते हैं। (महाभाष्य पर कैयट और नागोजी की टीका, बनारस संस्करण; पृ० ३६३)। इसी तरह पीछे से हेमचन्द्रसूरि ने 'सिद्धहैम शब्दानुशासन' नामक नवीन व्याकरण रचा। उस पर 'बृहद्वृत्ति' नामक विवरण और बृहद्वृत्ति पर न्यास नाम का ग्रंथ भी स्वयं लिखा था।

* काशिका वृत्ति पर जिनेन्द्रबुद्धि ने टीका लिखी जो न्यास नाम से प्रसिद्ध है। पहले भी न्यास ग्रंथ अवश्य होंगे, क्योंकि बाण भट्ट ने, जो माघ से पूर्व हुए, अपने हर्षचरित में वृत्ति और न्यास का उल्लेख किया है—उपाया इव सामप्रयोगललितमुखा, गणपति, अधिपति, तारापति, श्यामल इति पितृव्यपुत्रा आतर प्रसन्नवृत्तय गृहीतवाक्या, कृतगुरुपदन्यासा, न्यायवादिन सुकृतसंग्रहाभ्यासगुरव लब्धसाधुशब्दा, लोक इवं व्याकरणेऽपि . ...(बाण भट्ट-रचित 'हर्षचरित' निर्णयसागर-संस्करण, पृ० ८१ ८७)। वृत्ति और न्यास दोनों प्रकार के ग्रंथों का उल्लेख स्वयं पाणिनि ने उक्थादि गण में किया है। (सिद्धान्तकौमुदी, निर्णय सागर प्रेस बम्बई में छपी हुई, चतुर्थ संस्करण, पृ० ६५२)।

† पतंजलि के महाभाष्य का प्रथम आह्निक, जो उस ग्रंथ का उपोद्घात है, परपश नाम से प्रसिद्ध है।

‡ टकाकूसू, इत्सिंग की यात्रा का विवरण (अंग्रेजी) पृ० १७५-७६।

जिनेन्द्रबुद्धि का इत्सिंग के ग्रंथ की रचना अर्थात् ई० सन् ६९१-९२ (वि० सं० ७४८-४९) के पीछे * होना अनुमान किया जा सकता है।

ई० सन् १९०७-८ में श्रीयुक्त देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर ने राजा वर्मलात के समय के वसन्तगढ़ के उक्त शिलालेख का संपादन करते समय मल्लिनाथ के कथनानुसार "वृत्ति" को काशिका वृत्ति और "न्यास" को जिनेन्द्रबुद्धि का न्यास समझकर माघ का उन दोनों ग्रंथकारों के पीछे अर्थात् ईसवी सन् की आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में होना माना है † जो सर्वथा उपेक्षणीय है; क्योंकि जयादित्य और जिनेन्द्रबुद्धि के पहले भी वृत्ति और न्यास के कई ग्रंथ थे, जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं।

माघ का दादा सुप्रभदेव भीनमाल के राजा वर्मलात का मंत्री था; और वर्मलात वि० सं० ६८२ (ई० सन् ६२५) में विद्यमान था; अतएव माघ का समय उससे अनुमान ५० वर्ष पीछे अर्थात् वि० सं० ७३२ (ईसवी ७ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध) के लगभग होना निश्चित है।

---

(९) कश्मीर के राजा संग्रामराज, अनन्त और कलश

[लेखक—श्रीयुक्त पं० शिवदत्त शर्मा, अजमेर ।]

कल्हण की राजतरङ्गिणी का नाम संस्कृत भाषा की इतिहास संबंधी पुस्तकों की गणना में बड़े गौरव के साथ लिया जाता है । वस्तुतः संस्कृत भाषा में आजकल की शैली के लिखे हुए इतिहास के ग्रन्थों को ढूँढ़नेवालों के हृदयों को यह ग्रंथ सब से अधिक परितोष प्रदान करता है । यह कश्मीर देश का शृंखलाबद्ध इतिहास है । इसका रचयिता कश्मीर के राजा हर्ष का मंत्री चण्यक का पुत्र कल्हण है । यह सारा ग्रंथ आठ तरंगों में विभक्त है, जिनमें कुल मिलकर ७८२७ श्लोक हैं । कल्हण ने इतिहास के ग्यारह ग्रंथ, अनेक शिलालेख, दानपत्र, प्रशस्तियाँ आदि साधनों को भले प्रकार जाँचकर यह ग्रंथ लिखना आरम्भ किया था । उसने लिखा है कि "सुव्रत" ने विस्तृत इतिहास के कई ग्रंथों का सार लेकर अपने ग्रंथ की रचना की, जिसका परिणाम यह हुआ कि वे ग्रंथ लुप्त हो गए । क्षेमेन्द्र ने नृपावली ग्रंथ की रचना की; परंतु कुछ ऐसी असावधानी हुई कि वह निर्दोष नहीं हुआ । हाँ काव्य के विचार से वह उत्तम ग्रंथ है । इनके सिवा कल्हण ने हेलाराज की पार्थिवावली एवं इतिहास-लेखक पद्ममिहिर की पुस्तक तथा नीलमत पुराण का भी नाम लिया है, जिसके आधार पर उसने गोनन्द, दामोदर, यशोमती और दूसरे गोनन्द का इतिहास लिखा है । यह इतिहास गोनन्द राजा से प्रारम्भ होता है, जो कल्हण के विचारानुसार कलियुग के ६५३ वर्ष बीतने पर हुआ था । यह कश्मीर-नरेन्द्र पार्थो (पांडवों) का सामन्त था । इससे लेकर कवि ने अपने समय के

भाई उदयराज के पुत्र संग्रामराज ने सब से अधिक फल संग्रह किए और वह मार से भी बचा रहा। उसने विस्मित होकर पूछा कि तूने इतने फल बिना मार खाए कैसे ले लिए ? संग्रामराज ने उत्तर दिया—

अन्योन्यकलहन्यग्रानेतान्कृत्वा पृथग्वसन् ।
समवाप्य फलान्यस्मि चाभूवं परिक्षतः ॥
व्यसने संप्रवेश्यान्यान्स्थितानामप्रमादिनाम् ।
न काः क्लेशविहीनानां घटन्ते स्वार्थसिद्धयः ॥

आशय—मैंने इतने फल उन सब को परस्पर खूब लड़ाकर प्राप्त किए हैं। साथ ही मैंने अपने आप को अलग रखा; इसलिये मार से भी बचा रहा। भला कौन सी ऐसी स्वार्थ सिद्धि है जो उन लोगों को, जो औरों को व्यसन में प्रविष्ट कराकर आप प्रमाद-रहित हो सचेत खड़े रहते हैं, प्राप्त नहीं होती ?

दिद्दा स्त्री हो तो थी। उसे यह उत्तर पसंद आया; क्योंकि जैसे शूर एक वस्तु को शौर्य से प्राप्य समझता है, वैसे कायर कायरतापूर्ण उपायों से। निदान रानी ने उसे सिंहासन के योग्य समझ युवराज बना दिया। तदनन्तर रानी के शांत होने पर भाद्रपद शुक्ला अष्टमी लौकिक सं० ४०७९ (ई० सन् १००३) में वह कश्मीर देश का राजा बना।

राज्य की अवस्था पहले से ही संतोषजनक नहीं थी। ऐसी स्थिति में संग्रामराज को प्रवीण मंत्रियों की आवश्यकता थी। परन्तु दुर्भाग्य से शूर और शक्तिशाली चन्द्राकर, जो राजा का रिश्तेदार भी होता था और सर्वाधिकारी (मुख्य मंत्री) पद के योग्य था, स्वर्गवासी हो गया। भीमतिका ग्राम के धनाढ्य दिविर (लेखक) पुण्याकर के शूर वीर पुत्र भी उसी समय परलोक को गए। ऐसी अवस्था में राजा को तुंग का ही आश्रय लेना पड़ा। यह तुंग पर्णोत्स (पुंछ) के पर्ढिवास ग्राम के खश जाति के याण का पुत्र था और भैंसें चराया करता था। कालान्तर में वह अपने पाँचो भाइयों अर्थात् सुगन्धिसीह, प्रकट, नाग, अद्दु-

सिंह और पत्तगुप्त को साथ लेकर कश्मीर आया, जहाँ पत्र वाहक (हरकारा) के पद पर काम करने लगा। एक दिन उसे सांधिविग्रहिक (Foreign Minister) के साथ दिद्दा रानी ने देख लिया। वह उसके चित्त पर चढ़ गया और क्रमशः सब का उल्लंघन करता हुआ सर्वाधिकारी (मुख्य मंत्री) बन गया। उसके भाई भी राज्य में बड़े बड़े अधिकारी बने। इन लोगों ने कई पुराने पुरुषों को राजसेवा से निकलवा दिया था; इस कारण ब्राह्मणों के साथ और लोगों ने मिलकर तुङ्ग के विरुद्ध विप्लव किया और उसे मार डालना चाहा। परंतु रानी ने उसे कई दिन तक एक कमरे में ताला बंदकर छिपाए रखा और स्वर्ण-प्रदानादि युक्तियों द्वारा प्रमुख विरोधियों को शान्त कर दिया। तुङ्ग थोड़े ही समय में फिर अपने पद पर आ जमा और अपने शत्रुओं को संत्रस्त करने लगा। जब राजपुरी (राजौरी) के राजा का कश्मीर राज्य से विरोध हो गया था, तब वीर तुङ्ग ने सहसा चढ़ाई कर उस नगरी को भस्म कर दिया। वहाँ से लौटकर वह कम्पनाधिपति (सेना-पति) बना और उसने शीघ्र ही वीरता के साथ डामरों को परास्त किया। रानी दिद्दा ने मरते समय संग्रामराज और तुङ्ग आदि प्रमुख पुरुषों को परस्पर द्रोह-रहित रहने की शपथ दिला दी थी।

राजा ने कुछ तो कार्य की अधिकता के कारण और कुछ क्लेश सहने की आदत न होने के कारण शासन का सारा भार मुख्य रूप से तुङ्ग पर छोड़ दिया और आप भोगाभ्यास से आलसी हो गया। संग्रामराज की भीरुता हम अधिक क्या प्रकाशित करें! उसने अपनी कन्या लोठिका का विवाह दिद्दा मठ के अधिपति प्रेमा के साथ कर दिया; और वह भी इस विचार से किया कि मठाधीश शूर वीर और धनाढ्य है; अतः आवश्यकता पड़ने पर सहायक होगा। राजा ने ऐसा अनुपयुक्त सम्बन्ध करते हुए अपनी प्रतिष्ठा का तनिक भी ध्यान न रक्खा।

समय पाकर ब्राह्मण मंत्रियों ने तुङ्ग को अधिकारच्युत करने के विचार से परिहासपुर (परसपुर) में ब्राह्मणों और मंदिरों के पुरोहितों से अनशन व्रत करवाया। मंत्रियो और ब्राह्मणों की एकता से उत्पन्न यह विप्लव राजा को दुस्सह हुआ। ब्राह्मण लोग राजा को गद्दी से उतारने तक को तैयार हो गए थे। जब वे जैसे तैसे शान्तकोप हुए, तब उन्होंने राजा से प्रायश्चित्त के रूप में तुङ्ग को निकाल देने का आग्रह किया। जब ऐसे आग्रह से राजा और तुङ्ग आदि ने उनके मनोनुकूल करना अंगीकार किया, तब उन दुर्बुद्धियों ने कुछ और ही बात की याचना कर डाली। वे बोले कि अमुक ब्राह्मण तुङ्ग के आक्रमण से मृत्यु को प्राप्त हुआ है। हम उसके शरीर का दाह इसके घर में करेंगे। ऐसा कहकर वे एक शव को तुङ्ग के निवासस्थान की ओर ले जाने लगे; परंतु वह "कृत्या" जो उन्होंने अपने केश-होम से उत्पन्न की थी, उलटकर उन पर ही पड़ी। परस्पर लड़ाई हो गई; सहसा तलवारें खिंच गईं। बेचारे ब्राह्मण राजकलश के, जो तुङ्ग के विरुद्ध उद्योजन का मुख्य प्रेरक था, घर में घुस गए। राजकलश ने बहुत देर तक संग्राम का सामना किया; परंतु ब्राह्मण टिक न सके, खिड़कियों से निकलकर अपने घर भाग गए। राजकलश के पराजित होने का समाचार सुनते ही विप्र श्रीधर के सात पुत्र जो मंत्री थे, युद्धस्थल में आए और वीरता से लड़ने लगे, परंतु वीरगति को प्राप्त हो गए। इसके पश्चात् तुङ्ग ने राजकलश को अपने भाई सुगन्धिसीह द्वारा, जिसने उसे परास्त किया था, बँधवाकर पकड़ मँगाया। तुङ्ग के नौकरों ने उस घायल के हथियार गिरवा दिए, उसे कंधे पर चढ़ा लिया और सड़कों पर नचवाया। दूसरा मंत्री भूतिकलश, जो पराजित हो गया था, अपने पुत्र राजाक के साथ शूरमठ को चला गया। जब सुगन्धिसीह आदि ने दया करके राजकलश को छोड़ दिया, तब वह अपमान की अग्नि से संतप्त हो अपने पुत्र सहित देशान्तर को चला गया। दैव

संयोग से यह विप्लव, जो तुङ्ग का नाश करने के लिये रचा गया था, उसके *सौभाग्य के उदय का कारण हुआ।* इसके पश्चात् गुणदेव मंत्री ने अवसर पाकर अपने प्रवासी मित्र मंत्री भूतिकलश की ओर से राजा को प्रसन्न कर लिया, जिससे वह गंगा स्नान कर कश्मीर लौट आया और राजकाज करने लगा। जब धीरे धीरे इसकी जड़ जम गई, तो राजा ने तुङ्ग को मरवाने के लिये गूढ दूत नियुक्त किए। तुङ्ग को यह बात विदित हो गई और उसने इसे प्रकाशित कर दिया, जिसके कारण दुर्बल राजा ने फिर भूतिकलश को निर्वासित कर दिया। उस समय चन्द्राकर का पुत्र मध्यामराक, जो होते होते अच्छी स्थिति प्राप्त कर चुका था, परलोकवासी हो गया। राजोपकारी प्रेमा भी थोड़े ही दिन राजपुरी का संभोग-भाजन बन उसी समय इस लोक से विदा हो गया। राजा के गङ्ग आदि अन्य प्यारे पुरुष भी परलोकवासी हो गए। केवल तुङ्ग अपने भाइयों सहित ऐश्वर्य भोगने के लिये बचा रहा। इसके नाश के लिये जो जो उपाय किए गए, वे सब दैव की अनुकूलता से इसके सौभाग्यवर्धक हुए।

तुङ्ग यद्यपि नीति के अनुसार बर्ताव कर रहा था और प्रजा के आराधन में तत्पर था, तो भी पूर्व पुण्य के समाप्त हो जाने से अब विपरीत-बुद्धि हो गया। इसने एक हीन-जन्मा क्षुद्र भद्रेश्वर कायस्थ को अपना सहायक बना लिया। वश परम्परा से जिसका काम मालीपन का, गोबर, ईंधन और मास बेचने का, अपनी पीठ पर कंबल लादे अधिकारियों के थैले और दवात कलम ले आने का था और जो रोटियों को टकटकी लगाए देखता रहता था, ऐसे पुरुष को अपना सहायक बनाकर इसने अनन्त राज-कार्यादि की चिन्ता में व्यग्र रहते हुए यह नहीं सोचा कि भद्रेश्वर मेरे भाग्य को भग्न करनेवाला बनेगा। आर्य धर्मार्क को निकालकर तुङ्ग ने इस दुष्ट को गृहकृत्य विभाग * के अधिकार में रख दिया। अकाल

* लोगों के घरों को घेरकर अनशन रखनेवालों को दंड देना इस विभाग का कार्य था।

मृत्यु के सदृश इस दुर्मति ने देव, गो, ब्राह्मण, अनाथ, अतिथि और राजोपजीवियों की वृत्तियाँ छीन लीं। मुर्दों पर निर्वाह करनेवाला क्रूर कापालिक भी अपने आदमियों का पोषण करता है; परंतु यह पापी भद्रेश्वर अपने लोगों का भी प्राण संहारी बना। संयोग से तुङ्ग का भाई सुगन्धिसीह, जो बहुत कुशल और सहायप्रद था, इसी समय स्वर्गवासी हो गया। तुङ्ग को इससे बहुत धक्का पहुँचा। भद्रेश्वर पहले ही सर्वत्र प्रभु बना दिया गया था। भाई के वियोग से तुङ्ग इस कायस्थ के और भी अधीन हो गया।

उन दिनों हम्मीर महमूद ग़ज़नवी की चढ़ाई पंजाब पर हो रही थी। अनन्तपाल के पुत्र शाही त्रिलोचनपाल ने संग्रामसिंह से सहायता माँगी थी। मार्गशीर्ष के महीने में राजा ने बहुत से राजपुत्र, महामात्य, सामन्तादि सैन्य के साथ तुङ्ग को शाही की सहायता के लिये भेजा। शाही ने आगे आकर उसका सत्कार किया। वह पाँच छः दिन इसके साथ रहा। इस समय में उसने देखा कि तुङ्ग प्रजागर (Night Watches), चरन्यास (दूतों की स्थिति), शस्त्राभ्यास (कवायद) आदि वासना (तैयारियों) की ओर, जो अभियोग के लिये उचित हैं, कुछ भी ध्यान नहीं दे रहा है। ऐसी अवस्था में उसने चेतावनी दी कि जब तक आप तुरुष्क समर से अच्छी तरह जानकार न हो जायँ, तब तक इस पहाड़ी के तट पर जमे रहें। गर्व से उन्मत्त तुङ्ग ने इस हितकारी वचन को नहीं ग्रहण किया; केवल थोड़ी सी सेना ले तौषी नदी के दूसरे पार चला गया और हम्मीर की सेना को, जो उसने जिज्ञासार्थ भेजी थी, हराकर वह अधिक गर्वित हो गया। तत्त्वज्ञ शाही ने फिर भी उसे सचेत करने का यत्न किया। नेक सलाह दी। परंतु इस रणोत्सुक ने तनिक भी ध्यान नहीं दिया। क्या किया जाय? प्रत्यासन्न विनाशानामुपदेशो निरर्थकः। जिनका नाश समीप आ पहुँचता है, उनके प्रति उपदेश निरर्थक हो जाता है।

तदनन्तर प्रातःकाल स्वयं तुरुष्क सेना का नायक, जो छल में बहुत चतुर था, सब प्रकार से सुसज्जित होकर सक्रोध चला आया। तुङ्ग का घटक सहसा भग्न हो गया। शाही की सेना थोड़ी देर युद्ध में विचरती हुई दिखाई दी। परंतु इस सेना की हार हो जाने की परवाह न करते हुए जयसिंह तथा श्रीवर्धन और विक्रमार्क, जो उस संग्राम डामर के वंश के थे, जिसने पूर्व काल में चक्रवर्मा को कश्मीर की गद्दी पर बैठने में सहायता दी थी, वीरता के साथ लड़ते रहे और उन्होंने अपने देश के यश को नष्ट होने से बचा लिया।

कस्त्रिलोचनपालस्य माहात्म्यं वक्तुमीश्वरः।
निः संख्या अपि यं संख्ये न जेतुमशकन्द्विषः ॥६०॥
शुशुभे रुधिरासारवर्षी युद्धे त्रिलोचनः।
कल्पान्तदहनज्योतिर्विसारीव त्रिलोचनः ॥६१॥
स योधयित्वा संग्रामे कोटीः कङ्कटवाहिनाम्।
एकाकी कार्यमर्मज्ञो निर्ययौ रिपुसंकटात् ॥६२॥
संप्राप्तविजयोप्यासीन्न हम्मीरः समुच्छ्वसन्।
श्रीत्रिलोचनपालस्य स्मरञ्शौर्यममानुषम् ॥६४॥

जिस अकेले को युद्ध में अनगिनत वैरी न जीत सके, उस त्रिलोचनपाल की बड़ाई का वर्णन कौन कर सकता है? युद्ध क्षेत्र में छमाछम रुधिर की वर्षा कर त्रिलोचनपाल कल्प के अन्त में त्रिलोकी का दहन करनेवाली अग्नि को फैलाए हुए त्रिलोचन के समान शोभायमान हो रहा था। संग्राम में कवच पहने हुए अनगिनत योद्धाओं से लड़कर वह कार्य-मर्मज्ञ अकेला संकट से पार होकर आया। श्री त्रिलोचनपाल के अमानुषी शौर्य का स्मरण कर विजयी होकर भी हम्मीर सुख से साँस न ले सका।

इसके पीछे भी त्रिलोचनपाल ने हाथियों की सेना एकत्र कर विजयलक्ष्मी को वापस लाने का यत्न किया, परंतु शाहीश्री का कैसे नाम

तक भी शेष न रहा, इत्यादि बातों का हमारे प्रसंग से परे होने के कारण यहाँ विस्तार से वर्णन नहीं किया जाता है। विधाता के लिये कुछ भी असंभव नहीं है। जो बात कल्पना में भी नहीं आ सकती, यहाँ तक कि स्वप्न वृत्ति को भी जो दुर्लभ है, उसे विधि यों ही आनन फानन में कर डालता है।

अपने मूर्खता-पूर्ण पराजय से तुरुष्कों को इस भारतभूमि में आने का अवसर देकर वह तुङ्ग कश्मीर वापस गया। इस दुर्घटना से राजा संग्रामराज मानों एक शृगाल से काट लिया गया हो; पर फिर भी वह तुङ्ग पर प्रकट रूप से कुपित नहीं हुआ। अब तुङ्ग के अधीन रहना राजा को और भी बुरा लगने लगा। "परायत्ततया चित्तं पशोरप्युपतप्यते"। पराधीनता से पशु का भी चित्त दुखी हो जाता है। साथ ही इसके तुङ्ग का पुत्र कंदर्पसिंह, जो श्री और शौर्य से गर्वित हो रहा था, स्वयं राजोचित व्यवहार करने लगा, जिसे देख राजा विशेष दुखी होने लगा। ऐसी स्थिति देख विग्रहराज ने (जो राजा का भाई लगता था), जो तुङ्ग के विरुद्ध उचित अवसर प्राप्त करने की प्रतीक्षा कर रहा था, राजा को गुप्त पत्र लिखे और तुंग को मारने की प्रेरणा की। पूर्व रानी की दिलवाई हुई शपथ से तथा अन्य कारणों से राजा का चित्त इस विषय में बहुत दिन तक दोलायमान रहा। परंतु निरन्तर प्रेरणा पा पाकर उसने कहा कि यदि कभी अपने पुत्र के साथ वह अकेला यहाँ आवेगा, तो हम देखेंगे कि क्या करना उचित है; क्योंकि चाहे कैसे हो उस बलशाली पर आक्रमण करें, वह हम को निस्संदेह मार डालेगा। बीजभूत इन थोड़े शब्दों को अपने हृदय में जमा अब वे लोग तुङ्ग को उपर्युक्त अवस्था में लाने का उपाय करने लगे। छः महीने भी नहीं हुए थे कि एक दिन राजा के बुलाने पर तुंग, जिसे पहले बुरा स्वप्न भी हो चुका था, अपने पुत्र सहित राजमहल को चला। राजा से थोड़ी देर बातचीत कर केवल पाँच छः सेवकों

सहित वह मंत्रमंडप को जाने लगा। बस राजा से बिना कहे ही पर्वशर्कद आदि लोगों ने पीछे से लपक कर उस पर शस्त्र-प्रहार किया। तुंग के सेवकों में से केवल सिंहरथ, जो पहले के शंकरवर्मा राजा के मंत्री महारथ का वंशज था, प्रशंसा के योग्य सिद्ध हुआ। उसके पास उस समय कोई शस्त्र नहीं था; परंतु फिर भी पिटते हुए स्वामी तुङ्ग की रक्षा करने के विचार से उसने अपना शरीर उसके शरीर पर गिरा दिया। पहली ही चोट पर तुङ्ग का साँस तो डर के मारे रुक गया; परंतु राजा का साँस सुख से खुल गया। पापी पार्थ, जो एक ओहदेदार ब्राह्मण का लड़का था, और दुर्मति कङ्क तुङ्ग के समीप ही थे; परंतु मारे डर के इनकी धोती बिगड़ गई और अपने शस्त्रों को फेंक उँगलिया मुख में लगा पशु के समान प्राणों की रक्षा की याचना करने लगे। चङ्ग आदि जो तुङ्ग के अन्तरंग मित्र और मंत्री भी थे और उस समय शस्त्र भी धारण किए हुए थे, मारे डर के स्त्री के समान चुपचाप खड़े रहे। राजा ने यह सोचकर कि कहीं तुङ्ग के सेवक यह समझकर कि वह मरा नहीं है, आग लगाना, लूट मार आदि उत्पात प्रारम्भ न कर दें, उसका और उसके लड़के का सिर तलवार से काटकर बाहर फेंकवा दिया। इससे राजा के सेवकों में बल का संचार भी हुआ और तुङ्ग के सिपाही अपने स्वामी की अंत दशा देख दीन-हीन हो भाग गए। हाँ, उनमें से कइयों ने अपनी भक्ति खूब उज्ज्वल कर दिखाई। भुजङ्ग, जो एक ब्राह्मण सामन्त का पुत्र था, घर से आया और अपने पराक्रम के प्रभाव से उसने संग्रामराज को एक कमरे से दूसरे कमरे में भगा मारा; और अपने कनक दंड से कमरे की साँकल तोड़ उस अकेले ने राजभवन में बीस योद्धाओं को मारा। इस रण में कोशाधिकारी त्रैलोक्यराज और कय्यामत्तक का धा-भाई वीर अभिनव भी वीरगति को प्राप्त हुए। तुङ्ग के उपजीवी ३१ वीर एक कतार में मरकर गिर गए। पद्मराज नाम का एक पुरुष भी इस युद्ध में शामिल हुआ था; परंतु वह अक्षत निकल गया। स्वामी

की मृत्यु की दुःखाग्नि की तपन उसने तीर्थों के जलों से शान्त की। चन्द्र ने, जो अपने आप को सुभट मानता था, एक परदेशी अर्जुन ने और डामर हेलाचक्र ने अपने शस्त्र फेंक दिए और ये तीनों शत्रुओं से मारे गए। आषाढ़ सुदि द्वादशी को राजा ने तुङ्ग की हवेली लुटवा ली और उसकी लक्ष्मी छीन उसे कथाशेष कर दिया।

तुङ्ग का चरित राजद्रोह से रहित था। उसके मरने पर प्रायः खल पुरुष ही राजसत्ता को धारण करनेवाले हुए। राजा ने तुङ्ग के भाई नाग को कम्पनाधिपति (सेनापति) बनाया। इसी दुष्ट ने राजा के मन को कलुषित कर गूढ़ पैशुन्य कर्म से अपने भाई और भतीजे को मरवाया था और यह कुलान्तक के बद नाम से प्रसिद्ध था। इसका और कंदर्पसिंह की दुराचारिणी स्त्री का परस्पर प्रेम था। जब ये उपद्रव शांत हो गए, तब चौथे दिन बिम्बा, जो तुंग के पुत्र की वधू और शाही वंश की पुत्री थी, सती हो गई। तदनन्तर तुङ्ग की स्त्री, कंदर्पसिंह की उपपत्नी संखना तथा उसके दो प्रसिद्ध पुत्रों विचित्रसिंह और मातृसिंह सहित राजपुरी को चली गई।

अब राजा ने तुङ्ग के स्थान पर पापी भद्रेश्वर को नियुक्त किया, जिसने कोश को और भूतेश्वरादि देवों की निधियों को लूटा। इस राजा की विवेक-शून्यता का कहाँ तक वर्णन करें। इसने पार्थ जैसे दुर्बुद्धि को, जो अपनी भौजाई से फँसा हुआ मशहूर था, कुछ भी न सोच नगराधिकृत कर दिया। इस पापी पार्थ ने पवित्र प्रवरेश महादेव के रङ्गपीठ पर वधादि कुकर्म किए। कृपणामणी सिन्धू का पुत्र पतंग, जो प्रजा को पीड़ा पहुँचाने में पंडित था, इस लोभी राजा की कोशवृद्धि करने लगा।

देवमुख नामक एक द्विविर को पूआ बेचनेवाली एक वेश्या से चन्द्रमुख नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था। तुङ्ग के आश्रय से वह राजा का प्यारा हो गया और उसने एक कौड़ी से करोड़ों की संपत्ति संग्रह

कर ली। इतनी संपत्ति पाकर भी वह वैसे का वैसा ही लोभी रहा। लोग उसके कुलाचार के अनुसार उसको पूए भेंट करते। वह इन पूओं को अपने नौकरों के हाथ बेच देता। लोग उसे देखकर खूब हँसते थे; क्योंकि जब उसके पास पैसा नहीं था, तब तो वह अच्छी जठराग्निवाला और नीरोग था; परंतु उदय को प्राप्त होकर मन्दाग्नि आदि रोगों से ग्रस्त हो गया था। बस मरते मरते उसने एक सुकृत किया। वह यह कि रणेश्वर के जीर्णोद्धार के लिये उसने तिहाई करोड़ दिया। उसके पुत्र नाग, भोग और नन्दिमुख को राजा ने तुंग के अधीन सेनांगों का अधीश बना दिया था। तुङ्ग के मरने पर राजा का उनको तुङ्ग की जगह नियुक्त कर देना बड़ी हँसी का काम गिना गया। वे लोग तुङ्ग के समान तुरुष्कों से लड़ने भेजे गए थे; परंतु दुम दबा वापस आए। मंत्रियों के ऐसे अयोग्य होने और राजा के ऐसे शांतिशील होने के कारण दरद, दिविर और डामर जाति के कुछ लोग गौरव को प्राप्त हो गए।

इस राजा की पुत्री लोठिका ने लोठिका मठ बनवाया और एक दूसरा मठ अपनी माता तिलोत्तमा के नाम से बनवाया। कभी कभी पापियों के मन में भी सत्कर्म की वासना हो जाती है। भद्रेश्वर ने भी एक अच्छा विहार बनवाया। संग्रामराज ने ठीक किया। वह कहा करता था कि यह धन न्याय से नहीं उपार्जित किया हुआ है। इस विचार से अन्याय के धन से उसने देवमंदिर तो क्या, पौंसला तक भी नहीं बनवाया। श्रीयशोमङ्गल की पुत्री श्रीलेखा, जो इस राजा की रानी थी, पति के शिथिल सामर्थ्य से स्वैरिणी हो गई। सुगन्धिसीह और जयलक्ष्मी का पुत्र त्रिभुवन इसका वल्लभ हो गया। कुशाग्र-बुद्धि जयाकर भी, जिसने राजकोश को बहुत बढ़ाया था और जयाकरगंज आदि गंज स्थापित किए थे, इसका जार बन गया। यह रानी, जो सम्पत्ति संचित करने में बहुत तत्पर थी और जिसने मयमामीयगंज आदि कई गंज खोले

•

थे, राजा के प्रसाद से बहुत वैभववाली बन चुकी थी। यह राजा लौकिक संवत् ४१०४ (ई० सन् १०२८) के आषाढ़ मास के प्रथम दिन हरिराज नामक अपने पुत्र का अभिषेक कर मृत्यु को प्राप्त हुआ।

हरिराज

हरिराज का मेलजोल समझदार पुरुषों से था। इसके सिंहासना-सीन होने से प्रजा प्रसन्न हुई। यह सामर्थ्यवान् राजा था। इसने चोरों का पूर्ण दमन किया और रात में गलियों के द्वार खुले रहने देने की आज्ञा दी। खेद है कि यह पुरुषरत्न केवल २२ दिन सिंहासन को समलंकृत कर आषाढ़ शुक्ला अष्टमी को अंतर्धान हो गया। कहते हैं कि यह अपनी माता की दुश्चरित्रता से अप्रसन्न था। उसीने अभिचार (जादू) कराकर इसे मरवा दिया। इसके मरने पर रानी स्वयं सिंहासनासीन होना चाहती थी; परंतु जब तक वह स्नान करके आने लगी, तब तक तुरंत सैनिकों (एकांगों) और धा-भाई सागर ने उसके बालक पुत्र अनन्त को, जो हरिराज का भाई था, राजा बना दिया।

अनंत

जब अनन्त के राज्याभिषिक्त होने का समाचार उसके बूढ़े चाचा विग्रहराज ने सुना, तो वह स्वयं राजा बनने की इच्छा से सेना लेकर लोहार से रवाना हुआ। वह खूब वेग से चलकर केवल ढाई दिन में नगर में आ पहुँचा और लोठिका मठ में अपना अड्डा जमा दिया। परंतु रानी श्रीलेखा की भेजी हुई सेना ने वहाँ आग लगाकर उसे साथियों सहित नष्ट कर दिया।

तदनन्तर रानी श्रीलेखा खूब धन खर्च करने लगी। उसने अपने भर्ता और पुत्र के नाम से दो मठ बनवाए और रात दिन राज-विद्रोह उपस्थित करने के प्रयत्न में रहने लगी। राजा भी जब किसी कदर अपनी शैशव अवस्था पार कर चुका, तब अतिव्यय आदि व्यसनों में

फँस गया। इसको रुद्रपाल आदि शाही पुत्र परम प्रिय थे और ये लोग बड़ी बड़ी तनख़ाहें ले लेकर राजकोष ख़ाली कर रहे थे। रुद्रपाल डेढ़ लाख दीनार रोज़ लिया करता था; फिर भी उसकी दरिद्रता दूर नहीं होती थी। दिद्दापाल को अस्सी हज़ार दीनार प्रति दिन मिलता था; परंतु फिर भी उसे सुख की नींद नहीं आती थी। अनंगपाल, जो राजा के बहुत मुँह लगा हुआ था, सदा सुवर्ण की देव मूर्तियों को तोड़ने में ही मन लगाए रहता था। रुद्रपाल धन-प्राणादि-हारियों का परित्राता और चोर चांडालों का रक्षास्थान था। कायस्थ लोग, जो रुद्रपाल के पिट्ठू थे, प्रजा को पीड़ा देते थे। इन लोगों में उत्पल प्रमुख था, जिसने अंधों के लिये एक मठ बनवाया था। रुद्रपाल की राजा के मुँह लगने की कथा कहाँ तक कहें! उसने जलन्धर (जालंधर) के अधिपति इन्दुचन्द्र की बड़ी लड़की आसावती से, जिसने अपने नाम से त्रिपुरेश्वर में एक मठ बनवाया था, उसके रूप लावण्य के कारण स्वयं विवाह किया और उसकी छोटी बहन सूर्यमती देवी राजा को ब्याह दी। रुद्रपाल के कुसंग से यह राजा भी कुमार्गगामी होने लगा।

संश्लिष्ट होकर शूणी जैसा दिखाई देने लगा और भैरव के समान समर में विचरता हुआ वह मानों पृथ्वी को कँपाने लगा। राजा ने पद पद पर एकांगों को देखा, जिनके शरीर प्रहारों से भर रहे थे। उसने सेवकों से उनके नाम पूछे और करुणा कर उनके लिये एक अलग कोश स्थापित कर दिया। उसने कृतज्ञता के कारण सेवकों के लिये ९६ करोड़ दीनारों की विलडिंब (निधि) स्थापित की। सुना है कि जब राजा रण से लौटा, तो तलवार की मूठ उसकी मुट्ठी में ऐसी जमी हुई थी कि निकल नहीं सकी। बहुत देर तक दूध की धार हाथ पर डालकर वह तलवार हाथ से अलग की गई।

यह राजा ऐसा उदारहृदय था कि इसने देशान्तर से दुरवस्था में लौटे हुए त्रिभुवन जैसे पुरुष पर भी तनिक कोप नहीं किया। उसके एक रिश्तेदार को, जिसका नाम ब्रह्मराज था, गंजाधिप बना दिया। परंतु फिर इसका रुद्रपाल से द्वेष हो गया और यह विमनायमान होकर वहाँ से चला गया और डामरों से मिल सात म्लेच्छ राजाओं को साथ लेकर दरदराज अचलमंगल से कश्मीर पर चढ़ाई करवाई। जब दरदराज के क्षीरपुष्ठ नामक ग्राम में आ पहुँचने की खबर सुनी, तो परम विक्रमशील रुद्रपाल उसका सामना करने गया। कहते हैं कि रुद्रपाल से युद्ध आरम्भ होने के एक दिन पूर्व अचलमङ्गल क्रीड़ा करता हुआ पिंडारक नामक नाग के भवन में चला गया। वहाँ लोगों के निषेध करने पर भी उसने तैरते हुए मत्स्य के गात्र में कुन्त का प्रहार कर दिया। उस समय गोमायु के स्वरूप में नाग बाहर निकल आया। मृगया की उत्सुकता से वह उसका पीछा करने लगा। सैनिकों ने राजा की इस तरह की कपटता देख कुछ और ही व्यवस्था समझ ली और वे युद्ध के लिये निकल आए। परिणाम यह हुआ कि वे उसी दुर्व्यवस्था में मारे गए। दरदाधिपति का सिर काट लिया गया और रुद्रपाल का आतंक और भी अधिक जम गया। म्लेच्छ राजा या तो मारे गए या कैद कर लिए गए,

जिससे अनन्त को हेमरत्नादि की प्राप्ति हुई। रुद्रपाल ने अचलमंगल का सिर अनन्तदेव को भेंट किया। इसको कई अन्य आपत्तियों का, जो इसके भाई उदयनवत्स तथा माझलों ने अनशन व्रत करके खड़ी की थीं, सामना करना पड़ा। फिर यह लूत व्याधि से मृत्यु को प्राप्त हुआ। अन्य शाही राजपुत्र भी जल्दी ही नष्ट हो गए। जब रुद्रपालादि द्वारा उत्पन्न किया हुआ अंधकार दूर हुआ, तब राजा शुद्ध व्यवहार करने लगा।

अनन्तदेव की रानी सूर्य्यमती ने, जिसका दूसरा नाम सुभटा भी था, गौरीश्वर का मंदिर तथा वितस्ता के किनारे पर सुभटा मठ बनवाया। उसने सदाशिव की प्रतिष्ठा के समय गौ, हेम, हय, रत्नादि दानों से अनेकों द्विजों को दरिद्रता-रहित कर दिया। उसके छोटे भाई का नाम कल्लन था। उसे आशाचन्द्र भी कहते थे। रानी ने वात्सल्य के कारण उसके नाम से भी अग्रहार (दान में दिया हुआ गाँव) सहित एक मठ बनवाया। उसने विजयेश और अमरेश के समीप अपने भाई सिल्लन और अपने पति के नाम से दो मठ बनवाए और विजयेश्वर में १०८ अग्रहार ब्राह्मणों को दिए। इस साध्वी ने अमरेश्वर में अपने पति के नाम से भी अग्रहार दिए और त्रिशूल बाणलिङ्गादि की प्रतिष्ठा

राजा भोज ने कश्मीर के पापसूदन तीर्थ के जल से सर्वदा मुख धोने की प्रतिज्ञा की थी। उस प्रतिज्ञा के पूरा कराने का साधन यही पद्मराज था। यह काँच के कलशों को इस तीर्थ के जल से भर भरकर वहाँ भेजा करता था। भोज के भेजे हुए बहुत बड़े स्वर्ण संचय से इसने कपटेश्वर में एक कुंड भी बनवाया था। इसने नागरखंडादि ताम्बूल की बिक्री से राजा की प्रायः देश भर की आमदनी अपने अधीन कर ली। राजा का महाजन बनकर इसने पाँच चन्द्रकों से सुशोभित शिरोभूषण और सिंहासन राजा से ऋण की अमानत में गिरवी रखवा लिए। प्रति मास पूजन के अवसर पर ये राज-चिह्न उसके घर से राजमहल में लाए जाते थे। अंत में रानी सूर्यमती ने अपने कोश से धन देकर पद्मराज से पीछा छुड़ाया और देश को इस अपमान से बचाया। जब डल्लकादि से उत्पन्न हुई अव्यवस्था शांत हुई, तब फिर देश में सुख और शांति का प्रचार हुआ। तब से वस्तुतः रानी ही राज-कार्य करने लगी। रानी का राजा पर प्रभुत्व हो जाना और राजा का उसके वशवर्ती हो जाना कोई निन्दा उत्पन्न करनेवाला काम नहीं हुआ; क्योंकि इन दोनों का शील निष्कलंक था। शंकर की भक्ति, व्रत, स्नान, त्याग, शील आदि गुणों से अनन्तदेव ने मुनियों को भी मात कर दिया था। इस राजा के दीर्घ राजकाल में राजश्री लक्ष्मी स्वयंवर में कन्या के समान नए नए भृत्यों के मुँह ताकती रही। क्षेमा नाम का एक बालभंजक (नाई) था। उसने द्वादश भागादि प्रकारों द्वारा राजकोश खूब भरा। तदनन्तर त्रिगर्त (काँगड़ा) देश का रहने-वाला केशव नाम का एक साधु ब्राह्मण इस राजा का मंत्री बना। इसने राजा के यश को बहुत बढ़ाया। इस केशव को लोगों ने कालान्तर में अकेले निर्धन इधर उधर फिरते हुए देखा था। "भाग्याम्बुवाह तडितो निविदाः कस्य संपदः"। संपदा भाग्य रूपी मेघ से निकली हुई बिजली के समान है। वह कहाँ स्थिर है! भूति नाम का एक वैश्य गौरीश के

मंदिर का पहरेदार था। उसके तीन लड़के थे—हलधर, वज्र और वाराह। उनमें से हलधर, सूर्यमती रानी की सेवा करने से दिन दिन उन्नति को प्राप्त होता हुआ सर्वाधिकारी बन गया। इसने बुद्धिमत्तापूर्ण युक्तियों से सब सामन्तों को भले प्रकार राज्याधीन रखा। इस निपुणता के कारण राजा और रानी दोनों उसका मुँह ताका करते थे। पाशुम के महकमे को, जिसका सूत्रपात पहले क्षेम ने किया था, हलधर ने सर्वोच्च बना दिया। सोने के वर्ण मूल्यादि का लिखना, जो राजा के अधीन था, इसने मिटा दिया। इससे लोगों के संचित धन का पता राजा को लगा करता था। इस ज्ञानी ने सोचा कि इस रीति के प्रचलित रहने से भावी नृप दण्ड आदि आपत्तियों द्वारा बेचारी प्रजा की गाढ़ी कमाई सहज में हर सकेंगे; अतः इसका बंद कर देना ही अच्छा है। उसने धन और स्त्रियों के हरण करनेवाले कई अश्वशालीयों को मारकर लोक में शांति कर दी। आयात (Import) को हरनेवाले इसने वितस्ता और सिन्धु के सगम पर कई सुनहरे मंदिर, अग्रहार और मठ बनवाए। इसके भाई और पुत्र भी बड़े दानी थे। इसके भाई वाराह के पुत्र बिम्बा ने, जो द्वाराधिकारी था, दान में बादलों के समान द्रव्य बरसाया। यह डामर कुल के लिये अकाल मृत्यु था। यह खशों से युद्ध करने के लिये गया था। इसके पास थोड़े ही साथी रह गए थे; परन्तु फिर भी इसने युद्ध क्षेत्र नहीं छोड़ा और वीरगति को प्राप्त हो गया। अनन्त ने चम्पा (चम्बा) में राजा साल का उन्मूलन कर दूसरा राजा गद्दी पर बैठाया। इसने अन्य राजाओं को भी पराजित किया। यह राजा अपने शौर्य के कारण कई देशों पर अंधाधुन्ध चढ़ाई कर बैठता और कई बार घोर आपत्तियों से बाल बाल बचा। एक बार तुक के पुत्र कलश से युद्ध करते हुए इसके सैनिक नष्ट हो गए। उस अवसर पर वल्लापुर से इसे हलधर ने बड़ी हिकमत से बचाया। ऐसे ही उदरा में वैरियों ने इसका मार्ग रोक लिया और इसके

कम्पनाधिपति ने तरकीब से मार्ग साफ कर इसे निकाला। भद्रेश्वर का पुत्र राजेश्वर जो द्वारपति था, अन्य कई पुरुषों सहित क्रम राज्य के डामरों द्वारा मार डाला गया। राजा के महल में नीति के नयनों से देखते हुए और डर से काम करते हुए भी परिभव रहित भृत्यता कौन भोग सकता है? बेचारे हलधर को सेवा के कारण रानी सूर्य्यमती के पास बार बार जाना पड़ता था। बस इसी से वह दुष्प्रवाद का पात्र बन गया। आशाचन्द्रादि लोगों ने क्रुद्ध होकर उसे कैद कर लिया।

राजा ने उसका सर्वस्व हर लिया और वह जेल की यातना भोगने लगा। जब राजा ने उसे मुक्त किया, तो उसका भाग्य फिर चमका। फिर उसने देखा कि रानी क्षण में उससे प्रसन्न और क्षण में कुपित होने लगी। तदनन्तर सरल चित्त राजा पर भार्या के अधीन हो जाने का दुष्परिणाम उदित हुआ। रानी का प्रेम अपने पुत्र कलश पर बहुत अधिक था। उसने जीते जी अपना अधिकार त्याग कलश को राज्याधिकार देने के लिये पति से बारम्बार प्रेरणा की। बुद्धिमान् हलधर आदि लोगों ने राजा को रोका भी; परंतु पत्नी की प्रबल प्रेरणा से वह राजकुमार को राज्य देने को समुद्यत हो गया। उसने क्षत्ता रणादित्य को, जिसने कहा भी था कि देखो, ऐसा मत करो; ऐसा करने से फिर पछताओगे, अभिषेक की तैय्यारी करने की आज्ञा दी। निदान लौकिक संवत ४०३९ (ई० सन् १०६३) कार्तिक सुदी छठ को कलश का राज्याभिषेक हो ही गया।

जब रणादित्य राजमंडप में राजपुत्रों का परिचय नवीन राजा को करा रहा था, तब राजमाहात्म्य को विचार इस व्यवहार निष्ठुर ने "हे देव! यह अनन्त राजपुत्र है" ऐसा अनन्त के गले में हाथ डाल कर कहा। अनन्त कुपित हो मुड़कर इस पर टेढ़ी निगाह डालने लगा। इसने कहा—आप नाराज क्यों होते हैं। जब कन्यकुब्जादि राजाओं का

हुई कि उसकी पुत्र-वधुएँ सिंहासनासीन राजा की रानियों के समान वेषालंकरणादि से समलंकृत रहें। इसलिये उसने उनसे दासियों का सा काम लेना शुरू किया। यहाँ तक कि जब तक वे नहीं मरीं, तब तक उनसे लीपने पोतने तक का काम करवा डाला।

एक दिन अनन्त के पास उसके चचा विग्रहराज का पुत्र क्षितिराज आया। उसने अपने पुत्र भुवनराज की, जो अति व्यसनी था और लोभ के मारे उसके जीते जी ही गद्दी दबा बैठने का ढंग जमा रहा था, बड़ी संतापजनक कथा सुनाई। यह लड़का नीलपुर के राजा के आश्रय में जा उसकी सेना की सहायता से पिता पर आक्रमण करने का प्रयत्न कर रहा था। इस पापी ने कई भागवतों के नाम, जिन्हें इसका पिता पूज्य समझा करता था, अपने कुत्तों के नाम रख दिए और उन्हें जनेऊ पहना दिए। यद्यपि क्षितिराज की रानी नहीं चाहती थी, परंतु उसने सर्व त्याग करने का विचार कर मन का ताप निवारण करना पक्का कर लिया। उसने कलश के दूसरे ज्येष्ठ पुत्र उत्कर्ष को, जो रानी रामलेखा से उत्पन्न हुआ था और अभी बालक ही था, दूध तक नहीं छुड़ाया; झट से अपना राज्य दे डाला। तदनन्तर यह राजर्षि विद्वानों को साथ ले तीर्थाटन करने लगा। इस परम वैष्णव ने बरसों तक भजन कर चक्रधर तीर्थ पर शरीर छोड़ा। उन दिनों यह क्षितिराज और भोजनरेन्द्र (मालवे का) दोनों बहुत विद्वान् और "कविबान्धव" थे और इनके दानी होने की बहुत प्रसिद्धि थी। अनन्त ने अपने पोते उत्कर्ष को तन्वंग राज के, जो उसके पिता के भाई का पुत्र था, संरक्षण में दे दिया। इसने उस बालक को और लोहार राज्य को खूब उन्नत किया और फिर कश्मीर में आ चक्रधर तीर्थ पर शरीर त्यागा। उस समय तक कश्मीर देश में राजकुल के लोगों में परस्पर द्रोह नहीं था और वे एक साथ ही रहते थे। इन्दुराज के पुत्र बुद्धराज के घर सिद्धराज हुआ। इस सिद्धराज के वीर पुत्र का नाम मदनराज था। इस मदनराज का एक बड़ा

घमंडी पुत्र जिन्दुराज था। राजा से कुछ अनबन हो जाने के कारण वह राज्य से बहुत दूर चला गया था। डामरों के सिर चढ़ जाने से खिन्न हुई रानी ने स्वयं इसको परदेश से बुलवाया और इसे मंत्री बनवा दिया। इसने देग्राम के काले डामर शोभा पर, जिसने राजा को बहुत हैरान किया था, आक्रमण किया और उसे मार डाला। तदनन्तर राजा ने उसे कम्पनाधिपति की पदवी दी और उसके द्वारा राजपुरी आदि देशों को करद बनाया। इस समय बुद्धिमान् हलधर, जो अनन्त का एक मात्र अवलम्ब था, स्वर्गवासी हो गया। जब वह चक्रधर में मरणासन्न था, तब उसने राजा अनन्त से, जो अपनी रानी सहित उसके पास उपदेश लेने गया था, कहा कि आपको बिना सोचे समझे सहसा परराष्ट्र पर धावा नहीं करना चाहिए। आपको याद होगा कि वल्लापुर में फँसी तरकीब से मैंने आपको संकट में बाल बाल बचाया था। शीघ्र वृद्धि को प्राप्त हुए इस जिन्दुराज से आप चौकन्ने रहें। वह जयानन्द आपका आपके पुत्र से भेद कर देगा। इन शब्दों को याद रख राजा ने जिन्दुराज को पराक्रमी बिज्ज से चालाकी से उसे निरायुध करा, पकड़वा लिया और जेल में डलवा दिया।

कालांतर में राजा कलश, जिसका आचरण शुद्ध नहीं था, अपने भृत्यों की प्रेरणा से असाधुओं के मार्ग का अनुशीलन करने लगा। बिज्ज, प्रियराज, पाज और एक चौथा और था। ये सब शाही वंश के राजपुत्र उसके प्यारे हो गए। ये सब बड़े अभिमानी थे। ऐसा ही एक निकृष्ट सेवक नाग नामक गंजपति का पुत्र जयानन्द मिल गया। वह

किया करता था। वे ज्ञानी भट्टपाद, जो अपने आगे भैरव तक को नहीं गिनते थे, इसके पैरों में नत मस्तक होते थे। बस ऐसे ऐसे निःसार गुरुओं से, जो इसके मंडल में गरजा करते थे, यह दिवस में मेघ के समान अंधता को प्राप्त हो गया। चमन्द नाम का एक विट था। यह वीणा बजाना और कुट्टन का काम करना जानता था। यह रात को कई और गानेवालों के साथ, जो महाभ्रष्ट थे, राजा को गाना सुनाया करता था। मंत्री हलधर का पुत्र कनक एक बार इसके दुर्व्यवहार से बहुत अप्रसन्न हो गया था। उसने इसे अपने सेवकों से एक स्तम्भ से बँधवा दिया और इसकी नाक कटवा ली। धीरे धीरे यह राजा का बहुत प्यारा हो गया। इसने ठक्कुर की पदवी प्राप्त कर ली और मंत्री मंडल का सभ्य बन बैठा। यह नृकुक्कुर कुट्टन था। इस दुष्ट के कुसंग से जो काम इस निर्लज्ज राजा ने किए, वे कहने योग्य नहीं हैं, परंतु प्रसंगवश कहने ही पड़ते हैं। पर दारा के भोगने में आसक्त हो इस कलश राजा ने अपने पिता की बहिन कल्लना और उसकी पुत्री नागा तक को नहीं छोड़ा। इस कुकर्म का पता वृद्ध भूपति और उसकी पत्नी तक को लग गया था। वे बहुत लज्जित हुए; पर मन ही मन में क्रोध को दबा कर रहे; प्रकट रूप से चू तक नहीं सके। लोट्टक नाम का एक भिक्षुक ब्राह्मण था, जो ओवना नामक ग्राम में उत्पन्न हुआ था। उसे मुट्ठी में छिपी हुई चीजों के बता देने की तरकीब मालुम हो गई था। बस फिर क्या था! उसका नाम "मुष्टिलोट्टक" पड़ गया और वह सिद्ध दैवज्ञ बन गया। वह गुरु भी था, ज्योतिषी भी था और कुट्टन भी था। यों वह राजा के खूब ही चित्त चढ़ा। ऐसे ही भट्टारक मठ का एक अधीश साधु व्योमशिव था। उसने देवपूजन के समय के लिये एक अंधा गवैया, जिसका नाम "मम्म" था, रख छोड़ा था। इस अंधे ने अवंतिपुर में उत्पन्न हुए मदन नाम के एक ब्राह्मण को चेला बना रखा था, जो उसे हाथ पकड़कर इधर उधर ले जाया करता था। अब मदन ने किसी

से राजा की खबर लेने लगे। बड़ी मुशकिल से किसी ने उनसे यह कहकर कि अरे रहने दो, यह तो महाराज कलश हैं, उसे बचाया। नकटे को आगे कर वह घर से निकला था; फिर भला ऐसा अमंगल क्यों न होता ? अपने चित्त के अपराध से नीति मार्ग बिसार एक राजा ने अस्पृश्यों से परिभव प्राप्त किया। ठीक ही है—

प्रागुन्मीलति दुर्यशः सुविपमं गर्ह्योऽभिलापस्ततो
धर्मः पूर्वमुपैति संक्षयमथो श्लाघ्योभिमानक्रमः।
सदेहं प्रथमं प्रयात्यभिजनं पश्चात्पुनर्जीवितं
किं नाभ्येति विपर्ययं विगलने शीलस्य चिंतामणेः॥

अर्थात्—पहले तो दुर्यश का प्रसार होता है, फिर निन्दनीय अभिलापा का। पहले धर्म कूच कर जाता है, फिर प्रशंसनीय कुलागत अभिमान। पहले अपनी कुलीनता संदेह में पड़ जाती है, फिर अपने प्राण। भला चिंतामणि रूपी शील के गलने पर कौन सी बात विपर्यय को नहीं प्राप्त होती!

राजा के महल में पहुँचते ही उपर्युक्त दुर्घटना उसके माता पिता के कानों तक उसी रात को तुरंत पहुँच गई। वे बेचारे वात्सल्य प्रेम, लज्जा और शोक में डूबकर देर तक खूब रोए और उन्होंने इस पापी को कैद में डालने का और उसके बड़े लड़के हर्ष को, जो वग्गिका रानी से उत्पन्न हुआ था और सर्व विद्या-निधान था, गद्दी पर बैठाने का निश्चय कर लिया। सवेरा होते ही उन्होंने कलश को बुलवाया। उस के पेट का पानी हिलने लगा। उसने पिता के पास जाने के पूर्व बिज्ज और जयानन्द से वार्तालाप किया और कहा कि मुझे इस घड़ी पिता की ओर से बहुत शंका और भय है। न जाने वे क्या करें। खैर; जयानन्द ने कलश का हाथ पकड़ लिया और पीछे पीछे बिज्ज चलने लगा। यों यह पिता के निवास स्थान पर पहुँचा। ज्यों ही यह कमरे में घुसा और इस की सूरत इसके पिता ने देखी, त्यों ही उसने इसको खूब जोर से एक

चाँटा लगाया और कहा—"अभाग्यभागिन्नहिहि छुरिकाम्" अभागे ! पटक इस कटार को। विज्ज ने कलश के शरीर को, जो डर के मारे थर्रा रहा था, अपने हाथ से पकड़ा और उसके शास्त्र को छू हिम्मत करके राजा से कहा—

राजन्मानवतां धुर्यो भवन्नपि भवान्कथम्।
नात्याज्यं मानिनां वेत्ति मानमहमहाव्रतम् ॥३२४॥
गृहीतवेतनेनायं राजपुत्रेण शस्त्रिणा।
संकटेऽस्मिन्मया स्वामी जीवता त्यज्यते कथम्॥३२५॥
पिता भवानयं पुत्रः क्षणेऽन्यस्मिन्महीपते।
मय्यसंनिहितेमुष्य यद्योग्यं तद्विधीयताम् ॥३२६॥

(सप्तम तरङ्ग)

आशय—हे राजन् ! आप मानियों में अग्रणी होते हुए भी क्या नहीं जानते कि मानियों को मानमह महाव्रत सर्वदा सर्वथा अत्याज्य होता है ! मैं राजपुत्र हूँ; शस्त्र धारण किए हुए हूँ। मैंने राज्य का नमक खाया है। फिर भला मैं जीते जी ऐसे संकट में स्वामी को कैसे त्याग सकता हूँ ! सच है आप पिता हैं, यह आपका पुत्र है; परंतु किसी और समय जब मैं साथ में न होऊँ, तब आप जो उचित समझें, करें।

ऐसे स्निग्ध कर्कश वचनों से राजा को मोहकर विज्ज वहाँ से कलश को लौटा लाया। बुद्धिमानों ने विज्ज की प्रशंसा की। कहा कि इसकी हिम्मत को देखो, इसने अनन्तदेव के सामने भी कैसे वचन कहे! उस समय अनन्तदेव की रानी जो मौन धारण किए हुए जप में लगी थी। यदि उस दिन वह कुछ भी करती, तो अवश्य कलश को कारागार भुगतना पड़ता अथवा प्राणों से ही वंचित होना पड़ता। तदनन्तर विज्ज काँपते हुए कलश को दिद्दा नामक वल्लभा के कमरे में ले गया। उस बुद्धिमती ने सब वृत्तांत जानकर यह प्रसिद्ध किया कि कलश के सिर में बहुत पीड़ा है और उसके सिर पर तेल मल दिया। उसने इस

बहाने से वहाँ द्वार पर बिज्ज को बैठाकर सब का आना जाना रोक दिया। उस समय रानी ने अपनी समाधि त्यागी और राजा को खूब झिड़ककर कुशल समाचार पूछने के बहाने से कलश के पास आई। फिर राजा भी यही बहाना करके परंतु वस्तुतः कलश को कैद करने के विचार से वहाँ गया। बिज्ज ने, जो पहरे पर था, उसके साथियों को रोक दिया और केवल उसे ही अंदर जाने दिया। राजा इस दुर्व्यवहार से बहुत रुष्ट हुआ और उसने विजयक्षेत्र जाने की ठान ली। जब वह अपनी रानी सहित वहाँ से चल पड़ा, और मार्ग में अवन्तिपुर पहुँचा, तब वहाँ पर विश्वावटादि द्विजों ने उससे कहा—

अधिकारं स्वयं त्यक्त्वा राजन्किमनुतप्यसे।
कृतस्यानुशयो युक्तो न सतो नासतोपि वा ॥३३८॥
न च ते दुर्मतौ त्यक्ताः प्रजा एता मयेत्यपि।
ध्यात्वा सूनोः समुचिता कर्तुं दुष्टस्य वाच्यता ॥३३९॥
न यन्त्रपुत्रकस्येव शक्तिः कापि हि भूभुजः।
भवेत्साधुरसाधुर्वा स प्रजानां शुभाशुभैः ॥३४०॥
उज्झन्ति यत्पयोवाहा जलानि तड़ितोथवा।
यन्नरपतीनां सदसत्कर्म पाकस्य तत्फलम् ॥३४१॥
यथापथस्थितं पुत्रं त्यक्त्वेच्छस्यासितुं सुखम्।
कोशं त्यक्त्वा प्रस्थितस्य घटते तत्कथं तव ॥३४२॥
धाराधिरूढ़ सामर्थ्यः सद्वंशः शुचिमानपि।
संस्पृश्यते चीणकोशः कृपाण इव कैः पुमान् ॥३४३॥

(सप्तम तरङ्ग)

आशय—राजन्! अपने आप राजगद्दी को त्याग अब क्यों पछतावा करते हैं? जब एक काम कर चुके, तो अब आपको उसके अच्छे बुरे की मीमांसा करने से क्या लाभ है? आपको अपने पुत्र के विषय में बुरा भला कहना भी नहीं अच्छा लगता; क्योंकि आपने स्वयं अपनी

प्यारी प्रजा को उसकी दुर्मति के हवाले कर दिया है। सच तो यह है कि राजा लोग काठ के पुतले के समान होते हैं। उनमें कुछ भी शक्ति नहीं होती। वे प्रजा के शुभ अशुभ कर्मानुसार साधु अथवा असाधु हो जाते हैं। मेघ जो जल अथवा बिजली गिराते हैं, वह क्या है? वनस्पतियों के सत् असत् कर्म का फल ही तो है। कुमार्गी पुत्र को स्वाधीन छोड़ साथ ही इसके कोश भी त्यागकर जो आप सुख भोगने की इच्छा से प्रस्थान कर रहे हैं यह भी हमको ठीक नहीं जँचता। देखिए, जिसकी सामर्थ्य बहुत प्रबल हो, जो अच्छे वंश में भी उत्पन्न हुआ हो, पवित्र भी हो परंतु कोश-रहित हो, वह पैनी, अच्छी मूठवाली, चमकदार, परंतु पिधान रहित तलवार के समान किसके छूने योग्य होगा!

सेवक आदि को यथा स्थान लगाने में ही व्यतीत हो गया। तन्वङ्गराज, तुङ्गादि के पुत्र तथा सूर्यवर्म चन्द्रादि डामर अनन्तदेव के साथ ही निवास करने को आए। राजा ने क्षीरभूपादि डामरों को नौनगरादि स्थानों पर रक्षार्थ स्थित कर दिया और वह सब चिंताओं से विश्रान्त हो विजयेश्वर में धार्मिक उत्सवों द्वारा दिन बिताने लगा। राजा ने श्रीनगर लौकिक संवत् ४१५५ (ई० स० १०७९) के ज्येष्ठ मास में त्यागा था। तब से वह विजयक्षेत्र में स्वर्ग का सुख अनुभव करने लगा।

उधर राजा के चले आने पर कलश को कश्मीर का राज्य ऐसे मिला, जैसे साँप के जाने पर खाली खजाना। अपने शासन को उज्ज्वल करने के विचार से उसने विज्जादि से सलाह की और प्रतिष्ठित पुरुषों को अच्छे अच्छे पदों पर नियुक्त किया। उसने जयानन्द को तो सर्वाधिकारी बनाया और वितस्तात्रपुर में उत्पन्न हुए वराहदेव को द्वार के अधिकार में नियुक्ति किया। जब जिन्दुराज कम्पनाधिपति था, तब विजयमित्र नाम का एक पुरुष अम्बराधिकारी (पोशाक का अफसर) था। उसे इसने कम्पनाधिपति बनाया। यों राज्यप्रबन्ध कर अब कलश अपने पिता से लड़ने का विचार करने लगा। इस निमित्त उसे अर्थ संग्रह करने की विशेष चिंता उपस्थित हुई। जयानन्द ने पदातियों को एकत्र करने के विचार से यत्नपूर्वक अयोग्य धनिकों से भी राजऋण लिया। यों सेना संग्रह कर विज्जादि जैसे पुरुषों को साथ ले पुत्र कलश अपने पिता अनन्तदेव पर चढ़ाई करने पर उतारू हुआ और अवन्तिपुर आ पहुँचा। बिन्दुराज, जो कैद से मुक्त हो चुका था, राजा की प्रेरणा से शिमिका मार्ग से युद्ध करने के लिये गया। जब इस उद्योग के समाचार डामरों को पहुँचे, तब वे बड़े प्रेम और उत्साह के साथ तुरंत वृद्ध राजा का साथ देने को तैयार हो गए। विजयेश्वर की भूमि योद्धाओं तथा तुरगमण्डल से जो गुद कोड़ा

(पोलो) कर रहे थे, समाकुल हो बड़ी तंग हो गई। तब रानी सूर्यमती ने वात्सल्य के कारण जैसे तैसे क्रोधशील पति को मनाया और दो दिन युद्ध रोकने के लिये राजी किया। इस अवसर में उसने मय्या आदि विश्वासपात्र ब्राह्मणों को उसी रात कलश के पास भेजा और उनके मुख से कहलवाया कि पुत्र ! तुझ पर यह क्या कुमति सवार हो गई है ! आज तू अपने परम पराक्रमी पिता से युद्ध ठान यमराज के पास पहुँचना चाहता है। अरे, जिसके भ्रूभङ्ग मात्र से दरद राजादि भस्म हो गए, उसकी क्रोधाग्नि में तू शलभ (टिड्डी) बनना चाहता है। तेरे पास कौन सी सेना है, क्या शौर्य है, क्या कोश है जिसके बल से तू इस शक्ति-शालियों में अग्रणी पिता से लड़ने को तैयार हो गया है ? दैव-संयोग से जिस राज्य का इसने त्याग कर दिया, उसका तू अखंड भोग कर। सोच तो सही, तीर्थ में बैठे हुए तेरे पिता ने तेरा क्या बिगाड़ा है ! अपने और पिता के बीच फूट डालनेवालों के पंजों में पड़ तू जितना निर्धन है, उससे कहीं अधिक निर्धन बहुत शीघ्र हो बैठेगा। जा, सेना को लौटा ले जा। विश्वास रख, मेरे जीते राजा से तेरा कुछ भी अनिष्ट नहीं होगा। वह सरल है। तुझे विनय द्वारा उसे प्रसन्न कर लेना चाहिए।

दूत के मुख से माता का यह संदेश सुन कलश ने तुरंत अपनी सेना वापस कर दी। रानी अपने यत्न की सफलता देख बहुत प्रसन्न हुई और दिन निकलते ही पति के पास जा उसे खूब झिड़का। यद्यपि रानी ने अपनी चतुराई से पिता पुत्र में परस्पर भेद शमन कर दिया, परंतु पिशुनों की प्रेरणा से उनमें क्षण क्षण में विरोधपूर्ण संकल्पों का उदय होता ही रहता था।

कलश ने ईर्ष्या के कारण पितृ-पक्ष के पुरुषों के परिवार नष्ट कर दिए और उन्हें नाना प्रकार से दुःख देना आरंभ किया; परंतु पिता ने स्त्री के वश में रहने से ऐसे कर्म नहीं किए। अनन्त ने अतिशय दुःख

कारण अन्त में राजगद्दी फिर से ग्रहण कर लेने का संकल्प किया। वह जिन्दुराज की वीरता बहुत हलके दर्जे की गिनता था और यह समझता था कि उसकी सेना वीरों से शून्य है। अनन्त का विचार तन्वंग के पुत्र को राजा बनाने का था। रानी ने सोचा कि ऐसा होने से तो मेरी संतान राज से च्युत रहेगी; अतः पति को समझा बुझाकर कलश के पुत्र हर्ष को अपने पास बुलवा लिया। हर्ष बड़े हर्ष से पाँच योजन मार्ग पल भर में तै कर भपिता के पास आया और उनके चरणों में मस्तक नवाया। कलश इस घटना से काँप उठा। उसने तुरंत अप्रियाचरण करना बंद कर दिया और हर्ष के पास पत्र भेजने लगा। यों फिर पिता पुत्र के परस्पर दुर्व्यवहार स्थगित हुए। कलश की आज्ञा से सेनापति खशाली जा रहा था। उसका मार्ग विजयेश्वर से हो कर ही था। उसने अनन्त को नम्रतापूर्वक नमस्कार किया और पत्नी की प्रेरणा से राजा ने उसे मार्ग दे दिया। ब्राह्मण लोग पिता पुत्र के इस परस्पर द्वेष से बहुत संतप्त थे। उन्होंने इस देशोपघातक दुश्मनी का शमन करने के विचार से प्राय (अनशन व्रत) किया। इस के द्वारा पुनरपि परस्पर प्रेम उत्पन्न हुआ और राजा तथा रानी राजधानी में चले आए और दो मास तक वहीं रहे। तदन्तर उन्हें ऐसा ज्ञात हुआ कि जयानन्दादि की सलाह से कलश उन्हें कैद करने की योजना कर रहा है; इससे वे फिर खिन्न हो विजयेश्वर चले गए।

वहाँ कलश ने रात में घुड़साल में आग लगवा दी और पदातियों को विष, शस्त्र और अग्नि के प्रयोगों से मरवा डाला।

विरोध ऐसी उपचित दशा को प्राप्त होता जा रहा था, परंतु रानी ने वात्सल्य के वश हो अपने प्रयास से राजा को प्रतिकार चेष्टा करने से रोके रखा। उन दिनों मछुआ जाति की एक स्त्री थी, जिसका नाम लुड्डा था। यह चतुर गिनी जाती थी। उसका जार एक डामर था जिसका नाम थक्क था। लुड्डा ने थक्क को अपना गुलाम बना रखा था। जब

लोग अनन्त और सूर्यमती का यश और लुब्धा के संकेत से वर्णन करते, तो कलंकी कलश का मुख मलिन हो उठा करता था। राजा रानी ने पुनरपि हेम तुला पुरपादि दान तथा नाना प्रकार की धर्मचर्या कर अपने मानसिक ताप का शमन करने की चेष्टा की। पर धन के कारण उनकी स्थिति ज्यों की त्यों दृढ़ रही; इसलिये दुष्पुत्र ने ईर्ष्या से विजयेश्वर में आग लगा दी, जिससे सारे का सारा ग्राम राजा के धन-धान्य समेत भस्मावशेष हो गया। सर्वनाश से दुखी रानी आत्मघात करने का यत्न करने लगी; परंतु जैसे तैसे तन्वङ्ग के पुत्रों ने उसे बचा लिया। राजा की सैन्य दिगम्बरी हो गई। कलश इस भयंकर आग के पुंजों को अपने महल की छत पर चढ़ देख देख हर्ष से नाचने लगा। अनन्त नदी के दूसरे किनारे पर चला आया। रानी को एक शिवलिङ्ग नष्ट होने से बचा हुआ मिल गया। उस रत्नलिङ्ग को उसने ७२ लाख में जाहा के हाथ बेचा और उस द्रव्य से अन्नवस्त्रादि मोल ले अपने सेवकों को बाँटे और निर्दग्ध मकानों की मरम्मतें करवाईं। राजा की उस भस्म के नीचे इतना सुवर्णादि मिला कि उसका वर्णन करना कौतुक उत्पन्न कर देगा। राजा और उसके अनुयायी घास, बेंत आदि के छातों के तंबू बनाकर रहने लगे। राजा का विचार उस पुर को पुनरपि निर्माण करा देने का था; और इस कार्य के लिये उसके पास आर्थिक सामर्थ्य भी था। परंतु राजोचित आज्ञा प्राप्त न हो सकने से उसका संकल्प सिद्ध नहीं हो सका। माता की अनुकूलता के कारण अनियंत्रित रह जाने से कलश निन्दनीय संदेश भेज पिता को परिताप पहुँचाया करता था। वह यह चाहता था कि उसका पिता विजयेश्वर को त्याग पर्णोत्स में रहा करे। इसके लिये वह बार बार दूतों द्वारा प्रेरणा करने लगा। प्रभावशीला रानी भी साधिक्षेप वैसा ही कर देने के लिये कहने लगी। तब एक समय वह हैरान होकर एकांत में जहाँ तन्वङ्ग का पुत्र थक्क नहीं था, रानी से बोला—देख, जोरू का गुलाम बन मैंने अभि-

मान, यश, शौर्य, राज्य, ओज, मति, धन और क्या क्या नहीं गँवाया ! नर नारी को मिथ्योपकरण गिना करते हैं; परंतु वस्तुतः नर नारियों के क्रीडोपकरण हैं*। स्त्रियों ने कार्मण से किसी के रूप को, किसी के बल को, किसी की बुद्धि को, किसी के पुंसत्व को यहाँ तक कि किसी के प्राणों को भी हर लिया है। उन्नत पयोधरों से मत्त हुई स्त्रियाँ अन्य गोत्रजों के पुत्रों को ले अपने पतियों के प्रदेश को भिन्न भिन्न पहाड़ों के कंकड़ पत्थर लाती हुई उमड़ी हुई नदियों के समान नाश कर देती हैं। वे पत्रों का पोषण करती हैं, परंतु भर्ता का शोषण करती हैं। वे समझती हैं कि यह तो अंत तक हमारा भरण करेगा; इस खूसट से क्या अधिक लेना देना है ! मैंने ऐसे अपनी स्त्री के दोष जान रखे है, परंतु अपनी उच्च स्थिति के कारण मैंने बुरा भला नहीं कहा। इस ऐहिक सुख संपदा का नाश कर अब यह चंडी मेरे परलोक के सुख का नाश करने को उद्यत हुई है। मृत्यु का समय अब निकट है। भला पुण्यधाम विजयक्षेत्र को छोड़ मुझे कहाँ अन्यत्र जाना उचित है ! कलिमल-दहन धूर्जटि के द्वार की सेवा की उत्कंठा कैसे कुंठित हो सकती है ? पुत्र पिता को दोनों लोकों से पार उतारनेवाला गिना जाता है; परंतु मेरे पुत्र जैसा किसके होगा, जो पिता को तीर्थ से परे हटा कुपथ में प्राण छुड़वाना चाहता है। मैंने यह प्रवाद कई बार सुना था कि यह कलश मेरे वीर्य से उत्पन्न नहीं है; यह बदलकर लाया गया है। मुझे इसकी करतूतों से यह प्रवाद सत्य प्रतीत होता है। जो पिता से आकार तथा आचार में न मिले, बंधुओं से विरोध करे और अपने पिता से स्नेह न रखे, उसे अन्य के वीर्य से उत्पन्न समझना चाहिए †।

राजा के इन मर्मस्पर्शी शब्दों से रानी का हृदय विदीर्ण हो गया।

---

* मिथ्योपकरणं नारीर्गणयन्ति नृणां जनाः ।
परिणामे तु नारीणां क्रीडोपकरणं नराः ॥

† विसंवादिनमाकाराचारैर्बन्धुविरोधिनम् ।
पुत्रं पितुरस्निग्धं जानीयादन्यरेतसम् ॥

एक मनुष्य के समीप विद्यमान होते हुए पुत्र की इस गुह्य उत्पत्ति का प्रकाशन उसे और भी अधिक लज्जाप्रद हुआ; क्योंकि ऐसी जनश्रुति पहले से ही व्याप्त थी कि कलश प्रशस्त नामक महत्तम का पुत्र है और रानी ने अपना बालक मर जाने पर उसे चुपचाप अपना लिया है। जिन स्त्रियों का प्रभुत्व अपने पतियों पर हो जाता है, वे फिर पति के कठोर भाषण को सिर पर नीच की लात के प्रहार के समान गिना करती हैं। इसलिये वह. साधारण स्त्री के समान रोष से परुष वचन बोलने लगी। कहा कि यह अभागा, मूर्ख, कंगाल मूड़िया जिसने वृथा ही वृद्धावस्था को लजाया, इतना नहीं जानता कि कहाँ क्या कहना चाहिए। नहाकर जिसके पास अंग ढकने को लँगोटी तक नहीं थी—संसार जानता है, उसने मुझे पाकर क्या गँवाया जो इसने मेरे लिये कहा है, वह निस्सन्देह इसके कुल की स्त्रियों पर घटता है। यह प्रायश्चित्त करने का समय है। संसार कह सकता है कि अब यह निश्चेष्ट है; इसकी आयु बीत चुकी; पुत्र ने देश से निकाल ही दिया; अब स्त्री ने भी इसका साथ छोड़ा, बस मुझे इस परिवाद से ही भय है।

राजा पत्नी के इन मर्मघाती तीखे वचनों को सुन अति व्यथित हो जड़ीभूत हो गया। रानी बराबर संभ्रान्त हो रही थी। उसी समय थक्कन ने देखा कि राजा ने कुपित हो अति वेग से अपनी छुरी अपनी गुदा में मार ली जिसके कारण रक्त की धारा उसके आसन से नीचे बहने लगी; परंतु वह वीर ज्यों का त्यों बैठा रहा। लज्जा से चकित हो अति धीर राजा ने थक्कन से कहा—देखो, बाहर जाकर कहना कि महाराज को रक्तातिसार हो गया है।

विधेया नारीणां तनय निहिताशेषविभवाः
कृतम्लानौ भृत्ये पुनरुदितविस्रम्भरभसाः।
नयन्तो गयत्वं प्रसभमभियोगं लघुमति
नयत्यन्ताः क्ष्मायाः प्रलयमुपगच्छन्तिन चिरात्॥

अर्थात्—वे राजा लोग जो स्त्रियों के दास होजाते हैं, अपना सारा विभव संतान के अधीन कर बैठते हैं, छोटे से शत्रु को बिना सम्यक् विचार किए अभियोग कर बैठने से प्रधानता दे देते हैं, ऐसे नीति के मार्ग का त्याग करनेवाले शीघ्र नाश को प्राप्त होते हैं।

गम्भीर राजपुरुषों ने जनता में यही प्रसिद्ध किया कि राजा घोड़े पर सवारी कर रहा था; शरद के आतप से थका हुआ था; गहरी प्यास लगी हुई थी। दैव संयोग से उसने ऐसी अवस्था में धान्य का जल पी लिया जिससे रक्तातिसार का वेग हो उठा। यों बाहरवालों को यथार्थ घटना का पता नहीं लगा। लौकिक संवत् ४१५७ (ई० सन् १०८१) के कार्तिक मास की पूर्णमासी को विजयेश्वर में उसने प्राण त्यागे। पुत्र और पत्नी के उद्वेग को त्याग अब उसने सुख से टाँग पसारी। तदनन्तर रानी ने चंडाल से लेकर राजपुत्र तक सब अनुयायियों को दैनिक वेतन (प्रत्यह वेतनम्) दिया, मानों उसको कुछ भी अस्वस्थता नहीं थी। फिर उसने उनसे विजयेश के सामने अपने पोते हर्ष को क्षेम कुशल से रखने के लिये शपथ दिलवाई। हर्ष उस समय रानी के पैरों में पड़ रोने लग गया। रानी ने पुकार कर कहा कि बेटा, कभी अपने बाप का विश्वास मत करना। तब वह वहाँ से उठ खड़ी हुई; अपने पति का शृङ्गार करवाया और आप छड़ी ले पहरेदार का कार्य करने लगी। यों एक रात और आधा दिन बीत गया। फिर शंकर विजयेश को प्रणाम कर वह सवारी में बैठ रवाना हुई। राजा रानी को इस अवस्था में जाते हुए देखकर लोगों के तुमुल आक्रन्दन से दिशाएँ फट गईं। रत्न-जटित विमान में घूमते हुए लोगों की आकृतियों के प्रतिबिम्बित होने से यह प्रतीत होता था कि वे सब राजा के अति समीप हैं और उसके साथ जाने का प्रयत्न कर रहे हैं। अपनी सेना की अंतिम सेवा देखती हुई नृपति-प्रिया सूर्यास्त होने के पहले प्रेतवन में पहुँची। दुस्त्यज वात्सल्य के कारण अथवा

"और किसी कारण से वह उस समय पुत्र के दर्शन करने के लिये उत्सुक हुई। उसने सेना से उठी हुई धूलि को देख समझा कि कलश आ रहा है। वह उत्कंठा से चकित हो उठी और उस दिशा से आए हुए कुछ आदमियों से स्वयं पूछा कि क्या कलश आया है? कलश वस्तुतः आना भी चाहता था; परंतु द्वैधकारियों ने उसे डरा दिया और वह रुक गया। फिर पुत्र के अवलोकन से निराश हो उसने वितस्ता नदी का जल लिया और निम्न-लिखित श्लोक पढ़ा—

वैतस्तेन तु तोयेन जठरस्थेन ये मृताः।
मोक्षं गच्छन्त्यसंदेहं ते यथा ब्रह्मवादिनः॥

आशय—जो लोग वितस्ता के जल को पेट में लिए प्राण त्यागते हैं, वे वेद-वक्ताओं के समान मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

तदनन्तर उसने उस जल का आचमन किया और स्नेह के संशयकारी पिशुनों का शाप दिया कि जिन्होंने हमारे और पुत्र के बीच बैर उत्पन्न किया है, सकुटुम्ब शीघ्र नष्ट हों। ठीक ऐसा ही हुआ। इस सती के शाप से जयानन्द जिन्दुराजादि थोड़े समय में ही नाश को प्राप्त हुए। हलधर संबंधी अपवाद शांत करने के लिये उस सती ने शपथ खाई और उसके परलोक सुख की प्रार्थना की। यों वह विशुद्ध शीला सती हँसती हुई परम प्यारे पति की चिता में कूद पड़ी। मनुष्यों के आक्रन्दन के मारे अग्नि के ताप का पता भी नहीं लगा। गंगाधार, टिक्कपुद्ध, और उस कर्पा रथ को हाँकनेवाला दंडक और वहा, नोनिका और वल्गा नाम की दासियाँ रानी की सहगामिनी बनीं। वप्पट और उद्दट वंश के सोनट और चेमट, जो अनन्तदेव के वल्लभ थे, वैराग्य धारण कर विजयेश्वर में रहने लगे। मरते समय राजा की अवस्था ६१ वर्ष से अधिक थी। चौथे दिन तन्वङ्गराज के पुत्र राजा के फूल ले गङ्गा जी गए।

(असमाप्त।)

---

(१०) गंगानन्द कवीन्द्र

[लेखक—पण्डित जगन्नाथ शास्त्री होशिङ्ग साहित्योपाध्याय, काशी ।]

आज कल संशोधन (Research) विभाग से दिन प्रतिदिन बहुत कुछ बातों का पता चलने लगा है। इसमें भी पुरातत्व विभाग अपना काम बहुत ही अच्छी तरह चला रहा है। संस्कृत के ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का पता लगाने में भी बहुत से लोग लगे हुए हैं। इसका अधिकांश प्रचार संस्कृतानुरागी पाश्चात्य पंडितों में ही है। संस्कृत के पण्डितों में तो यह काम करनेवाले विरले ही दिखाई पड़ेंगे। किंतु यह देखने में आता है कि संस्कृत साहित्य का भाण्डार अनन्त है; क्योंकि जब किसी नए सूचीपत्र को हाथ में उठाते हैं, तो हर एक विषय के कुछ न कुछ नए ग्रन्थ दिखाई पड़ते हैं; और प्रांत प्रांत में इनके स्थापन तथा मुद्रण की भी व्यवस्था की जा रही है। तथापि ऐसा ही मालूम पड़ता है कि इतनी आयोजनाएँ भी इसके लिये पर्याप्त नहीं हैं। अस्तु; मुझे संस्कृत साहित्य के ऐसे ही एक विद्वान् के संबंध में थोड़ा लिखना है।

ग्रन्थकार का पूर्ण परिचय

इनका नाम गङ्गानन्द कवीन्द्र है। ये मैथिल ब्राह्मण थे और तीरभुक्त अर्थात् तिरहुत या मिथिला के निवासी थे। इन के माता पिता इत्यादि पूर्वजों का कुछ भी पता नहीं चलता। इन्होंने अपने ग्रन्थ में उनका उल्लेख ही नहीं किया। इनके बनाए हुए "काव्यडाकिनी" ग्रन्थ के द्वितीय श्लोक से केवल 'गङ्गानन्दकवीन्द्र' नाम ही ज्ञात होता है और प्रकरणान्त की पुष्पिका (Colophon) से 'मैथिल' थे, इतना और अधिक जान पड़ता है। इनके "कर्णभूषण" ग्रन्थ से यह

भी पता चलता है कि ये तिरहुत के रहनेवाले थे, और उसी ग्रन्थ के आलोचन से यह भी सिद्ध होता है कि ये बीकानेर के महाराज कर्ण के आश्रित थे। इनके बड़े भाई का नाम रघुदेव शर्मा था। इनका उल्लेख उसी काव्यडाकिनी में उदाहरण स्वरूप दी हुई उनकी कविता के साथ आया है। इसके सिवा इनके पारिवारिक सम्बन्ध का कुछ भी पता नहीं चलता।

समय

समय का निश्चय करने के लिये सिवाय अनुमान के कोई स्पष्ट आधार नहीं है। न जानें क्यों संस्कृत ग्रन्थों के रचयिता अपने समयादि का उल्लेख नहीं करते थे। एक तरह से यह कहना अयुक्तिपूर्ण न होगा कि यदि वे अपना पूरा वृत्तान्त वर्णन कर देते, तो आज कल के लोगों को डाक्टरेट की उपाधि के लिये अन्यान्य विषयों की ओर ही झुकना पड़ता। अस्तु, ये बीकानेर महाराज कर्ण के आश्रित थे। महाराज बीकाजी के पुत्र कर्ण—लूई कर्णदेव—ही इनके आश्रयदाता थे। इतिहासज्ञों ने उनका राज्य-काल प्रायः ई० सन् १५०५ से १५२७ तक निश्चित किया है। अतएव यह कहना होगा कि ये सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में थे।

इनके ग्रंथ

इनके बनाए हुए ग्रन्थों में केवल ४ ही ग्रन्थों का अभी तक पता चला है, जिनमें से दो मुद्रित हो चुके हैं और अवशिष्ट दो केवल ज्ञात ही हुए हैं। इन ग्रन्थों के नाम और साथ ही साथ कुछ परिचय भी हम हिन्दी भाषा के प्रेमियों को करा देना उचित समझते हैं।

(१) कर्णभूषण—इस ग्रन्थ में 'रस' का विचार और रूप, भेद, उदाहरण तथा इतर विषयों का भी प्रासङ्गिक विचार किया है। केवल 'रस' विषय को लेकर बहुतों ने उसकी मीमांसा की है। वैसा ही इसमें इन्होंने

भी किया है। इस पुस्तक को सन् १९०२ में काव्यमाला नं० ७९ में पं० भवदत्त तथा पं० परब ने संशोधन कर प्रकाशित किया है।

(२) काव्यडाकिनी—यह एक अपूर्व ग्रन्थ है। आज तक जितने लक्षण ग्रन्थ देखने में आए, उनमें केवल अलंकार, रस अथवा वृत्ति (अभिधा इत्यादि) पर पृथक् पृथक् विवेचन मिले। सभी विषयों के विचार करनेवाले काव्यप्रकाश जैसे ग्रन्थ भी हैं, पर केवल दोष विषय पर स्वतन्त्र ग्रन्थ अभी तक दृष्टिगोचर नहीं हुआ था। किन्तु यह ग्रंथ वैसा ही है। इसमें केवल काव्य-दोषों का ही विचार है। अतएव इसका नाम काव्यडाकिनी रक्खा है। डाकिनी का स्वभाव ही है दूसरों के कार्य में विघ्न डालना। वैसे ही दोष भी आस्वाद्यमान रस की प्रतीति में विघ्न उपस्थित कर तज्जन्य आनन्दानुभव में राक्षस या डाकिनी का काम करते हैं; इसलिये कवि का दिया हुआ नाम भी सार्थक है। डाकिनी की दृष्टि ही घातक होती है; एतदर्थ ग्रन्थकार ने उसका पाँच अंशों में विभाग कर प्रत्येक अंश का 'प्रथमा दृष्टि' 'द्वितीया दृष्टि' इस प्रकार नामकरण किया है। प्रथम दृष्टि में कवि ने रूढ़ि के अनुसार मङ्गलाचरण करके ग्रन्थ रचने का उद्देश्य अपने तथा ग्रन्थ के नाम के प्रदर्शन के साथ कर दोष का सामान्य लक्षण देकर उसके विभाग किए हैं और पद तथा पदैकदेशगत दोषों के लक्षण सोदाहरण देकर उनका विचार किया है। द्वितीय में पदैकदेश तथा वाक्यगत दोषों का विचार है। तृतीय में वाक्य-दोषों का सविस्तर विचार है। चतुर्थ में अर्थ-दोषों का सविस्तर विचार कर पंचम में रसगत दोष के विचार के अनन्तर दोष को कहीं गुणत्व, कहीं दोषाभाव मात्रत्व, कहीं न गुणत्व न दोषत्व इत्यादि की व्यवस्था कर ग्रन्थ समाप्त कर दिया है। यह ग्रन्थ १९२४ ई० में काशीस्थ राजकीय सरस्वती भवन पुस्तकालय ग्रन्थावली नं० ८ में निकला है।

(३) मन्दारमंजरी—यह नाटक पं० विश्वेश्वर सूरिकृत मन्दारमंजरी नामक ग्रन्थ से भिन्न है। इसका उल्लेख स्वयं ग्रन्थकार ने

अपने काव्यडाकिनी ग्रन्थ के अनङ्ग परिकीर्तनाख्य रस-दोष विचार-प्रसङ्ग में किया है। इसके सिवा यह पुस्तक उपलब्ध सूचीपत्रों में अभी अन्यत्र कहीं नहीं पाई गई।

(४) भृंगदूत—यह एक काव्य है, कविकुल-शिरोमणि कालिदास रचित मेघदूत के ढंग पर बने हुए अनेक काव्य "दूत" नाम से प्रसिद्ध हैं; जैसे हंस दूत, वात दूत इत्यादि। कुछ दिनों तक कवियों में मन्दाक्रान्ता छन्द में दूतान्त नामक काव्य बनाने की परिपाटी सी हो गई थी। हमारे लेख के मुख्य ग्रन्थकार भी इससे वंचित न रहे।

उपसंहार

जहाँ तक संभव हुआ, प्रमाणों का आधार लेते हुए इस लेख को लिखने की कोशिश की गई है। इसके अतिरिक्त इनके संबंध में और कुछ पता नहीं चलता। यदि कालान्तर में कुछ संभव हुआ, तो फिर इस पर विचार किया जायगा। हमारे हिन्दी-प्रेमी पाठक इस छोटे लेख से संतुष्ट तो क्या होंगे; पर संस्कृत साहित्य संबंधी कुछ बातों का पता पाकर तो अवश्य ही इस ओर अपनी रुचि प्रकट करेंगे।

---

(११) बूँदी के सुलहनामे

(मीमांसा)

[लेखक—श्रीयुक्त ठाकुर हरिचरणसिंह जी चौहान, बूँदी ।]

अजमेर के पण्डित प्रेमवल्लभ जोशी एम० ए० बी० एस सी० महोदय ने संवत् १९७८ वि० की नागरी-प्रचारिणी पत्रिका के भाग २, अंक ३, पृ० २५१ से २६७ तक में बूँदी के सुलहनामे पर एक बड़ा लेख निकाला था; परन्तु उस समय उस पर किसी के ध्यान न देने के कारण गत वर्ष श्रावण की माधुरी में इस विषय पर एक नोट फिर निकाला गया, जिस पर मेहता पण्डित लज्जाराम जी शर्मा ने तथा मैंने उसी माधुरी में इस विषय की मुख्य बातें साधारण रीति से प्रकट कर दी थीं। परन्तु उन से संतुष्ट न होकर जोशी जी ने गत चैत्र की माधुरी में मेहता जी के लेख पर फिर प्रश्न उठाए हैं। सम्भव है, मेहता जी उनका उत्तर दें। पर आज हम जोशी जी महोदय के उस लेख पर अपने विचार प्रकट करते हैं जो उन्होंने संवत् १९७८ की नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में निकाला था।

उक्त विषय पर विचार करने के पहले हम जोशी जी का ध्यान एक नवीन घटना की ओर खींचते हैं जो करीब उपर्युक्त घटना से बिलकुल ही मिलती जुलती है। और वह यह है कि सन् १८५७ के गदर में भारतवर्ष के अनेक राजाओं ने अंग्रेजी सरकार को सहायता प्रदान कर अपनी मित्रता और स्वामिभक्ति दिखाने में कोई कसर नहीं की थी; और उस उपलक्ष में अंग्रेजी सरकार ने भी किसी को धन से, किसी को धरती से, किसी को मान सन्मान से सम्मानित कर के

"It has been stated in various publications that this Chief was exceedingly apatic towards, if not to archives, including letters and certificates from Government officials which proves conclusively that His Highness was loyal to the core, that he furnished troops to assist inquelling the disturbances and that a sum of Rs. 5000 offered by him to the captor of the Rebel, Jaidayal, formerly Commander in-Chief of the Kotah forces who was responsible for the death of the Major Charles Burton, Political Agent, Haraoti, was forwarded from Bundi to the Political Agent Jaipur to be handed over to the person who had caugt the culprit."

आगे कुछ समय के उपरान्त गजेटियर तथा एचिसन्स ट्रीटी के आधार से लिखी हुई पुस्तकों के पढ़नेवाले सोमरेस्ट प्लेनी महोदय के लेख को भी टाड की भाँति झूठा समझें, तो क्या आश्चर्य ! क्योंकि गजेटियर आदि गवर्न्मेन्ट की पुस्तकें मानी जायँगी और प्लेनी तो टाड की तरह एक पृथक् मनुष्य ही गिना जायगा। अभी तक तो सरकारी अफसरों के लिखित सर्टीफिकेट और प्रशंसापत्र बूँदी राज्य में सुरक्षित हैं। पर तब भी न मालूम किसने किस चाल से गवर्न्मेन्ट के ग्रन्थों में उनका उल्लेख तक न होने दिया और बूँदी दरबार को बागियों का सहायक करार दे दिया। यही दशा मुसल्मानों के समय के अहद-नामे की हो सकती है। और है भी ऐसा ही। अकबर ने जल्दी में राव सुर्जन की शर्तों को स्वीकार कर लिया हो और उस की प्रतिलिपि न रखी हो अथवा कहीं वह भूल में ही पड़ गई हो अथवा मुसल्मान लेखकों ने अकबर की कमजोरी छिपाने के लिये उनको प्रकाशित करना उचित न समझा हो, जैसी उनकी आदतें हैं, तो क्या आश्चर्य ! फिर जब मुगलों की बादशाहत नष्ट हो गई, तब उन राजकीय कागजों का क्या पता ! उपर्युक्त कारणों तथा हिन्दुओं से जातीय द्वेष रखने

के कारण उन मुसलमान लेखकों ने राव सुर्जन के ऐसे जबर्दस्त शर्तनामे को अकबर की कमजोरी ढकने के लिये अपने इतिहासों में नहीं रखा तो क्या आश्चर्य! स्वयं अब्बुलफजल ने बादशाही सेना की हार छिपाने के लिये सिरोही के राव सुरतानसिंह के साथ की दत्ताणी की लड़ाई को क्या दूसरा ही रूप नहीं दिया है ? ऐसे अनेक दृष्टान्त दिखाए जा सकते हैं। मुसलमान इतिहास-लेखकों ने मुसलमानों का बड़प्पन दिखाने के लिये अनेक झूठी झूठी बातें गढ़ ली हैं, जिनमें उदयपुरी बेगम का किस्सा भी एक है। ऐसी बहुत सी झूठी गढ़तें गढ़कर उन्होंने अपनी कमजोरी छिपाई है, जो उन्हीं के ग्रन्थों से अच्छे प्रकार साबित हो सकती है। पर उनके उन फारसी अरबी के मूल ग्रंथों को पढ़कर कौन विचार करता है ? जो कुछ अंग्रेजों ने उनके ग्रन्थों का सार अपनी योग्यता से अंग्रेजी ग्रन्थों में लिख दिया है, उसी के आधार पर हिन्दुओं की सभी बातों का खंडन किया जाता है। अस्तु; अब हम जोशी जी की उन दलीलों पर विचार करते हैं, जो नागरी-प्रचारिणी पत्रिका भाग २, अंक ३ में निकली हैं।

(१) तारीख फरिश्ता में लिखा है—"जब बादशाह शिकार करते हुए रनथंभोर पहुँचे और शाही फौज ने उस किले को चारों तरफ से घेरकर आने जाने की राह बंद की" आदि इसमें यदि अकबर की सेना की संख्या भी लिखी होती तो इस पर कुछ विशेष विचार किया जाता; क्योंकि चारों तरफ से उस किले को घेरने के लिये लाखों फौज की आवश्यकता मालूम होती है। वह चित्तौर जैसा किला नहीं है। पहाड़ी किला होने पर भी चारों ओर बड़ी बड़ी पहाड़ियों के परिकोटों से घिरा हुआ है। किले की पहाड़ी के चारों ओर पहाड़ियों की श्रेणी कोई १४ कोस लंबी और ४ कोस के लगभग चौड़ी है, जिसके बीच में पठार और भूमि है। इन पहाड़ियों के भीतर दीवारनुमा सीधे खड़े पहाड़ पर किला बना है और किले की पहाड़ी के चौतरफ मैदान, तालाब, जंगल

और फिर पहाड़ियाँ हैं। और जिस पहाड़ी को मुसलमानी तवारीखों में "रन" लिखा है, उसके और किले की पहाड़ी के बीच में एक बड़ा जंगली नाला है; और वह पहाड़ी भी किले की पहाड़ी के मानिन्द दीवार की तरह खड़ी है और किले की पहाड़ी से दक्षिण में है। फिर उसके दक्षिण में पहाड़ियों की श्रेणी कोट का काम देनेवाली है, जिसमें छोटे छोटे अर्द्ध दुर्ग बने हुए हैं और खंडार जैसा मजबूत किला भी है। जिसने स्वयं रणथंभोर का किला देखा है, वह कह सकता है कि मुसलमानी तवारीखों की यह बात कि "शाही फौज ने पहाड़ी को घेर लिया, किले के भीतरवालों का इस कदर आना जाना बंद हो गया कि हवा तक अन्दर नहीं जा सकती थी" बिलकुल झूठ और बनावटी है। फरिश्ता शिकार खेलते हुए जाकर किला विजय करना लिखता है और मौलाना अहमद तारीखे अलफी में और निजामुद्दीन अहमद तबकाते अकबरी में बादशाह की रणथंभोर पर चढ़ाई करना लिखते हैं। अब इनमें किसको सच्चा और किसको झूठा कहें ? तीनों में परस्पर विरोध है और तीनों ही मुसलमान लेखक हैं। तारीखे अलफी में "रन" नामक पहाड़ी पर तोपें चढ़ाना लिखा है और कई लेखकों ने "मदन" पहाड़ी पर लिखा। तबकाते अकबरी में लिखा है—'इसी वर्ष में जिसका आरम्भ शुक्रवार दूसरी जुमादल सैर ९६६ हि० (चौथा राजवर्ष) = १० मार्च सन् १५५९ ई० को हुआ, हबीब अलीखाँ रनथंभोर पर भेजा गया '......हबीब अली ने सेना से किले को घेरा और उसका पड़ोस बरबाद किया। फिर हबीब अली अपनी जागीर को लौट गया"। इससे स्पष्ट विदित होता है कि हबीब अली पराजित होकर गया। यदि ऐसा न होता तो वह अपनी जागीर को न चला जाता। जब कि वह किला लेने को ही भेजा गया था, तब वह बिना जीते और हारे लौट जाय, यह समझ में आने की बात नहीं है। अवश्य वह हारा और मुसलमानी लेखक ने उसकी हार छिपाने के लिये पड़ोस बरबाद कर

जागीर को चले जाने का रंग चढ़ाया। लेकिन दूसरे मुसल्मान लेखकों ने इस लड़ाई को ही छिपा दिया है। क्या इससे लेखकों की चालाकी नहीं प्रकट होती?

(२) मआसिर उल् उमरा के आधार पर उमराय हनूद में लिखा है कि, "राव सुर्जन हाड़ा राणा उदयपुर के अजीजों में से था और उसकी तरफ से किले रनथंभोर का हाकिम था"। तबकाते अकबरी में लिखा है—"वह (राव सुर्जन मेवाड़ का जागीरदार रनथंभोर का हाकिम था"। तबकाते अकबरी में लिखा है कि वह "(राव सुर्जन) राय उदयसिंह का आश्रित था"। टाड राजस्थान में लिखा है कि "राव सुर्जन मेवाड़ का जागीरदार रनथंभोर का किलेदार था"। मेवाड़ के प्रसिद्ध इतिहास वीरविनोद में भी लिखा है कि "सुर्जन हाड़ा मेवाड़ का जागीरदार था"। यह हम भी स्वीकार करते हैं कि राव सुर्जन बूँदी राजसिंहासन पर बैठने से पहले मेवाड़ के जागीरदार थे *। ब्लाकमैन साहब कृत आईन अकबरी के अनुवाद से भी यही ध्वनि निकलती है कि, "राव सुर्जन पहले राना की नौकरी में था"। यद्यपि टाड साहब ने राव सुर्जन को मेवाड़ का जागीरदार लिखा है, तथापि उसके ऐतिहासिक वृत्त से भी यही बात जानी जाती है कि राव सुर्जन पहले राना का जागीरदार था, जब तक कि वह बूँदी के राजसिंहासन पर नहीं बैठा था; और रणथंभोर का किला उसने बूँदी के सिंहासन पर बैठने के तीन वर्ष पीछे मोल लिया था, न कि मेवाड़वालों ने उसे किलेदार बनाया, जैसा कि आगे चलकर सिद्ध किया जायगा। राव सुर्जन का बूँदी राज्य और मेवाड़ से क्या सम्बन्ध था, यह नीचे के नकशे और इतिहास से अच्छी तरह प्रकट हो जायगा।

---

* पर यदि इसी तरह का न्याय स्वीकार किया जाय, तो ओझाजी को जयपुर के भूतपूर्व महाराजाधिराज सवाई माधोसिंहजी को टोंक का जागीरदार स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि जयपुर के राजसिंहासन पर बैठने के पहले वे टोंक में अपने दिन बिताते थे।

१—राव सुभांडदेव (बूँदी राज्य के अधीश)

- २—राव नारायणदास
  - ३—राव सूर्यमल
    - ४—राव सुरतानसिंह
- राव नरबद
  - राव अर्जुन
    - ५—राव सुर्जन
      - राव भोज
  - कर्मवती, राणा साँगा को ब्याही
- नरसिंह
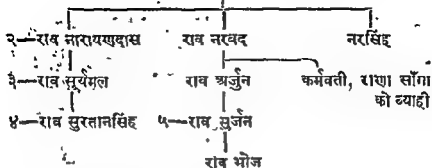
राव नारायणदासजी के भाई राव नरबदजी को माटूँडा की जागीर मिली थी। इनकी पुत्री बाई कर्मवतीजी राणा संग्रामसिंह को ब्याही थीं। इस संबंध से राणाजी ने नरबदजी के पुत्र कुं० अर्जुनजी को ६५०००) वार्षिक की जागीर देकर चित्तौड़ में अपने पास रख लिया था। संवत् १५८९ वि० में राव अर्जुन के चित्तौड़ के किले के एक बुर्ज पर मालवे के पठानों से लड़कर मारे जाने पर वह जागीर उनके पुत्र राव सुर्जनजी को मिल गई। लगभग २० वर्ष तक राव सुर्जन ने मेवाड़ में रहकर राणाजी की सेवा बड़े प्रेम और स्वामि-भक्ति के साथ की। इसलिये उस समय वे मेवाड़ के जागीरदार अवश्य थे। जिस समय उनके पिता और वे मेवाड़ के जागीर-दार थे, उस समय बूँदी राज्य स्वतन्त्र था, मेवाड़वालों के अधीन न था। राव सुर्जन जी के दादा राव नरबद जी के बड़े भाई राव नारायणदासजी और उनके पुत्र राव सूर्यमलजी बूँदी के स्वतन्त्र राजा थे। संवत् १५९१ वि० में राणा रतनसिंह ने राव सूर्यमलजी को आखेट में धोखे से मारा, जिन्होंने मरते मरते भी राणाजी को उनके पाँच मनुष्यों सहित मार डाला॥। यह इतिहास-प्रसिद्ध घटना बूँदी

॥ इससे कई पीढ़ी पहले राणा खेतसी जी राव बरसिंह के छोटे भाई लालसिंह के साथ युद्ध कर गैंडोली स्थान पर मारे जा चुके थे।

राज्य की स्वतन्त्रता का एक ज्वलंत प्रमाण है। राव सूर्यमलजी के पीछे उनके पुत्र राव सुरतानसिंहजी ने बूँदी का राज्य पाया। इनके अत्याचार और अन्याय से दुखी प्रजा और सरदारों ने इन्हें गद्दी से उतारने का विचार कर राव सुर्जन जी को बीस हजार रुपए सेना खर्च के लिये भेजकर उन्हें बूँदी के राज-सिंहासन पर बैठने के लिये बुलाया; क्योंकि बूँदी राजवंश में सब से निकटस्थ हकदार वही थे। राव सुर्जन जी ने बूँदी राज्य के स्वतन्त्र राज-सिंहासन के लिये मेवाड़ की जागीर छोड़ दी और बूँदी राजसिंहासन पर बैठकर वे अपने पैतृक राज्य बूँदी के स्वतन्त्र नरेश बन गए। मेवाड़ से उनका कोई संबंध न रहा। उन्होंने अपने भाइयों को भी बुलाकर उन्हें बीस बीस सहस्र रुपयों की जागीरें दे दीं; और राव सुरतानसिंहजी के समय में बूँदी राज्य में जो परगने शत्रुओं ने दबा लिए थे, उन्हें अपनी वीरता से विजय कर राज्य में मिला लिया जिससे उनकी वीरता की कीर्ति चारों ओर फैल गई। इसी समय अर्थात् संवत् १६१५ वि० में शेरशाही खानदान के हाकिम ने अकबर के डर से घबराकर रनथंभोर का किला राव सुर्जन जी को सौंप दिया, न कि मेवाड़वालों को, उस समय मेवाड़वालों का रनथंभोर से कोई सम्बन्ध न था। दूसरे वर्ष अकबर के सेनापति हबीबअली खाँ ने रनथम्भोर पर चढ़ाई की और देश में उपद्रव मचाया; परंतु राव सुर्जन जी ने उसे मारकर भगा दिया।

(३) उमराय हुनूद में लिखा है—"शेरशाह सूर के गुलाम हाजी खाँ ने, जो उस किले का हाकिम था, किले को राजा के हाथ बेच डाला"। किन्तु इसके विरुद्ध तारीखे अलफी में लिखा है—"किला राव सुर्जन के पास था। उसने उसे सलीम खाँ (इस्लाम शाह) के नौकर हिजाज खाँ से मोल लिया था।" इसी प्रकार तबकाते अकबरी में भी लिखा है कि "शेरशाह अफगान के समय में यहाँ का शासक उसका गुलाम हाजी खाँ था। उसने यह किला राव सुर्जन के हाथ बेच दिया था"। महा महो-

पाध्याय कविराजा शामलदास का बनाया हुआ वीर विनोद मेवाड़ का प्रसिद्ध इतिहास है। उसमें भी इस प्रकार लिखा है कि "संवत् १५६२ तक मालवेवालों के अधिकार में रहा, फिर मेवाड़वालों के अधिकार में आया। संवत् १६०० वि० के और पास शेरशाह ने लिया और उसके बड़े बेटे आदिल शाह की जागीर में रहा। संवत् १६१५ में जुझार खाँ किलेदार ने राव सुर्जन हाड़ा के हवाले किया"। अब्दुल फजल के अकबर नामे में भी लिखा है—"इस वक्त इस किले का अधिकारी सुर्जन हाड़ा था।" इन उपर्युक्त प्रमाणों से भी यही सिद्ध होता है कि रणथंभोर पर राणा जी का कोई अधिकार न था; और न उस समय राव सुर्जन उनके जागीरदार ही थे। वे बूँदी राज्य के स्वतन्त्र नरेश थे और स्वतन्त्र रूप से रनथंभौर पर उनका अधिकार हुआ था। ऐसी दशा में राव सुर्जन जी पर विश्वासघात का दोष लगाना कपोल-कल्पना मात्र ही कहा जा सकता है।

(४) अकबर नामे में लिखा है—"उसने किले को कई तरह मजबूत बनाया। उसने खाने पाने का सामान जमा किया और लड़ाई की तैयारी की।" तारीखे अलफी में लिखा है—"राव सुर्जन को इसकी दृढ़ता का भरोसा था। उसने इसमें ज़रूरत का सामान बंद कर दरवाजे बंद कर दिए'''। उसकी ऊँचाई और उस पर चढ़ने की कठिनाई से कोई अभी यहाँ पर न चढ़ सका था।" मआसरिउल्उमरा के आधार पर उमराय हुनूद में लिखा है कि "वह बराय नाम किला था, मगर हकीकत में मुल्क खुदाए था जिसके गिरदें खिंची हुई थीं, कहीं फसीलें थीं, कहीं पहाड़ों की दहारों पर कुदरती फसीलें थीं। गरज कि महासरह में सख्त दुश्वारियाँ पेश आई। वे दमदमों के कामयाबी मुमकिन न थी। बहादुरों ने दर्रों में घुस कर और पहाड़ों पर चढ़कर ऊँचे ऊँचे मकाम पैदा किए जिनकी बुलंदी किले की इमारतों को कहर की नजर से घूरती थी। उनपर साठ साठ मनी तोपें चढ़ाई, एक एक तोप को दो दो सौ बैल और आठ

बीच में हो, तिस पर भी उसकी मजबूती इतनी जबरदस्त हो कि वह पहाड़ ही दीवार के समान सीधा खड़ा हो जिस पर मनुष्य का चढ़ना तो क्या, भेड़ बकरियाँ भी नहीं चढ़ सकतीं, वहाँ साठ साठ मन की तोपें दो दो सौ बैल और आठ आठ सौ कहार चढ़ा ले जायँ और राव सुर्जन जैसे सुसज्जित वीर एक महीने तक तमाशा देखा करें और उसका कुछ भी प्रतिकार न करें ! फिर एक ही गोले से अपने घर के ढह जाने पर अपने पुत्रों दूदा और भोज को अकबर की सेवा में माफी माँगने को भेज दें और अकबर, भोज तथा दूदा के मनुष्यों द्वारा अपने सरदार राजा पूरनमल और दो तीन मनुष्यों के जख्मी किए जाने तथा शेख बहावलदीन बदायूँनी के कतल होने पर भी उनको खिलअत और ऐजाज इकराम से रुखसत करे तथा अपने सरदार हुसेनकुली खाँ के द्वारा राव सुर्जन को बुलाकर रनथंभौर के एवज में गुढ़ा की जागीर दे अथवा गढ़कंटक का किलेदार बना दे ! इन लेखकों के इन लेखों से तो यही साबित होता है कि बादशाह ने राव सुर्जन से दबकर संधि की थी।

(५) अब्दुल फजल लिखता है—"वहाँ पहुँचते ही बादशाह अपने डेरे से निकले और कुछ दरबारियों को साथ लेकर उन्होंने पहाड़ी का मुआइना फरमाया। हुक्म के मुताबिक बखशियों ने किले के चारों ओर मोरचे बाँधे और मानिन्द एक खौफनाक बाढ़ के शाही फौज ने पहाड़ी को घेर लिया। किले के भीतरवालों का इस कदर आना जाना बंद, रहे, गया, कि, हवा, बह, अंदर, नहीं, जा, सकती, थी, ।, सिपाही, तोप, मर्दी, फुरती से तोपें चलाते थे। सुर्जन हाड़ा ना उम्मेद हो गया।" आईने अकबरी में लिखा है—"अकबर ने चित्तौड़ विजय करने के बाद रनथंभौर पर धावा किया। चूँकि किला एक माह से घिरा हुआ था, राव सुर्जन जीतने से नाउम्मेद हो चुके थे।" उमराय हुनूद में लिखा है—"जब इन तोपों के फैर होना शुरू हुए, तमाम किले के मकानात फरश ज़मीं हो गए। राजा चित्तौड़ का हाल देख चुका था;-घबरा गया। इस अरसे

में एक दिन, जब कि रमजान की आखरी तारीख थी, बादशाह ने इर्शाद फरमाया कि अगर आज रात तक राजा या उसके जानिब से कोई शख्स हाजिर दरबार न हुआ, तो हम कल सुबह ईद का जशन किले के अन्दर मनायेंगे। यह हाल सुनकर राव सुर्जन के और भी छक्के छूट गए" वाह! क्या कहना है बादशाह के इर्शाद का, कि उसने इर्शाद किया कि राव सुर्जन के पास भी पहुँच गया और सुनकर उसके छक्के भी छूट गए और उसने अपने लड़के दूदा और भोज को अकबर के दरबार में भेज दिया! और कहला भेजा कि यदि कोई सरदार आकर मुझे भी ले जाय, तो मैं भी बादशाह के दरबार में हाजिर हो जाऊँ! जब बादशाह के इर्शाद ही में इतनी ताक़त थी, तब उसको इतनी फौज-कशी करके इतने मनुष्यों के कटाने की क्या आवश्यकता थी! इर्शाद ही से सब कुछ हो जाता। सच बात तो यह है कि अकबर हतोत्साह हो चुका था। उसको रनथंभौर जैसे सुदृढ़ पहाड़ी किले को लेने की अत्यन्त उत्कंठा लग रही थी। पर जब एक साल तक परिश्रम करके भी अकृतकार्य हुआ, तो उसने हतोत्साह होने पर राव को लोभ देकर किला लेने का प्रयत्न किया और उसमें वह कृतकार्य हुआ। मुसलमान लेखकों के लिखे अनुसार उसने हुसेनकुलीख़ाँ को राव के पास भेजा। टाड के लिखे अनुसार राजा भगवानदास और उसका पुत्र राजा मान-सिंह राव के पास गढ़ में गए, जिनके साथ अकबर एक सेवक के रूप में था। सुर्जन-चरित्र में बादशाह के सचिव का राव सुर्जन के पास जाना लिखा है। उसमें लिखा है—"राव सुर्जन की सेना ने १३ बार बादशाही सेना को परास्त किया*। १४ वीं बार अकबर स्वयं सेना में उपस्थित होकर युद्ध करने लगा। राव सुर्जन ने किले से उतरकर नदी (सम्भव है, यह बर्णनासा नदी हो) पार होकर अकबर की सेना में

---

* इससे सिद्ध होता है कि बादशाही सेना ने अनेक बार किले पर धावा किया और अनेक बार वे परास्त कर हटा दिए गए।

घुसकर युद्ध किया। जब उसने अपनी सेना को शिथिल देखा, तब हाथी से उतर घोड़े पर चढ़ सेना का संचालन कर उसने अपने सेनापतियों को उत्साहित किया। ऐसे ही समय में उनका घोड़ा मारा गया तो वह तत्काल दूसरे घोड़े पर चढ़ सेना का संचालन कर स्वयं युद्ध में प्रवृत्त हुए। शाही सेना के पैर उखड़े, वह भागने लगी। उसी समय उनका धनुष कट गया, तो वह तलवार खींच कर शत्रुओं पर टूट पड़े। अकबर इनकी वीरता को देखकर चकित हो गया। सायंकाल होने पर दोनों सेनाएँ अपने अपने शिविर में गईं। राव सुर्जन अपनी सेना के साथ गढ़ में आए। दूसरे दिन लड़ाई से पहले बादशाह ने अपना सचिव रावजी के पास भेजा, जिसने अनेक प्रकार से रावजी को समझाकर नर्वदा, मथुरा और काशी मंडलों के देने का लोभ देकर संधि कराई। मुसलमानी तवारीखों में अकबर की कमजोरी छिपाने के लिये इस युद्ध पर किस तरह का रंग चढ़ाया गया है, यह ऊपर के लेखों से अच्छी तरह प्रकट होता है।

इस युद्ध के विषय में एक बात विचारने की यह है कि राव सुर्जन के पिता ने चित्तौड़ के किले को बचाने में वीरता से लड़कर प्राण दिए थे। उसी राव सुर्जन के पुत्र राव भोज ने शाही आज्ञा का उल्लंघन कर अपनी मूँछों की लाली रखी थी, जैसा कि कवि मतिराम ने वर्णन किया है। यथा—

जेते वे उदार दरबार सरदार सब,
ऊपर प्रताप दिल्लीपति को अभंग भो।
कहैं मतिराम तरवार के कसैया गहि,
गाडर से मूड़े जग हाँसी को प्रसंग भो।
सुरजन सुत रज लाज रखवारो एक,
भोज ही तें शाह को हुकुम पग पंग भो।

मूँछन सों राव मुख लाल रंग देखि मुख,
औरन को मूँछन निनाही श्याम रंग मो।

सुर्जन के पोते राव रतन ने बुरहानपुर के युद्ध में शाहजादा खुर्रम के साथी अनेक राजाओं को परास्त कर शाहजादे को कैद कर जहाँगीर का राज्य बचाया। राव रतन के नातियों ने उज्जैन के पास फतिहाबाद तथा आगरे के पास धौलपुर की लड़ाइयों में औरंगजेब और मुराद की संयुक्त सेना के दाँत खट्टे कर वीरगति पाई। पर राजा जसवंतसिंह जोधपुरवाले ने और शाहजादों की तरह पीठ दिखाकर भागना उचित न समझा कि जिससे कुल को लाज आवे। ऐसे वीर वंश भूषण राव सुर्जन का अकबर से डरकर संधि करना क्योंकर माना जा सकता है! जो हाड़ा वंशी संग्राम भूमि में मरना अपना धर्म समझते हैं और पीठ दिखाना जानते ही नहीं, वह हाड़ा वंशी नरेश राव सुर्जन अकबर के इशारे अथवा उसके घेरा देने से ही बिना लड़े और मरे मिटे क़िला दे दे, यह समझ में आने की बात नहीं है।

(६) अब रही सुलहनामे की शर्तों की बात, जिनके विषय में हम ऊपर ही कुछ लिख आए हैं तथा माधुरी में भी लिख चुके हैं। परन्तु तब भी जोशीजी की दलीलों पर विचार करना अभी आवश्यक प्रतीत होता है। यह एक इतिहास-प्रसिद्ध घटना है कि १८ वीं शताब्दी में जयपुर महाराज सवाई जयसिंह के विश्वासघात से महाराव राजा बुधसिंह जी के हाथ से समस्त बूँदी राज्य ही चला गया। तब संधि की शर्तों का ठिकाना ही कहाँ रहा? जयपुर और कोटा के अधिकार में चले जाने पर बूँदी राज्य की सभी कीमती चीजें नष्ट कर दी गईं, दफ्तर जला दिए गए, खजाने लूट लिए गए। तब संधि की शर्तें कहाँ बच सकती थीं! यह तो १३ वर्ष की अवस्था के वीर केसरी महाराव राजा उम्मेदसिंहजी दीवों ही का साहस था कि जिन्होंने अपने असीम परिश्रम, अतुल पराक्रम और अद्वितीय रण कौशल से जयपुर

जैसे बलाढ्य हाथी के पेट में से अपना पैतृक राज्य बूँदी निकाला और अपने पुरखाओं की कीर्ति को उज्ज्वल और चिरस्थायी किया। बूँदी राज्य में वंश भास्कर और वंश प्रकाश दो ग्रंथ हैं, जिनमें राव सुर्जन और अकबर के साथ के सुलहनामे की ७ शर्तों का उल्लेख है, और टाड राजस्थान में १० का। अब इनमें कौन सी ठीक और कौन सी गलत है, इसका निर्णय करने का कोई साधन नहीं है। यदि बूँदी राज्य जयपुर और कोटा की लूट में नष्ट न होता, तो सम्भव था कि न तो जोशीजी को ही इस पर कलम उठाने की आवश्यकता होती और न हम ही उसके प्रकाश करने में अपनी असमर्थता प्रगट करते। परन्तु जनश्रुति का आधार भी कुछ तथ्य लिए रहता है। उस पर भी सहसा अविश्वास नहीं किया जा सकता। फिर राजपूताने में प्राचीन ऐतिहासिक तथ्य से भरी हुई समय समय की फुटकर कविताएँ बहुधा पाई जाती हैं, जिनमें प्राचीन राजा महाराजाओं के वीर चरित्रों का कुछ न कुछ आभास मिल ही जाता है। इनसे बहुत कुछ ऐतिहासिक वृत्त भी जाना जा सकता है। राजपूताने में दीर्घ काल तक रहने के कारण कुछ कविताओं का संग्रह भी हमने किया है। उनको देखने से इस विषय के भी दो कवित्त हमें मिल गए हैं जिन्हें हम नीचे उद्धृत किए देते हैं। यद्यपि इनमें कवि का नाम नहीं है जिससे उनके बनानेवाले और समय का निश्चय हो, तथापि वे नवीन और कल्पित नहीं हैं, प्राचीन ही हैं। वे इस प्रकार हैं—

छप्पय (षटपदी)

अटक न उतरहिं कटक तुरीतन दग्ग न लग्गहिं।
कटि कटार लिये लार यंब दिल्ली लग वग्गहिं॥
नवरोजा नहिं जाहिं आन नृप संग न चढ्ढहिं।
है अमान बलवान पान चहुवान उमंडहिं॥

डोला न देहिं ये सचवर लिय लिखाय पतसाह सों।
सुर्जन महीप बाँधी अचल, यह मर्जाद हद्दुन सुघर ॥ १ ॥
आन नृपन की तरह तुमहिं पुत्रि न परनावहिं।
तीरथ कर नहिं देहिं अटक के पार न जावहिं ॥
नवरोजा नहिं जाहिं शस्त्र जुत हाजर आवहिं।
अश्व न दागल करैं दिली लौं थंब बजावहिं ॥
झुकके सलाम नहिं करहिं हम हर मंदिर भंग न चढ़हिं।
चढ़िहैं न और सँग आपके दिल्ली जो बुँदी रहहिं ॥ २ ॥

दुःख है कि जोशीजी महाराज टाड साहब की कहानी को कल्पित मानकर भी राजा भगवानदास के समझाने को सत्य मानते हैं जिसका मुसल्मानों के किसी इतिहास में उल्लेख नहीं है। केवल बदायूनी ने "कुछ जमींदारों के बीच में पड़ने" ये शब्द लिखे हैं। "राजा भगवानदास का समझाना" टाड की कहानी है जिसे जोशीजी कल्पित मानते हैं। और फिर उनको दबी जबान से यह भी मानना पड़ा है कि "बड़ी जागीर के लालच से हारे हुए राणा की अधीनता में रहने में कोई लाभ न देखकर उन्होंने गढ़ मुगलों को दे दिया"। इसके क्या माने? और जब राव सुर्जन अकबर की शक्ति से भयभीत हो गए और चित्तौड़ की विजय से उसके छक्के छूट ही गए और जब उसने घबराकर अपने पुत्र दूदा और भोज को बादशाह के दरबार में भेज ही दिया था, तब अकबर को राव सुर्जन के लिये बड़ी जागीर का लालच देने की क्या आवश्यकता हुई? इससे भी यही सिद्ध होता है कि जब अकबर लड़कर राव सुर्जन को अपने अधीन न कर सका, तब उसने बड़ी जागीर का लालच देकर उसे अपनी ओर मिलाया, चाहे वह हुसेनकुलीखाँ द्वारा, चाहे राजा भगवानदास या कुँवर मानसिंह द्वारा और चाहे सुर्जन चरित्र के लिखे अनुसार किसी शाही सचिव द्वारा।

जोशीजी ने शर्तनामे की निम्नलिखित शर्तों पर टिप्पणी की है—

(१) जजिया, (२) घोड़ों का दागा जाना, (३) अटक पार जाना, (४) किसी हिन्दू सेनापति के अधीन न रहना और (५) सिजदा। उनके लिखे अनुसार जजिया सन् १५६४ ई० में बंद कर दिया गया था। भला जो जो बातें पहले प्रचलित थीं, पर किसी कारण से बंद कर दी गईं, वे फिर प्रचलित न हों, इसका क्या भरोसा ? दाग की प्रथा उनके लिखे अनुसार सन् १५७४ में चली थी। क्या इससे पूर्व घोड़े दागने की प्रथा नहीं थी ? क्या अलाउद्दीन खिलजी ने घोड़ों को दागने की प्रथा नहीं चलाई थी ? उनके लेखानुसार अटक पार जाने का विचार सन् १५७४ ई० तक नहीं था। क्या काबुल कन्धार में हुमायूँ के भाई कामराँ की हुकूमत नहीं थी ? क्या हुमायू से वहाँ पर कामराँ, मिर्जा अस्करी और हिन्दाल की लड़ाइयाँ नहीं हुई थीं ? क्या कामराँ ने अकबर को भाले से बाँधकर लड़ाई के समय किले की दीवार पर नहीं लगा दिया था ? क्या इससे इस बात की साक्षी नहीं मिलती कि दिल्ली के बादशाहों ने अकबर के पहले काबुल कन्धार में जाकर युद्ध नहीं किए थे ? और जब ऐसा है कि युद्ध किए थे, तब आगे वहाँ युद्ध को न जाना पड़े इसका क्या भरोसा था ? तब अटक पार न जाने की शर्त लिखाना कल्पित कैसे कहा जा सकता है ? क्या राजा भगवानदास की पुत्री * से अकबर की शादी नहीं हो चुकी थी ? क्या गद्दी पर बैठने के पूर्व मारवाड़ के मोटा राजा उदयसिंह ने अकबर से संबंध जोड़ने का वचन देकर सहायता नहीं ली थी ? क्या झुककर सलाम करने की प्रथा पहले से बादशाहों में प्रचलित न थी ? यदि न थी तो किस भाँति की थी ? सम्भव है, अकबर ने घुटना टेक कर (सिजदा) सलाम करने की प्रथा पीछे से चलाई हो। पर झुककर सलाम करने की प्रथा दरबारों में अवश्य थी। तब राव सुर्जन ने उसका लेख अपने शर्तनामे

* सम्भव है कि पुत्री न हो बाँदी ही हो, पर जब पुत्री करके दी, तो पुत्री ही कही जा सकती है।

में कराया, तो कोई आश्चर्य की बात न थी। अब सब बातों को झूठा मानें, यह आपको अधिकार है; पर हम तो मुसलमान इतिहास लेखकों की बातों पर पूर्ण विश्वास नहीं कर सकते, जिन्होंने झूठ मूठ की उदयपुरी बेगम तक बना डाली और मुसलमान बादशाहों की हार छिपाने के लिये उन पर तरह तरह के रंग चढ़ा दिए, जो उनके लेखों की इबारतों से प्रकट हो जाते हैं। राव सुर्जन ने अकबर से मित्रता की और रणथम्भौर का दुर्ग उसे दिया, पर हार कर नहीं, किन्तु उसके बदले में कई परगने उससे लेकर। रहा संधि की शर्तों के विषय में, सो हम ऊपर लिख ही चुके हैं। परन्तु फिर भी इतना अवश्य कहते हैं कि जयपुर, जोधपुर की तरह बूँदी के हाड़ा नरेशों ने कभी बादशाहों को डोला न दिया, कभी किसी नौरोज पर उनकी स्त्रियाँ मीना बाजार में नहीं गईं, कभी उनके डेरों के पास किसी मुसलमान सरदार को गोवध करने की हिम्मत नहीं हुई। और जब कभी हाड़ा नरेन्द्रों ने धर्म पर आघात पहुँचने की संभावना देखी, तभी उन्होंने तलवार खींचकर उसका प्रतिवाद किया और उनसे बादशाहों को दबना पड़ा। ये उनकी निर्भयता, वीरता और स्वतन्त्र प्रकृति के ज्वलन्त प्रमाण हैं। अतः हाड़ाओं ने समय समय पर अपने धर्म, कुल और जाति की रक्षा के लिये बादशाहों की अनुचित आज्ञाओं का सदैव विरोध कर अपना प्रण रखा है।

(७) अब रही मूता नैणसी की ख्यात। उसके विषय में विचारने की बात यह है कि नैणसी जोधपुर राज्य का दीवान था। जोधपुर, उदयपुर, बूँदी और जयपुर राज्यों के जो सम्बन्ध थे, उनके देखने से विदित होता है कि ये परस्पर एक दूसरे को नीचा दिखाने में कैसा कैसा प्रपंच रचते थे। यह मूता नैणसी की ख्यात से भी अच्छे प्रकार प्रकट होता है। और अब तक भी दोनों में ऐसे गीत बनाए जाते हैं जिनसे उनकी प्राचीन डाह झलकती है। यदि मूताजी ने बूँदी नरेशों की निंदा में कुवाच्य लिख दिए, तो वे बाधा वाक्य नहीं समझे जा सकते। इसका

यह लिखना कि "पुत्ता और जयमल की तो अकबर ने हाथियों पर चढ़ी मूर्तियाँ बनवाकर अपने किले के फाटक पर खड़ी कराईं, परन्तु सुर्जन की एक कुत्ते की मूर्ति बनाकर रखवाई।" उसकी डाह को प्रकट करता है; क्योंकि जिन मुसल्मान तवारीखों में अकबर अथवा दूसरे बादशाहों की हार छिपाने के लिये तरह तरह के रंग चढ़ाए गए हैं, वे इस बात को लिखने में कैसे चूकते! पर उन्होंने कुछ न लिखा। सच बात तो यह है कि राव सुर्जन की शर्तों में ऐसी ऐसी बातें थीं जो बादशाह के साथ की हुई जोधपुर और आमेर के राजाओं की की हुई संधियों के प्रतिकूल थीं। फिर भला वे उन पर परदा क्यों न डालते? जैसे जोशीजी टाड साहब के राजस्थान में लिखी बातों को संग्रह मात्र मानकर अपना मत उनके विरुद्ध प्रकट करते हैं, वैसे ही मूता नैणसी की ख्यात भी संग्रह मात्र है। उसने भी उसे विचारपूर्वक शोधकर नहीं लिखा है। यह उसके संग्रह को देखने से स्पष्ट हो जाता है। उसमें चौहानों की जितनी वंशावलियाँ संग्रह की गई हैं, उन सब में बड़ा भेद है। इसी प्रकार अन्य बहुत सी बातें हैं। यदि की इच्छा हो तो उनको विस्तार से दिखाया जा सकता है। इस समय तो उनका लिखना अनावश्यक प्रतीत होता है।

इस लेख से अच्छी तरह साबित है कि (१) रणथंभोर का किला राणाजी का नहीं था; (२) राव सुर्जन बूँदी के स्वतंत्र राज्य के अधीश हो चुके थे, उस समय वे राणाजी के अधीन न थे; (३) रणथंभोर का किला उन्होंने शेरशाही खानदान के हाकिम से लिया था; (४) उन्होंने अकबर से युद्ध कर वीरता प्रकट की थी और रणथंभोर उसे दूसरे परवानों के बदले में दिया था; (५) जब रणथम्भोर के किले से मेवाड़वालों का कोई सम्बन्ध ही न था, तब उसे अकबर को बदले में देने में मेवाड़वालों के साथ विश्वासघात का दोष सुर्जन जी पर लग ही नहीं सकता; (६) अकबर के साथ संधि की शर्तें अवश्य

हुई थीं, पर पीछे दो तीन शर्तें यदि ढीली पड़ गईं, तो उनसे संधि के होने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती; और (७) जैसे ओझाजी टाड साहब की बातों को विश्वास योग्य नहीं समझते, वैसे ही मुसलमानी तवारीखें तथा मूता नैणसी की ख्यात भी विश्वास योग्य नहीं समझी जा सकती।

समालोचना

रत्नकरण्डक श्रावकाचार—माणिकचंद्र दिगम्बर जैन ग्रंथ माला का चौबीसवाँ ग्रंथ; श्रीयुत जुगुलकिशोरजी मुख्तार की विस्तृत हिन्दी प्रस्तावना सहित; प्रकाशक—माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रंथ माला समिति; हीराबाग, पो. गिरगाँव, बंबई; मूल्य २)

यह छोटा सा ग्रंथ अपने नाम के अनुसार श्रावकों (धर्म श्रवण करनेवालों) के लिये वास्तव में रत्नों का करण्डक अर्थात् पिटारा ही है। इसके कर्ता प्रसिद्ध जैन आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी और टीकाकार श्री प्रभाचन्द्र आचार्य हैं। मूल ग्रंथ हिन्दी, मराठी और अँग्रेजी आदि भाषाओं के अनुवादों सहित पहले कई बार प्रकाशित हो चुका है; परन्तु यह संस्करण पहले के संस्करणों से अधिक महत्व का है। ग्रंथ की उपयोगिता और सम्मान इतना अधिक है कि शायद ही ऐसा कोई जैन पुस्तक भंडार हो जिसमें इसकी एक दो प्रतियाँ न मिलें। वर्तमान संस्करण संस्कृत टीका और विस्तृत हिन्दी भूमिका तथा ग्रंथकर्ता के विशेष परिचय के साथ सुन्दर बंबई टाइप में प्रकाशित हुआ है, जो जैनों तथा जैनेतर विद्वानों के लिये पढ़ने और मनन करने योग्य है। जैसे बौद्धों में बुद्ध, धर्म और संघ ये तीन रत्न माने जाते हैं, वैसे ही जैनों में भी सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र ये तीन रत्न (रत्नत्रय) कहलाते हैं। इन्हीं तीनों रत्नों के सम्बन्ध का यह ग्रंथ है और पाँच परिच्छेदों में विभक्त है।

प्रथम परिच्छेद में सम्यग्दर्शन का विवेचन बड़ी उत्तमता से किया है और उसमें यह भी बतलाया है कि—"सम्यग्दर्शन युक्त चांडाल को भी 'देवता' तुल्य समझना चाहिए" और शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव भय,

यह तो मूल ग्रंथ का बहुत ही संक्षिप्त परिचय है। मूल ग्रंथ अनुमान १५० पद्यों में पूर्ण हुआ है, जो श्रावकों के आचार सम्बन्धी ग्रंथों में सब से पुराना है। इसके कर्ता श्री समन्तभद्र कब हुए, यह अब तक ठीक ठीक निश्चय नहीं हुआ। भिन्न भिन्न विद्वान् इनका समय भिन्न भिन्न मानते हैं। तो भी यह ग्रंथ विक्रम की ७ वीं शताब्दी से पूर्व किसी समय का बना हुआ होना चाहिए। मूल ग्रंथ बहुत छोटा है, पर प्रभाचंद्र आचार्य की संस्कृत टीका उससे प्रायः ७-८ गुनी है; और प्रसंग प्रसंग पर कथाएँ लिखकर विषय का खूब स्पष्टीकरण किया गया है।

अब हम इस ग्रंथ की हिन्दी प्रस्तावना आदि का पाठकों को परिचय कराते हैं। प्रारंभ में उक्त ग्रंथमाला के संपादक प्रसिद्ध विद्वान् एवं अनेक जैन आचार्यों के ग्रंथों और समय आदि विषयों पर बड़ी खोज के साथ विस्तृत लेख लिखनेवाले श्रीयुत नाथूराम जी प्रेमी का दो पृष्ठों में निवेदन है। तत्पश्चात् ८४ पृष्ठों में मुख्तार जी का लिखा हुआ प्रस्तावना नामक निबन्ध है, जिसमें ग्रंथपरिचय, ग्रंथ पर सन्देह, ग्रन्थ के क्षेपक पद्यों की जाँच, संदिग्ध पद्य, अधिक पद्योंवाली प्रतियाँ, जाँच का सारांश, टीका और टीकाकार प्रभाचंद्र आदि का विवेचन है। इसके बाद स्वामी श्रीसमन्तभद्र के विषय में २५२ पृष्ठों का दूसरा निबंध है, जिसमें ग्रंथकर्ता के पितृकुल, गुरुकुल, गुणादि परिचय, भावी तीर्थंकरत्व, मुनि जीवन और आपत्काल, ग्रंथ का समय-निर्णय, ग्रंथकर्ता के ग्रंथों का परिचय आदि विषय हैं। इसके बाद मूल ग्रंथ टीका सहित छपा है।

एक छोटे से ग्रंथ पर ३३६ पृष्ठों में प्रस्तावना रूप में दो निबंध हिन्दी में लिखकर मुख्तारजी ने हिन्दी भाषा की तथा प्राचीन इतिहास की जो कुछ सेवा की है, उसकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। इसका महत्व और श्रम प्राचीन शोधक ही भली भाँति जान सकते हैं। जैन साहित्य

के सम्बन्ध में अब तक जितने आलोचनात्मक लेख लिखे गए हैं; उन सब में मुख्तार जी के ये दोनों निबंध अग्रस्थान पाने के योग्य हैं। प्रत्येक हिन्दीप्रेमी एवं इतिहासप्रेमी के यहाँ इस पुस्तक का होना बहुत ही आवश्यक है।

गौरीशंकर हीराचन्द ओझा
(राय बहादुर)

(१२) महाकवि मयूर

[लेखक—श्रीयुक्त पण्डित केदारनाथ एम० ए० एल० टी०, काशी ।]

भारतीय किसी प्राचीन विद्वान् महापुरुष के विषय में लिखते समय लेखक को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कोई ऐसा प्रामाणिक इतिहास अथवा आख्यान नहीं जिसमें किसी महापुरुष की जीवनी उल्लिखित हो; और न कोई ऐसा ग्रन्थ ही मिलता है जिसमें उन्होंने स्वयं अपने विषय में कुछ लिखा हो। प्राचीन विद्वान् तो मानों इस परिपाटी को जानते ही न थे; उनको अपनी प्रतिष्ठा का ध्यान भी न था। उनको इस बात की परवाह न थी कि भविष्य में हमारा नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा जाय। बस उच्च कोटि का ग्रन्थ लिखना उनका ध्येय था। ग्रन्थ के आदि या अन्त में यदि हो सका तो अपने गुरु या पिता का अथवा कहीं कहीं अपना भी नाम अंकित कर दिया। वह भी अपनी प्रतिष्ठा के लिये नहीं बल्कि अपने बड़ों की ओर कृतज्ञता प्रकाश करने के हेतु। संवत् आदि के रूप में अपना अथवा ग्रन्थ का समय लिखना तो, वे प्रायः जानते ही न थे। यत्र तत्र विद्वानों ने अपना समय उल्लिखित कर दिया; नहीं तो चुप्पी साधना ही साधारण नियम रहा। इन्हीं बातों को देखकर मैक्डानल ने अपनी "History of Sanskrit Literature" में लिखा है—"History is the one weak spot in Indian literature. It is, in fact, non-existent. The total lack of the historical sense is so characteristic, that the whole course of Sanskrit literature is darkened by the shadow of this defect, suffering as it

does from an entire absence of exact chronology...... Two causes seem to have combined to bring about this remarkable result. In the first place, early India wrote no history, because it never made any ....Secondly, the Brahmans, whose task it would naturally have been to record great deeds, had early embraced the doctrine that all actions and existence are a positive evil, and could therefore have felt but little inclination to chronicle historical events."

ऊपर दिए हुए साधनों के अभाव के कारण लेखक को किसी विद्वान् की जीवनी लिखने के लिये इधर उधर बहुत टटोलना पड़ता है। एक ही नाम के कई व्यक्ति हो जाने के कारण पता नहीं चलता कि अमुक ग्रन्थ के रचयिता के उन एक नामधारी विद्वानों में कौन सा था। बड़े कष्ट और छान बीन से यदि यह पता चल भी गया, तो उनका समय निकालना तो दुर्घट समस्या ही हो जाती है जिसका निश्चित ज्ञान प्रायः सम्भावना के रूप में ही रहा करता है। किसी दूसरे विद्वान् ने कहीं अपने पूर्व आचार्य या गुरु का नाम ले लिया अथवा कभी अपने पूर्व विद्वान् के प्रति कृतज्ञता प्रकाश के हेतु अथवा मार्मिक ज्ञाता होने के कारण प्रशंसा करने के निमित्त मुक्त कण्ठ से उनका नाम अपने ग्रन्थ में ले लिया। कभी किसी कवि ने अपने आश्रयदाता राजा की प्रशंसा करने में उस राजा के समकालीन विद्वानों का नाम भी उल्लिखित कर दिया; अथवा कभी किसी विद्वान् की प्रकर्ष विद्वत्ता दिखाते हुए उसके पराजित विद्वान् अथवा शिष्यों का नाम ले लिया। दैववशात् यदि किसी राजा ने किसी विशिष्ट विद्वान् को कोई मानपत्र या दानपत्र दिया, तो अपने और उसके पूर्वजों और पुत्र-कलत्रों का नाम दे दिया। यदि किसी राजा की विशेष कृपा और प्रेरणा हुई तो कह्लण

आदि विद्वानों ने राज-तरङ्गिणी आदि इतिहास ग्रन्थ लिखने का साहस किया।

उपर्युक्त अविरल उद्देशों को छोड़कर और कोई साधन किसी महान् व्यक्ति के विषय में लिखने का नहीं मिलता। इन उद्देशों की भी पूरी जाँच करनी पड़ती है। कितने ही ग्रन्थ किसी विशेष हेतु से ही लिखे जाते हैं। उनमें यह नहीं देखा जाता कि इतिहास की दृष्टि से सत्य घटनाओं का ही उल्लेख किया जाय। जैनियों ने अपने धर्म्म ग्रन्थों का इतना महत्व दिखाना चाहा कि विभिन्न-कालीन अपने आचार्य्यों को समकालीन ही लिखा दिया; अथवा अपने धर्म्म में पुरुषों की विशेष रुचि दिखाने के लिये दूसरे विद्वानों को भी अपने धर्म्म में मिला लिया। बल्लालसेन ने भोजदेव की इतनी प्रशंसा करनी चाही कि विभिन्न कालीन कवियों की एक बृहद् सभा की ही उनके राज्य में आयोजना कर दी। कभी कभी किसी विद्वान् को कोई विशेष इतिहास लिखने के लिये दन्तकथा का ही आश्रय लेना पड़ा; और जिसको जैसी दन्तकथा मिली, उसने वैसा ही इतिहास लिख डाला। फल यह निकला कि एक ही व्यक्ति के बारे में भिन्न भिन्न परस्पर विरुद्ध कथाएँ लिख डाली गई और अपने अपने रूप में सभी सत्य मानी जाने लगीं।

इन साधनों के अभाव और कठिनाइयों के कारण आज ऐसा समय आ गया है कि महान् व्यक्तियो का जीवन दुरूह अन्धकार में ही छिपा रह गया है। कितने ही महापुरुष अपने समय के धुरन्धर विद्वान् थे। उन्होंने बड़े बड़े कार्य्य किए थे; पर आज उनका पता लगाना असम्भव नहीं तो नितान्त कठिन तो अवश्य हो गया है। यही कठिनाइयाँ इस लेख के चरित-नायक महाकवि मयूर की जीवनी लिखने के समय भी अनुभव करनी पड़ती हैं।

शिलालेख, पत्र-लेख आदि प्रामाणिक साधनों की जाँच करने पर विदित होता है कि मयूर नाम के अनेक व्यक्ति इस भारत भूमि में हो

गए हैं। इनमें से अनेक राजा और कवि भी थे। समय के क्रम से इनका उल्लेख करना तो कठिन है; पर यथा सम्भव उनके समय, ग्रन्थ, जीवन आदि के विषय में जहाँ तक जाना गया है, वह इस प्रकार है—

(१) महाकवि मयूर कादम्बरी आदि ग्रन्थों के रचयिता बाण के समकालीन थे।*

(२) पर्यायवाचक शब्दों के समूह, पदचन्द्रिका के लेखक भी एक मयूर थे॥।

(३) मयूरपाद थेरा सिंहल द्वीप के एक लेखक थे। ये १३ वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में हुए थे †।

(४) मयूरपन्त (मोरोपन्त) १८वीं शताब्दी के मराठी लेखक थे ‡।

(५) मयूर नाम के एक राजकुमार भी नवम शताब्दी में थे। लेख में इस बात का उल्लेख है कि इस मयूर ने नन्दावह्न को हराया; परन्तु स्वयं बाउक द्वारा भूअकूप रण क्षेत्र में हराया गया। बाउक एक प्रतिहार सरदार था +।

(६) एक मयूर भट्ट लक्ष्मणगिरि के किसी ग्रन्थ के टीकाकार हैं ÷।

(७) मयूराक्षक राजा विश्व वर्म्मन् के मन्त्री थे। उन्होंने एक विष्णु का और एक दिव्य माताओं का मन्दिर बनवाया था ×।

(८) हाङ्गल के कादम्बों के तीन राजाओं को मयूर वर्म्मन् कहते हैं। ये ११ वीं और १२ वीं शताब्दी में हुए थे =।

---

* A. C. Burnell: A Classified Index to the Sanskrit Manuscripts in the Palace at Tanjore p. 48. London 1880.

† Indian Antiquary; 35; 166

‡ Buhler—Catalogue of Sanskrit Manuscripts Contained in Private Libraries of Gujerat etc.

\+ J. R. A. S. New series. Vol. 26 (1894) pp. 3 & 8.

÷ Ernst Haas, Catalogue of Sanskrit and Pali Books in the British Museum, pp. 72 & 88; London 1876.

× Corpus Inscriptionum Indicarum; Vol. 3 p 74.

= Indian Antiquary. 4 203.

(९) मयूर शर्म्मन् कादम्ब जाति के एक राजा बहुधा छठी शताब्दी के पूर्व हुए थे *।

(१०) मयूरवाह ने कल्पकारिका सार लिखा है। यह एक वेदान्त विषयक ग्रन्थ है †।

(११) मयूरध्वज नाम के एक राजा थे ‡।

(१२) मयूरेश्वर खण्ड भट्ट के पिता थे +।

(१३) मयूर वाचस्पति को वाचस्पति मिश्र भी कहा गया है + ।

(१४) मयूरपोषक चन्द्रगुप्त के पिता थे ×।

ऊपर दिए हुए अनेक मयूरों में से कितने ही राजा या मन्त्री हैं। कुछ का कोई विशेष परिज्ञान ज्ञात नहीं है। इन मयूरों में से पहले चार कवि थे। पहले सूर्य शतक के रचयिता, दूसरे पदचन्द्रिका के लेखक, तीसरे सिंहल द्वीप के मयूर पाद थेरा और चौथे १८ वीं शताब्दी के मयूरपन्त या मोरोपन्त हैं। इनमें से अन्तिम तीन प्रस्तुत लेख के विषय नहीं हैं। यह सम्भव है कि पद चन्द्रिका के लेखक सूर्य शतक के रचयिता महाकवि मयूर ही हों; पर बर्नेल ने अपने इण्डेक्स में पदचन्द्रिका के लेखक को सूर्यशतक के रचयिता से भिन्न कहा है। भेद का कारण स्पष्ट नहीं है। बर्नेल ने पदचन्द्रिका के आरम्भ में ग्रन्थ का आदि और अन्त दे दिया है। उसमें सूर्य के पर्यायवाचक शब्द अधिक मिलने के कारण बहुत सम्भव है कि सूर्य शतक के रचयिता ही पदचन्द्रिका के भी लेखक हों।

---

* Epigraphica Indica, Vol 8. pp. 28-31

† Kavyatirthe and Sastri—Catalogue of Printed Books and Manuscripts in Sanskrit belonging to the *Oriental Library* of the Asiatic Society of Bengal, pp. 37 and 121.

‡ J. R. A. S Vol. 69; p. 78.

\+ Aufrecht; Catalogue Vol. 1, pp 432-33.

× Monier-Williams; Sanskrit-English Dictionary; S V. Mayura.

मयूर पाद थेरा सिंहल द्वीप के एक लेखक हैं। इन्होंने पूजावलिय और योगार्णव दो ग्रन्थ लिखे हैं। इनका जन्म काल १३ वीं शताब्दी का पूर्व भाग है; इसी कारण ये प्रस्तुत लेख के कवि मयूर से भिन्न ही प्रतीत होते हैं।

चौथे कवि मयूर एक मराठी लेखक हैं। उनका जन्म काल १८ वीं शताब्दी है। उनके नाम के दो ग्रन्थ केकावलि और आर्या मुक्त-माला * मिलते हैं। आर्या मुक्तकमाला की एक प्रति इण्डिया आफिस के पुस्तकालय में है। उसमें यह ग्रन्थ एक रामनन्दन मयूर के नाम से लिखा है। इसी नाम-सादृश्य से ब्यूलर को यह सन्देह हुआ कि यह ग्रन्थ भी सूर्य-शतक के रचयिता महाकवि 'मयूर' ने लिखा है। पर उस प्रति के देखने से ज्ञात हुआ है कि लेखक १८ वीं शताब्दी (१७२९–१७९४) के एक मराठी लेखक हैं और उन्होंने मराठी तथा संस्कृत में भी अपने ग्रन्थ लिखे हैं †। उनका असली नाम रामनन्दन मोरोपंत है। शुद्ध संस्कृत में लिखने पर मोरो का मयूर हो जाता है। नाम सादृश्य से ही बहुधा यह भूल ब्यूलर से हो गई है; अन्यथा और कोई उपयुक्त प्रमाण इसकी पुष्टि में नहीं मिलता।

विलियम टेलर ने अपनी सूची में मयूर के नाम से एक शब्दनिद्रार्थ चन्द्रिका नाम की एक टीका भी दी है ‡। यह धनंजय के किसी ग्रन्थ की टीका प्रतीत होती है। दशरूपककार धनंजय नवम शताब्दी में हुए थे; और टेलर की सूची कई कारणों से एक शुद्ध सूची नहीं है। यह अन्देहयुक्त ही है कि मयूर ने यह टीका लिखी हो।

---

* Buhler: Catalogue of Sanskrit Mss. contained in Private Libraries of Gujerat etc

† Grierson: Linguistic Survey of India; Vol. 7. p. 14; Cal. 1905.

‡ W. Taylor: Catalogue Raisonne of Oriental Mss. in the Government Library; Vol 2. p. 131 No 562; Madras 1860.

प्रसिद्ध बाण नामधारी वामन भट्ट बाण, जिन्होंने बाण के हर्षचरित की शैली पर वीर नारायण चरित सोलहवीं शताब्दी में लिखा था, मयूर की कीर्त्ति इस प्रकार गाते हैं—

"प्रतिकवि भेदनबाणः कवितातरुगहन विहरणमयूरः ।
सहृदयलोकसुबन्धुर्जयति श्री भट्टबाण कविराजः ॥"*

"कवियों में श्रेष्ठ भट्टबाण का जयजयकार है जिनके बाण (तीर और बाण कवि) दूसरे कवियों के भेदन करने में समर्थ हैं, जिनके मयूर (मोर और मयूर कवि) कविता रूपी गहन वृक्ष में विहार करनेवाले हैं, जिनके सुबन्धु (अच्छे बन्धु और सुबन्धु कवि) सहृदय जन हैं; अर्थात् कवि बाण की सहायता से प्रत्येक कवि को परास्त कर सकता है, मयूर की सहायता से कविता के गहन विषयों में प्रवेश कर सकता है और सुबन्धु की सहायता से जिसके शब्द सरस हो जाते हैं और सब लोग सहृदय हो जाते हैं।

त्रिलोचन का कहना है कि तभी तक संसार में और कवि रूपी विहंगों (चिड़ियों) की ध्वनि सुनाई देती है जब तक मयूर की मधुर ध्वनि कानों में नहीं पहुँचती। अर्थात् मयूर की मधुर कविता सुनने पर और सब कविताएँ नीरस प्रतीत होती हैं। पद्य इस प्रकार है—

"तावत्कविविहङ्गानां ध्वनिर्लोकेषु शस्यते ।
यावन्नोविशति श्रोत्रे मयूर मधुर ध्वनिः ॥†

उपर्युक्त प्रशंसा-सूचक पद्यों से विदित होता है कि महाकवि मयूर अपने समय के कोई साधारण पुरुष नहीं थे। वे सर्वमान्य कवि थे। उन्होंने सर्वत्र उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। बड़े बड़े महाकवियों के साथ उनका नामोल्लेख हुआ है और अपनी कवित्व शक्ति में वे कभी किसी से कम नहीं थे। इसी कारण यह प्रमाणित होता है कि अवश्य इनका

---

* भट्ट बाण का वीरनारायण-चरित।

† सुभाषित रत्न भाण्डागारम्। पृ. ५१. श्लोक. ३४.

आविर्भाव ऐसे समय और स्थान में हुआ होगा, जब और जहाँ इनकी बुद्धि का विकास पूर्णतया हो सका और इनको बराबर अवसर मिलता गया, जिससे ये अपनी शक्ति पूरी तरह से काम में ला सके।

समय

ऊपर दिखाए हुए अनेक मयूरों के होते हुए भी सूर्यशतक के रचयिता महाकवि मयूर का समय निकालना नितान्त कठिन है। सूर्यशतक के टीकाकार भट्टयज्ञेश्वर * और भक्तामरस्तोत्र के एक टीकाकार † लिखते हैं कि मयूर धारा नगरी के राजा भोज की सभा के एक पण्डित थे। पर यह बात निर्मूल प्रतीत होती है। यह सिद्ध हो गया है कि राजा भोज सन् १११०–११५० ‡ के लगभग धारा या उज्जयिनी में राज्य करते थे, और इस रीति से मयूर का भी समय द्वादश शताब्दी ही निर्णीत हुआ प्रतीत होता है। पर मयूर का नाम और उनके अनेक पद्य इसके पहले की शताब्दियों में अनेक स्थलों पर मिलते हुए दिखाई देते हैं। नवम शताब्दी × के आनन्दवर्धनाचार्य्य अपने सर्व-प्रसिद्ध ग्रन्थ ध्वन्यालोक + में श्लेषालङ्कार और व्यतिरेकालङ्कार मयूर के सूर्यशतक से ही देते हैं। एवं नवम शताब्दी के राजशेखर ने महाकवि मयूर का गुणगान अपने एक श्लोक इस में प्रकार किया है—

"दर्पं कवि भुजङ्गानां गता श्रवणगोचरम्।
विषविद्येव मायूरी मायूरी वाङ्निकृन्तति॥"

"जिस प्रकार मयूर की विषविद्या सुनने पर सर्पों का अहङ्कार दूर होता है, उसी प्रकार मयूर की कविता सुनने पर अन्य कवियों का अहङ्कार छिन्न भिन्न हो जाता है।"

---

* आगे देखिए, कुष्ठ रोग की कथा नं. २.

† आगे देखिए, कुष्ठ रोग की कथा नं० १

‡ Imperial Gazeteer. Vol. II p 311

× G. A Jacob J R As Vol 29 (1897) p. 289.

+ Kavyamala—Dhvanya loke pp 99 and 92.

उपर्युक्त दो प्रमाणों से सिद्ध होता है कि मयूर नवम शताब्दी के पूर्व अवश्य रहे होंगे और अपनी कीर्त्ति बड़े बड़े महाकवियों और विद्वानों के भी हृदय में व्याप्त कराने के लिये उनको हुए कुछ अधिक समय अवश्य व्यतीत हो गया होगा।

दूसरी ओर यह देखा जाता है कि मयूर का नाम तीन और विद्वानों के नामों के साथ अनेक स्थलों पर मिलता है। प्रभावक चरित, प्रबन्ध चिन्तामणि आदि जैनियों के लिखे ग्रन्थों में मयूर और बाण के नाम के साथ मानतुङ्ग सूरि की भी कथा मिलती है; और इससे यह प्रमाणित हो सकता है कि मानतुङ्ग सूरि मयूर के समकालीन थे; और जिस समय उनका विकास इस पृथ्वी मण्डल पर हुआ था, उस समय मयूर ने भी पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी। पर मानतुङ्ग सूरि के काल का निर्णय इतना विवादग्रस्त विषय हो गया है कि इनके समय का ठीक ठीक पता चलाना नितान्त कठिन हो गया है।

मानतुङ्ग जैनों के प्रसिद्ध आचार्य थे। इन्होंने भक्तामर स्तोत्र और भयहर स्तोत्र की रचना की थी। इनके स्तोत्रों का प्रभाव इतना जबरदस्त था कि केवल स्तुति के बल से ही ये सुदृढ़ निगड़ बन्धन से मुक्त हो गए। इनके विषय में भिन्न भिन्न विद्वानों ने भिन्न भिन्न रीति से काल-निर्णय करने की चेष्टा की है।

(१) भाऊदाजी ने सात स्थिरावलियों अर्थात् जैनवंशावलियों की परीक्षा करके इस बात का अनुमान किया है कि मानतुङ्ग ईसा की तीसरी शताब्दी में थे; पर प्रभावक चरित में मयूर और बाण को समकालीन देखकर इनका काल *सातवीं शताब्दी ही स्थिर किया गया है* *।

(२) जैनियों की तपागच्छ मत की पट्टावलि के अनुसार, जिसमें

---

* J. B. R. A. S. (1861) ph. 24;222-223.

प्रभावक चरित से ही कथा ली गई है, श्रीमानतुङ्ग, मयूर और बाण के समकालीन माने गए हैं; पर उसी में यह भी लिखा है कि वे मालवाधीश चालुक्य वयरसिंह देव के मन्त्री थे। वे लिखते हैं—"मालवेश्वर चालुक्य वयरसिंह देवामात्यः" *।

अब वयरसिंह मालवा के परमार राजा वैरिसिंह प्रथम या द्वितीय ही प्रतीत होते हैं, जिनका समय सन् ८२५ से ९५० है † और इस प्रकार श्री मानतुङ्ग नवम या दशम शताब्दी में आ जाते हैं।

(३) कुछ स्थिरावलियों के अनुसार श्रीमानतुङ्ग का समय जैन धर्म्म के संस्थापक श्री महावीर से, जिनका समय लगभग ईसा से ५२७ वर्ष पूर्व अनुमान किया गया है, २० वीं या २३ वीं ‡ पीढ़ी में प्रतीत होता है।

(४) श्रीमानतुङ्ग ने भक्तामर स्तोत्र संस्कृत में लिखा है। जैन मतावलम्बी अपने ग्रन्थ ईसा के लगभग १००० वर्ष बाद तक महाराष्ट्री प्राकृत में ही लिखा करते थे। इससे यह अनुमान होता है कि भक्तामर स्तोत्र १००० ईस्वी के अनन्तर लिखा गया होगा।

उपर्युक्त विचारों से श्री मानतुङ्ग का ठीक ठीक समय नहीं स्थिर किया जा सकता; पर भाऊदाजी के अनुसार श्रीमानतुङ्ग का काल तीसरी शताब्दी स्थिर होने पर मयूर का भी वही समय स्थिर हो सकता है। पर मानतुङ्ग का काल-निर्णय इतना सन्देह-ग्रस्त है कि उसी के आधार पर मयूर का समय ठीक करना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता।

मयूर के समकालीन दूसरे और विद्वान् व्यक्ति का नाम राजशेखर ने भी उल्लिखित किया है। वे लिखते हैं—

---

* Indian Antiquary Vol. II p. 252.

† Duff, Chronology p. 300.

‡ Indian Antiquary Vol. II. pp. 247, 252.

सकता। पर बाण और मयूर का नाम ऊपर के पद्य में और अन्यत्र एक साथ ही आना इस बात का पर्य्याप्त प्रमाण है कि बाण का समय ही मयूर का समय है।

हर्षचरित से विदित होता है कि बाण महाकवि मयूर को अपने लड़कपन का साथी जांगलिक मायूरक कहते हैं *।

जाङ्गलिक का अर्थ शङ्कर ने अपनी हर्षचरित की टीका में गारुड़िक अथवा विषवैद्य दिया है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि मयूर विष के प्रयोग में बड़े निपुण थे और सर्प आदि जहरीले जन्तुओं के काटने पर मरे हुए लोगों को तुरन्त जीवित कर देते थे।

प्रोफेसर ब्यूलर † को इस बात का सन्देह है कि मयूर और मायूरक एक ही व्यक्ति हैं और जाङ्गलिक मायूरक कवि मयूर हो सकते हैं। पर इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि एक ही व्यक्ति विषवैद्य और कवि नहीं हो सकते। प्रोफेसर मैक्समूलर ‡ और पेटर्सन × का कहना है कि कवि मयूर ही जाङ्गलिक मायूरक थे। उपर्युक्त नवम शताब्दी के "दर्पं कवि भुजङ्गानां" इत्यादि श्लोक से भी यह दृढ़तर सिद्ध हो जाता है कि मयूर ही विषवैद्य और कवि दोनों थे।

बाण का समय सर्ववादि-सिद्ध है कि वे थानेश्वर के हर्षवर्धन के समकालीन और उनकी सभा के पण्डित थे। विन्सेण्ट स्मिथ ने अपने इतिहास में हर्षवर्धन का समय सन् ६०६-६४८ + दिया है; और इसलिये बाण और मयूर का भी यही समय सिद्ध होता है।

मयूर की जन्मभूमि और उनका पूर्व जीवन

मयूर की जन्मभूमि और पूर्व जीवन के वृत्तान्त के सम्बन्ध में अभी

---

* हर्ष चरित; जीवानन्द; प्रथम उच्छ्वास; पृ० ६१।

† KackanBos: The Sanskrit Poems of Mayura. p. 4.

‡ India: What can it teach us. p. 329.

× Subhashitavali of Ballabhdeva—Intrd. p. 86.

+ Imperial Gazeteer; Vol. II. p. 295

तक कोई प्रमाण नहीं मिला है। हर्षचरित में केवल इस बात का प्रमाण मिलता है कि वे जाङ्गलिक अथवा विषवैद्य थे। इसके अनन्तर मयूर की प्रसिद्ध कविताएँ अनेक स्थलों पर मिलती हैं।

सूर्यशतक के टीकाकार मधुसूदन, जिनकी सत्ता ब्यूलर १६५४ ईस्वी के लगभग लिखते हैं, अपनी भावबोधिनी टीका में श्रीहर्ष और उनके कवियों के बारे में इस प्रकार लिखते हैं—

"अथ विद्वद्वृन्दविनोदाय श्रीमद्वृद्धवदनाद्विदितः श्रीसूर्यशतकप्रादुर्भावप्रसङ्गस्तावत्प्रोच्यते। स यथा। मालवराजस्योज्जयिनीराजधानीकस्य कविजनमूर्धन्यस्य रत्नावल्याख्यनाटिकाकर्त्तुः महाराज श्रीहर्षस्य सभ्यौ महाकवी पौरस्त्यौ बाणमयूरावास्ताम्। तयोर्मध्ये मयूरभट्टः श्वशुरो बाणभट्टः कादम्बरीग्रन्थकर्त्ता तस्य जामाता। तयोः कवित्वप्रसङ्गे परस्परं स्पर्धाऽसीत्। बाणस्तु पूर्वमेव कदाचिद् राजसमीपे समागतो राज्ञा महत्या सम्भावनया स्वनिकटे स्थापितः कुटुम्बेन सहोज्जयिन्यां स्थितः। कियत्स्वपि दिवसेष्वतीतेषु कवित्वप्रसङ्गे तत्पद्यानि श्रुत्वा मयूरभट्टो राज्ञा स्वदेशादाकारितः इत्यादि।"*

उपर्युक्त प्रसङ्ग से यह बात सिद्ध होती है कि बाण और मयूर श्रीहर्ष की सभा के पण्डित थे। उन दोनों में परस्पर स्पर्धा थी। बाण ससुर और मयूर जामाता थे। इनमें बाण पूर्व ही से इनकी सभा के पण्डित थे; और मयूर के पद्य किसी समय कवि मण्डल में सुनकर राजा ने उनको उनके देश से अपनी सभा में बुलाया था। इसी के अनन्तर बहुधा वे भी श्रीहर्ष की सभा के एक पण्डित हो गए।

सूर्यशतक के दूसरे टीकाकार जगन्नाथ, जो बहुधा १७ वीं शताब्दी के जगन्नाथ पण्डितराज ही थे, अपनी टीका में इस बात का दिग्दर्शन करते हैं कि तपस्या से कृश मयूर ने वाराणसी (काशी) में शास्त्र

* मयूर की संस्कृत कवितायें; क्वैकेनबोस, पृ० ७–८.

और काल के शास्त्रार्थ के समय सब को परास्त किया था और पहला पुरस्कार प्राप्त किया था। इस शास्त्रार्थ में अनेक राजाओं के राज-पण्डित सम्मिलित हुए थे। उद्धारण इस प्रकार है—

"पुरा किल शरच्चन्द्रखण्डमण्डितकपालकपालितारकब्रह्मदान वारितचेत्रक्षीणकलेवरो वाराणस्यामशेषशास्त्रविचारसंग्रामवेदवेदान्तादि विद्यावित्तवेतनग्रहीकृतान्तेवासिभटजिताशेषब्रह्माण्डभाण्डोदर .... मुण्डमण्डनविद्वद्गणवैरी रीतित्रयान्वितकवितात्याजित कविराजराजि-काव्यप्रजातगर्व.तपःखर्वीकृताशेषतपोधनो महामहोपाध्यायः श्रीमन्मयूर-भट्टः।"

सूर्यशतक के तीसरे टीकाकार जयमङ्गल का कहना है कि मयूर सभा में सरस्वती के अवतार ही थे। इनके मुख कमल से निकली कविता रूपी सरस्वती सभा में उसी प्रकार लोगों को प्रसन्न करती थी, जिस प्रकार एक नर्तकी प्रसन्न करता है। उनका कहना है—

"भक्तमयूरवक्त्राब्ज पदविन्यासशालिनी।
नर्तकीव नरीनर्त्ति सभा मध्ये सरस्वती॥"

मयूर के सम्बन्धी

मयूरऔर बाण के परस्पर सम्बन्ध के विषय मे अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। ऊपर दी हुई मधुसूदन की टीका से यह बात सिद्ध होती है कि बाण ससुर और मयूर जामाता थे। पर सूर्यशतक के टीकाकार भट्ट यज्ञेश्वर और प्रबन्ध-चिन्तामणि के रचयिता मेरुतुङ्गाचार्य्य बाण और मयूर के सम्बन्ध के विषय में दो परस्पर विरुद्ध कथाएँ लिखते हैं। भट्ट यज्ञेश्वर लिखते हैं—"पुराकिल श्री विक्रमार्क समयादष्ट सप्तत्युत्तर सहस्र सम्मितेषु १०७८ संवत्सरेषु व्यतीतेषु संप्राप्तोदयस्य श्रीमद्भोज-राजस्य सभासद्रत्न दीपो महाकविर्मयूरो धारानगरीमधिवसतिस्म। तस्य

"दुर्वाराः स्मरमार्गणाः प्रियतमो दूरो मनोऽप्युत्सुकम् ।
गाढं प्रेम नवं वयोऽतिकठिनाः प्राणाः कुलं निर्मलम् ॥
स्त्रीत्वं धैर्यविरोधि मन्मथसुहृत् कालः कृतान्तोऽक्षमी ।
सोढव्याः सखि साम्प्रतम् कथममी सर्वेऽग्नयो दुःसहाः ॥"

इस पद्य के समय के विषय में, जिसका रचयिता मयूर का पुत्र कहा जाता है, इतना ही कहा जा सकता है कि यह पद्य काव्यप्रकाश में उद्धृत किया गया है और इसलिये सन् १०५०-११०० के पूर्व ही का होगा। यह ध्यान रखना चाहिए कि शंकु नाम के दो और कवि हो गए हैं जो बहुधा इस पद्य के निर्माता हो सकते हैं। इनमें से एक का वर्णन राजतरङ्गिणी * में आया है। ये भुवनाभ्युदय नामक एक कविता के रचयिता हैं। इनका समय जेकब ने सन् ८१६ ईसी रखा है† और इसलिये यह शंकु, मयूर के पुत्र नहीं हो सकते। सुभाषितावलि‡ में इस पद्य के साथ साथ और अनेक पद्य इनके नाम से कहे गए हैं। शार्ङ्गधर की पद्धति में एक पद्य इनके नाम से दिया है और काव्यप्रकाशकार ने इनको एक आलङ्कारिक माना है ×।

एक तीसरे शंकु भी कवि थे जिनका नाम ज्योतिर्विदाभरण + में आया है। ये विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में से एक थे। यह पद्य इस प्रकार है—

धन्वन्तरिः क्षपणकोऽमरसिंह शंकु-
वेतालभट्टघटकर्परकालिदासाः ।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां
रत्नानि वै वररुचि. नव विक्रमस्य ॥

---

* दुर्गाप्रसाद द्वारा सम्पादित कल्हण की राजतरङ्गिणी, ४. ७०५.

† जे० आर० ए० एस० सन् १८९७, पृ० २८७.

‡ पिटर्सन की सुभाषितावलि, पृ० १२७.

× झलकीकर का काव्यप्रकाश, चतुर्थ संस्करण, पृ० ६८६.

+ ज्योतिर्विदाभरण (२२, ८, १०, १८)

मयूर के पुत्र नवम शताब्दी में या विक्रमादित्य के समय में नहीं रखे जा सकते। यदि "दुर्वाराः" आदि पद्य के निर्म्माता मयूर के पुत्र हों, तो वे उपर्युक्त दोनों नहीं हो सकते। इस समय तक जितना ज्ञान प्राप्त है, उससे इस विषय में कोई निश्चय नहीं किया जा सकता।

मयूर के धार्मिक विचार

उपर्युक्त प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि मयूर श्री हर्षवर्धन के समकालीन और उनकी सभा के पण्डित थे। हुएनसङ्ग के अनुसार, जो भारत में सन् ६२९–६४५ तक रहे थे, हर्षवर्धन के समय में भारत में तीन धर्म्म अथवा मत प्रचलित थे। प्रयाग की बड़ी धार्मिक सभा में पहले दिन बौद्ध धर्म्म के आचार्य्य बुद्ध की मूर्त्ति बनी थी और उनका पूजन हुआ था। दूसरे दिन सूर्य्य का पूजन और तीसरे दिन महादेव का पूजन हुआ था *। इससे विदित होता है कि तीन हर्षवर्धन के समय में प्रधान मत थे। अब प्रश्न यह होता है कि मयूर किस मत के अवलम्बी थे। यह सिद्ध है कि मयूर ने सूर्यशतक लिखा; और इससे स्पष्ट है कि मयूर सूर्य भगवान् के उपासक थे और वही उनके इष्ट देवता थे।

मयूर के विषय में उपर्युक्त प्रसिद्धि के होते हुए भी क्वेकनबास † का कहना है कि मयूर जैन मतावलम्बी थे। इस बात का पता नहीं लगता कि किस प्रमाण के आधार पर मयूर के विषय में यह बात कही गई है। *जैन पट्टावलि में भी स्पष्ट कहा है—"मानतुङ्ग ने राजा को,* जो मयूर और बाण द्वारा बहकाए जाते थे, अपने धर्म्म की दीक्षा दी।" ‡ एक ही प्रमाण के आधार पर किसी को मयूर के जैनी होने

---

* वाटर्स ह्वेनसांग, जिल्द १, पृ. [illegible]

† क्वेकनबास [illegible], पृ. [illegible]

‡ [illegible]

का भ्रम हो सकता है। पर सोमदेव नामक एक जैनी ने, जो लगभग सन् ९५९ ईस्वी में हुए थे, अपने यशस्तिलक में लिखा है—

"उर्वभारविभवभूतिभर्तृहरिभर्तृमेण्ठकण्ठगुणाढ्यव्यासभासवोस कालिदासबाणमयूरनारायणकुमारमाघराजशेखरमहाकविकाव्येषु तत्र-तत्रावसरे भरतप्रणिते काव्याध्याये सर्वजनप्रसिद्धेषु तेषु तेषूपाख्या-नेषु च कथं तद्विषया महती प्रसिद्धिः।"*

"अर्थात् उर्व, भारवि, भवभूति, भर्तृहरि, भर्तृमेण्ठ, कण्ठ, गुणाढ्य, व्यास, भास, वोस, कालिदास, बाण, मयूर, नारायण, कुमार, माघ, राजशेखर आदि महाकवियों के ग्रन्थों में कहीं कहीं जहाँ आवश्यक हुआ है और भरत के लिखे काव्य के अध्याय में और सब जनों में प्रसिद्ध भिन्न भिन्न कथाओं में इस सम्बन्ध की बड़ी प्रसिद्धि है।"

इस लेख में भी कहीं यह नहीं लिखा है कि भारवि, भवभूति, मयूर आदि जैनी थे; केवल उनके ग्रन्थों में कहीं कहीं जैन धर्म की प्रसिद्धि का वर्णन किया गया है। एवं यह अच्छी तरह विदित है कि भर्तृहरि, गुणाढ्य, कालिदास, राजशेखर आदि कट्टर ब्राह्मण थे। इस ग्रन्थ में यह लिखने का विशेष कारण यह है कि यशोधर के जैन मत ग्रहण करने पर उनकी माता ने बड़ा विरोध किया; और इसी लिये कोई जैनी उनको समझाने और बहकाने के लिये इतने कवियों का नाम ले रहा है। वस्तुतः यह ग्रन्थ एक जैनी द्वारा लिखा जाने के कारण यद्यपि प्रमाण-भूत नहीं माना जा सकता। जब तक कोई पर्याप्त प्रमाण नहीं मिलता, तब तक पटिंघासन का ऐसा कहना दुस्साहस मात्र है।

बाण और मयूर की प्रतिद्वन्द्विता

यह बात पूर्व ही गई है कि श्रीहर्ष की सभा में बाण पण्डित थे। मयूर की कविता किसी कवि मण्डल में सुनकर श्रीहर्ष को उनको

---

* काव्यमाला में छपा यशस्तिलक, जिल्द २. पृ १११.

प्रारम्भ होती है कि देवतागण मनुष्यों को बौद्ध धर्म्म ग्रहण करते हुए देखकर महादेव के पास गए। उन्होंने ने श्री शङ्कराचार्य्य का अवतार ग्रहण किया और समस्त भारतवर्ष में भ्रमण करके बौद्ध धर्म्म का नाश किया। इन जीते हुए लोगों में बाण और मयूर का भी नाम आता है। पद्य इस प्रकार है—

"स कथाभिरवन्तिषु प्रसिद्धान्
विबुधान् बाणमयूरदण्डिमुख्यान्।
शिथिलीकृतदुर्मताभिमानान्
निजभाष्य श्रवणोत्सुकांश्चकार ॥*

इस पद्य से यह बात सिद्ध हुई प्रतीत होती है कि श्री शङ्कराचार्य्य ने बाण, मयूर दण्डि आदि को बौद्ध धर्म में परास्त किया था।

इस पद्य पर काशीनाथ त्र्यम्बक तैलङ्ग का कहना है कि "बाण मयूर दण्डि दार्शनिक प्रसिद्ध नहीं हैं" और "इसलिये इनको न परास्त किया होगा"†। पर केवल इतना ही कहना पर्य्याप्त नहीं है। ब्यूलर का कहना है कि माधवाचार्य्य का शङ्करविजय ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं लिखा गया था। यह ग्रन्थ भी शङ्कराचार्य्य की केवल दिगन्त कीर्ति का वर्णन करता है; और इसलिये इसमें की सभी घटनाएँ सत्य नहीं हैं। इस घटना के सत्य न होने का दूसरा कारण यह है कि बाण और मयूर का समय सातवीं शताब्दी का पूर्व भाग है और श्री शङ्कराचार्य्य जी का समय आठवीं शताब्दी का अन्तिम भाग और नवम शताब्दी का पूर्व भाग है‡। इसलिये आठवीं नवीं शताब्दी के श्री शङ्कराचार्य्य जी सातवीं शताब्दी के बाण और मयूर को परास्त नहीं कर सकते।

उपर्युक्त समालोचना के होते हुए भी यह मान लेने में कोई आपत्ति

---

* ऑफ्रेट का कैटलोगस कोडिकं संस्कृत विबलिओथिसी, पृ. २५८.
† तैलङ्ग; न्याय कुसुमाञ्जलि का समय, इंडियन ऐण्टिक्वेरी; १८७२; पृ. २६६.
‡ के. बी. पाठक, शङ्कराचार्य्य का समय, इंडियन ऐण्टिक्वेरी (१८८२) पृ. १७५.

नहीं प्रतीत होती कि बाण और मयूर कुछ दार्शनिक भी अवश्य प्रसिद्ध थे। दार्शनिक होने के कारण ही श्री माधवाचार्य्य ने उनका श्री शङ्कराचार्य्य द्वारा परास्त होना लिखा है। असत्य घटना भी एक दम निर्मूल नहीं कही जा सकती।

ऊपर यह दिखाया गया है कि मयूर का दार्शनिक भावों में परास्त किया जाना जैन ग्रन्थों से भी प्रमाणित होता है। श्री चन्द्रप्रभ सूरि के लिखे हुए प्रभावकचरित में, जो लगभग सन् १२५० ईस्वी में लिखा गया होगा, श्री मानतुङ्गसूरि की कथा मिलती है। जब श्रीहर्ष की सभा के दो पण्डितों, मयूर और बाण, ने अपने अपने अध्यात्म बल से सूर्य और चण्डी की स्तुति करके अपना अपना कुष्ठ रोग और हाथ पैर ठीक कर लिए, तब—

"प्राह मन्त्री यदि स्वामी शृणोति प्रोच्यते तवः ॥
जैनः श्वेताम्बराचार्य्यो मानतुङ्गाभिधः सुधी।
महाप्रभावसंम्पन्नो विद्यते तावके पुरे ॥
चेत्कुतूहलमत्रास्ति तदाहूयत तं गुरुम्।
चित्ते वो यादृशं कार्य्यं तादृशं पूर्यते तथा ॥
इत्याकर्ण्य नृपः प्राह तं सत्पात्रं समानय ।*

अर्थात्—"मन्त्री ने कहा कि यदि महाराज सुनते हों तो कहते हैं कि आपके नगर में श्वेताम्बराचार्य्य मानतुङ्ग नाम का बड़ा तेजस्वी जैन विद्वान् रहता है। यदि इच्छा हो तो उस गुरु को बुलाया जाय। आपके चित्त में जैसा कार्य्य उत्पन्न होगा, वैसी ही उसकी पूर्त्ति होगी। इतना सुनकर राजा ने कहा कि उस सत्पात्र को ले आओ।"

जैन विद्वान् श्रीमानतुङ्ग के आने पर राजा ने प्रार्थना की—

---

* निर्णयसागर में छपा प्रभावकचरित; पृ. १८८, श्लोक १२४-२६.

"नृपः प्राह द्विजन्मानः कीदृक् सविशयाः चितौ ॥
एकेन सूर्यमाराध्य स्वांगाद्रोगो वियोजितः ।
अपरश्चण्डिकासेवावशाच्छेमे करक्रमौ ॥
भवतामपि शक्तिश्चेत्काप्यस्ति यतिनायकाः ।
तदा कश्चिच्चमत्कारं पूज्या दर्शयताधुना ॥
इत्याकर्ण्याथि ये प्राहुर्न गृहस्थावयं नृप ।
धनधान्य गृह क्षेत्र कलत्रापत्यहेतवे ॥
राजरंजन विद्याभिर्लोकाक्षेपादिकाक्रिया ।
यद्विदध्मः परं कार्य्यं शासनोत्कर्ष एव नः ॥
इत्युक्ते प्राह भूपाजो निगडैरेष यंत्र्यताम् ।
आपादमस्तकं ध्वान्ते निवेश्य प्रवदन्निति ॥
ततोऽपवरके राजपुरुषैः पुरुषैस्सदा ।
निगडैश्च चतुश्चत्वारिंशत्संख्यैरयोमयैः ॥*

× × ×

× × ×

वृत्तं भक्तामर इति प्रत्यं प्राहैकमानसः ।
अदृत्त्यं निगडं तत्र त्रुटित्वापैतितत्क्षणात् ॥
प्राक्संख्यया चवृत्तेषु भणितेष्वद्रुतं ततः ।
श्रीमानतुङ्गसूरिश्च मुत्कलोमुत्कलोऽभवत् ॥
स्वयमुद्घटिते द्वारयंत्रे संयमसंयतः ।
सदानुच्छृंखलः श्रीमानुच्छृंखल वपुर्वभौ ॥
अंसः संसदमागत्य धर्म लाभंनृपं ददौ ॥†

× × ×

× × ×

* निर्णयसागर में छपा प्रभावकचरित, पृ. १८८; श्लोक १३२–३८.

† निर्णयसागर में छपा प्रभावकचरित; पृ. १८६; श्लोक १४०–४२.

परं श्रीमन् गुणाम्भोधे प्रशीधि वसुधामियाम् ।
जैनधर्मं हताक्षेम परीक्ष्य परिपालय ॥
अथोवोचन्महीपालः पांथो जैनादते पथि ।
अदर्शनादियत्कालं पूज्यानां वंचिता वयम् ॥
अहो मयामलेमोऽभूद् ब्राह्मणा एव सत्फलाः ।
देवान्संतोष्य यैः स्वीयो दर्शितः प्रत्ययोमम ॥
विवदाना महंकारारान्नैतावुपरतौ क्वचित् ।
दर्पायैव न बोधाय या विद्या सा मतिभ्रमः ॥
येषां प्रभावः सर्वातिशायी प्रशमईदृशः ।
सन्तोऽत्र तदाल्यातो धर्मः शुद्धः परीक्षया ॥
तन्मया भवतामेवोपदेशः संविधीयते ।
अतः परं कटुद्रव्यं त्यक्त्वा स्वाद्यं हिगृह्यते ॥"*

उपर्युक्त जैन कथा से यह बात सिद्ध होती है कि श्रीहर्ष को श्री मानतुङ्ग का भक्तामर स्तोत्र द्वारा निगड़ बन्धन से मुक्त हो जाना मयूर और बाण के सूर्यशतक और चण्डीशतक द्वारा मुक्त हो जाने की अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर प्रतीत हुआ। मयूर और बाण को अहंकार था। वे परस्पर विवाद करते थे। पर श्री मानतुङ्गाचार्य्य परम सन्तोषी थे। इसी से श्रीहर्ष ने श्री मानतुङ्ग का उपदेश ग्रहण किया और बहुधा जैन धर्म्म स्वीकार कर लिया।

मयूर के कुष्ठ रोग की कथाएँ

मयूर के कुष्ठ रोग का वर्णन विशेष करके जैनियों की कथाओं में और काव्यप्रकाश की टीकाओं में मिलता है। कथाएँ परस्पर बहुत बातों में भिन्न हैं और कहीं कहीं कथाओं का कोई भाग एक दूसरे से नहीं मिलता। अनेक कथाओं में कम से कम इस बात की समानता

---

* निर्णयसागर में छपा प्रभावकचरित, पृ. १८१; श्लोक १४८-२१.

अवश्य है कि एक कवि अपने सम्बन्धी दूसरे कवि के घर पर रात्रि के समय गया। दूसरा कवि अपनी स्त्री का मान भंग कर रहा था और उसी सम्बन्ध में एक श्लोक के तीन चरण उसने बनाए थे। चौथा चरण बनाने को ही था कि पहले कवि ने चौथे चरण की पूर्ति कर दी। दूसरे कवि के पारस्परिक रस में भंग हो गया और स्त्री ने तुरन्त शाप दिया कि तुम कोढ़ी हो जाओ। पहला कवि कोढ़ी हो गया और इसी रोग से निवृत्त होने के लिये उसने सूर्य की स्तुति सौ श्लोकों में की और सूर्यशतक का निर्माण किया।

(१) भक्तामरस्तोत्र के एक टीकाकार और सूर्यशतक के टीकाकार भट्ट यज्ञेश्वर ने मयूर को भोज राजा का समकालीन लिखा है। भक्तामर-स्तोत्र के टीकाकार ने कथा इस प्रकार दी है—

"पुरामरावतीजयिन्यां श्रीवज्रयिन्यां पुरि वृद्धभोजराजा पूज्योऽधीतशास्त्रपूरो मयूरो नाम पण्डितः प्रतिवसति स्म। तज्जामाता बाणः। सोऽपि विचक्षणः। द्वयोरन्योन्यं मत्सरः। उक्तं "न सहन्ति इक्कमिक्कं न विणा चिट्ठन्ति इक्कमिक्केन। रासह वसह तुरङ्गा जूयारी पण्डियडिम्भा। अन्येद्युः विवदमानौ नृपेणोक्तौ। भो पण्डितौ युवां काश्मीराम् गच्छतम्, तत्र भारती यं पण्डितमधिकं मन्यते स एवोत्कृष्टः।"*

ब्यूलर ने इसका और इसके आगे के अंश का भी अनुवाद इस प्रकार दिया है—

"पूर्व काल में अमरावती को जीतनेवाली उज्जयिनी में वृद्ध भोजराज से पूजित, सब शास्त्र पढ़े हुए मयूर नाम के पण्डित रहते थे। उनके जामाता बाण थे। वे भी चतुर थे। दोनों में परस्पर डाह थी; क्योंकि यह कहा गया है कि गधे, बैल, घोड़े, जुआरी, पण्डित और बदमाश एक दूसरे को सह नहीं सकते, एक दूसरे के बिना रह भी नहीं सकते।

---

* The Sanskrit Poems of Mayura, p. 21.

२. बाण भट्ट का चण्डीशतक, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी (१८८२) पृ. ११३.

एक दिन वे लड़ रहे थे। राजा ने उनसे कहा कि आप लोग काश्मीर जायँ। वही सब से श्रेष्ठ है जिसको सरस्वती, जो वहाँ रहती हैं, अधिक पंडित निश्चित करें। उन दोनों ने सामान लेकर यात्रा के लिये प्रस्थान किया। वे काश्मीर को जानेवाले मार्ग पर आए। उन्होंने पीठ पर बोझ लादे हुए पाँच सौ बैलों को देखकर एक हाँकनेवाले से पूछा कि यह सब क्या है ? हाँकनेवाले ने उत्तर दिया कि यह सब प्रबाव की टीका है। फिर उन्होंने ५०० बैलों के बाद २००० बैलों का मुण्ड देखा। यह देखकर कि ये सब प्रबाव की नई नई टीकाएँ हैं, उनका अहंकार जाता रहा। वे किसी स्थान पर एक साथ सो रहे थे। देवी सरस्वती ने मयूर को जगाकर 'शतचन्द्रं नभस्तलं' यह समस्या पूर्ति करने के लिये दी। उन्होंने थोड़ा उठते हुए नमस्कार किया और इस प्रकार पूर्त्ति की—

"दामोदरकराघातविह्वलीकृतचेतसा।
दृष्टं चाणूरमल्लेन शतचन्द्रं नभस्तलम्॥"

"दामोदर के हाथ के आघात से घबराए हुए चाणूरमल्ल ने आकाश शतचन्द्र-युक्त देखा।"

बाण को भी उसी प्रकार वही समस्या पूर्त्ति करने के लिये दी। बड़े गर्व के साथ उन्होंने इस प्रकार पूर्ति की—

"तस्यामुत्तुङ्गसौधाग्रविलोलवदनाम्बुजैः।
विरराज विभावर्या शतचन्द्रं नभस्तलम्॥"

"उस रात्रि को प्रासाद के उच्च शिखर पर चंचल मुखकमलवाली नायिकाओं के कारण आकाश शतचन्द्रयुक्त शोभायमान होता था।"

सरस्वती ने कहा कि तुम दोनों कवि हो और शास्त्रों के ज्ञाता हो; पर बाण इतने उच्च कोटि के नहीं हैं, क्योंकि उनको अहंकार है। मैंने तुम्हें प्रबाव की टीकाओं का भार दिखा दिया है। कौन ऐसा है जिसने देवी सरस्वती का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया हो ! यह भी कहा गया

है कि किसी को भी अहंकार न हो कि मैं ही इस युग में पंडित हूँ और दूसरे मूर्ख हैं। ज्ञान की अधिकता केवल आपेक्षिक है।

इस प्रकार सरस्वती ने दोनों में मित्रता करा दी। उज्जयिनी आने पर वे दोनों अपने अपने घर गए। वे दोनों एक एक करके राजा के सामने गए। यह भी कहा गया है कि मृग, मृग ही के साथ रहते हैं; गाय, गाय के साथ; घोड़े, घोड़े के साथ; मूर्ख, मूर्ख के साथ और विद्वान्, विद्वान् के साथ। समान गुण दोष रहने पर ही मैत्री होती है।

एक बार बाण का अपनी स्त्री के साथ प्रेम-युद्ध हो रहा था। स्त्री मान करके बैठी थी और मानभंग कराना नहीं चाहती थी। रात्रि अधिकतर इसी प्रकार व्यतीत हो गई। मयूर जो प्रातःकाल के समय घूम रहे थे, उस स्थान पर आ गए। खिड़की में से पति पत्नी का शब्द सुनकर वे ठहर गए। बाण अपनी पत्नी के पैरों पर गिर पड़े और कहने लगे कि हे मानिनि, मेरा यह दोष क्षमा करो, फिर मैं तुम्हें क्रुद्ध होने का अवसर न दूँगा। पत्नी ने पायजेबवाले पैरों से लात मारी। मयूर जो खिड़की के नीचे खड़े थे, पायजेब का शब्द सुनकर और पति का निरादर देखकर बहुत दुःखित हुए। बाण ने एक नया श्लोक तैयार किया—

"गतप्राया रात्रिः कृशतनुशशी शीर्यत इव
प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतो घूर्णित इव।
प्रणामान्ते मानं त्यजसि न यथा क्रुधमहो
कुचप्रत्यासत्त्या हृदयमपि ते सुभ्रु कठिनम्॥"

"हे पतले शरीरवाली स्त्री, रात्रि प्रायः बीत गई, चन्द्र मानों अस्त हो गए, यह प्रदीप मानों निद्रा के वश में होकर अपना सिर हिला रहा है। तुम प्रणाम के अनन्तर भी मान नहीं छोड़ती हो, इससे प्रतीत होता है कि तुम क्रुद्ध हो। हे सुन्दर भौंवाली, स्तनों के निकट होने के कारण तुम्हारा हृदय भी कड़ा है।"

यह सुनकर मयूर ने कहा कि उसको सुन्दर भौंवाली न कहकर क्रोधी चण्डी कहो, क्योंकि यह क्रुद्धा है। यह तीक्ष्ण शब्द सुनकर उस पतिव्रता स्त्री ने लड़की का चरित्र वर्णन करनेवाले अपने पिता को यह कहकर शाप दिया कि तुम मेरे मुँह के पान का रस स्पर्श करके कोढ़ी हो जाओ। उसी क्षण कोढ़ के दाग उसके शरीर पर दिखाई पड़ने लगे। प्रातःकाल बाण पूर्ववत् दरबार में बरफ की भाँति कपड़े पहन कर गया और मयूर को लक्ष्य में रखकर श्लेष से उसे वर कोढ़ी कहा।

राजा इस बात को समझ गया और मयूर के दाग को देखकर उसको घर भेज दिया। मयूर सूर्य्य के मन्दिर में गए, बैठे और सूर्य्य पर ध्यान लगाकर "जम्भारातीभकुम्भोद्भवमिवदधतः" इत्यादि सौ श्लोकों से सूर्य्य की स्तुति की।

"शीर्णघ्राणांघ्रिपाणिन्" इत्यादि छठे श्लोक का पाठ करते ही संसार के कार्य्यों की ओर दृष्टि रखनेवाले सूर्य भगवान् प्रकट हुए। मयूर ने उनको प्रणाम किया और कोढ़ से छुड़ा देने के लिये उनसे प्रार्थना की। सूर्य्य भगवान् ने उत्तर दिया कि मुझे भी एक शाप के कारण पैर में कुष्ठ है। मैंने घोड़े के रूपवाली रत्नादेवी के साथ उसकी इच्छा के प्रतिकूल दुष्ट संसर्ग किया था। इस पर भी मैं तुम्हें अपनी एक किरण देकर पतिव्रता स्त्री के शाप से मुक्त कर दूँगा। इतना कहकर आकाश के मध्य अन्तर्धान हो गए। एक किरण से मयूर के कुष्ठ के दाग नष्ट हो गए। सब मनुष्य आनन्द मनाने लगे। राजा ने भी उनका सत्कार किया। बाण को मयूर की कीर्ति पर डाह हुई और अपने हाथ पैर कटवा दिए और दृढ़ प्रतिज्ञा करके "माभांक्षीर्विभ्रमं" आदि सौ श्लोकों से चंडी की स्तुति की। प्रथम श्लोक की छठी मात्रा का उच्चारण करने पर चंडिका प्रकट हुईं और उनके हाथ पैर ठीक हो गए।"

कथा के शेष भाग में इस बात का वर्णन है कि जैन धर्म्म के धर्मात्मा पुरुष भी अलौकिक कार्य्य कर सकते हैं। इसी लिये मानतुङ्गसूरि ने भी अपने को ४४ जंजीरों से बाँध दिया; फिर उनसे मुक्त होने के लिये भक्तामरस्तोत्र की रचना की और मुक्त हो गए।

(२) सूर्यशतक के टीकाकार भट्ट यज्ञेश्वर ने मयूर के कुष्ठ रोग का कारण इस प्रकार लिखा है१—

"पुरा किल श्रीविक्रमार्कसमयादष्टसप्तत्युत्तरसहस्रसम्मितेषु १०७८ संवत्सरेषु (१०२२ खिस्ताब्देषु) व्यतीतेषु संप्राप्तोदयस्य श्रीमद्भोजराजस्य सभासध्वरप्रदीपो महाकविर्मयूरो धारानगरीमधिवसति स्म। तस्य च भगिनीपतिः कादम्बरीगद्यप्रबन्धनिर्म्माता बाणकविः परममित्रमासीत्। अथ कदाचिन्मयूरकविर्निशः प्रान्ते संप्राप्तप्रबोधः कतिचित्पद्यानि कवयाञ्चक्रे, तानि चातीव सरसरमणीयान्याकलय्य तदानीमेवोत्कटसमुत्कण्ठावशान्निजसुहृदे बाणकवये निवेदयितुमनारतश्वासभवनमभिजगाम तत्र च बाणकविर्निजवल्लभां मयूरस्वसारं मानकलुषितां प्रसादयंस्तत्कालकल्पितं 'गतप्राया रात्रिः कृशतनुशशी शीर्यत इव। प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतो घूर्णित इव। प्रणामान्तो मानस्त्यजसि न तथापि क्रुध महो। इति पादोनं पद्यं पठित्वा चरमचरणसंगतिं कल्पयंस्तावदेव पापठ्याञ्चक्रे। अत्रावसरे घनस्तनितस्येव गम्भीरस्य बाणकविभाषणस्य श्रवणेन विवशान्तःकरणो मयूरकविः स्वप्रतिभाप्रवाहं निरोद्धुमक्षमस्तत्पद्येऽपेक्षितं सुसंगतं चतुर्थचरणं "कुचप्रत्यासत्त्या हृदयमपि ते चण्डि कठिनं" इत्येवं रूपं केकानिनादमिव मन्द्रमधुरस्वरेणोदीरयामास। तच्छ्रुत्वा सज्जधनुष्परतूर्णं बाणो लक्ष्यमिवायमपि बाणं कविर्निजनाम्नोऽन्वर्थतासमर्थनाय इव लीलासद्मनो झटिति विनिर्गत्य प्राणाधिकप्रियं सुहृद्वरं मयूरकविं समाजगाम। ततोऽस्या बाणवनि-

---

१. भगवतीकर का काव्यप्रकाश पृ. ८.

ताया रसभङ्गजनितमनःक्षोभवत्या पातिव्रत्यप्रभावेणाचिरादेव शापतः स मयूरकविः कुष्ठरोगकवलितसर्वाङ्गः संवृत्तः। अथास्य पापरोगस्य समूलमुन्मूलनाय शतसंख्याकहृद्यतमपद्यघटितकाव्यबन्धेन भगवन्तं भास्करदेवं स्तुत्वा तत्प्रसादमहिम्ना प्रनष्टपापरोगः कनकरुचिरगात्रोऽयं मयूरकविः संबभूवेत्येवंतात्पर्यक इतिहासो मेरुतुङ्गाचार्यकृतप्रबन्ध-चिन्तामण्यादिग्रन्थे स्थितः इति।"

उपर्युक्त कथा का सारांश यह है कि विक्रमीय संवत् १०७८ (१०२२ ईस्वी) में श्रीमान् भोजराजा की सभा के ज्योतिस्स्वरूप महाकवि मयूर धारा नगरी में रहते थे। उनके बहनोई कादम्बरी ग्रन्थ के निर्म्माता बाण कवि बड़े मित्र थे। किसी समय मयूर कवि रात्रि के अन्तिम भाग में जाग गए और उन्होंने कुछ पद्यों की रचना की। ये पद्य बड़े सरस हैं, यह समझकर उनके मन में बड़ी उत्कट इच्छा अपने मित्र बाण कवि को दिखाने की हुई और वे उनके घर गए। वहाँ बाण अपनी प्रिया (मयूर की बहन) के प्रणयमान की शान्ति कर रहे थे; और उस समय एक पद्य के इस आशय के तीन चरणों की रचना करके बार बार पाठ कर रहे थे कि हे पतले शरीरवाली स्त्री, रात्रि प्रायः बीत गई, चन्द्र क्षीण हो रहा है, निद्रा के वश में दीप अपना सिर हिला रहा है, प्रणाम के अनन्तर भी तुम मान नहीं छोड़तीं। इस अवसर पर बाण कवि की गम्भीर कविता सुनकर मयूर से नहीं रहा गया और इस प्रकार चतुर्थ चरण की पूर्त्ति कर दी कि स्तनों के पास होने के कारण, हे चण्डि, तुम्हारा हृदय भी कठोर है। यह सुनते ही बाण झट अपने घर से बाहर निकल आए। बाण की स्त्री का रसभंग हो गया और उसने बहुत क्रुद्ध होकर अपने पातिव्रत्य के प्रभाव से मयूर को शाप दिया कि तुम कोढ़ी हो जाओ। मयूर को तुरन्त सर्वाङ्ग में कुष्ट हो गया। इस पाप रोग से जड़ से मुक्त होने के लिये मयूर ने सौ सुन्दर श्लोकों में सूर्य भगवान् की स्तुति की। इस स्तुति के प्रभाव से उनका कुष्ठ

अच्छा हो गया और उनका शरीर सुन्दर सोने के समान हो गया।

उपर्युक्त कथा झलकीकर ने अपने काव्यप्रकाश की टीका में दी है और कथा के अन्त में उनका कहना है कि यह इतिहास मेरुतुंगाचार्य्य के प्रबन्धचिन्तामणि से लिया गया है। पर आश्चर्य है कि प्रबन्धचिन्तामणि की मुद्रित प्रति मे इस इतिहास का कोई भाग नहीं मिलता। कथा भी कहीं कहीं एक दम उलटी है। मालूम होता है कि इसी प्रति से टानी ने भी अपना अनुवाद किया है; क्योंकि टानी का अनुवाद इस प्रति की कथा से अक्षरशः मिलता है। मुद्रित प्रति में पूरी कथा इस प्रकार है—

"अथ मयूरबाणाभिधानौ भावुकशालकौ पण्डितौ निजविद्वत्तया मिथः स्पर्धमानौ नृपसदसि लब्धप्रतिष्ठावभूताम्। कदाचिद्बाणपण्डितो जामिमिलनाय तद्गृहं गतो निशि द्वारप्रसुप्तो भावुकेनानुनीयमानां जामिं निशम्य तत्र दत्तावधान इत्यशृणोत्॥

गतप्राया रात्रिः कृशतनुशशी शीर्यत इव
प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतो घूर्णित इव।
प्रणामान्तो मानं त्यजसि न तथापि क्रुधमहो

इति भूयो भूयस्तेन त्रिपदीमुदीर्यमाणामाकर्ण्य।

कुचप्रत्यासत्या हृदयमपि ते चण्डि कठिनम्।

इतिभ्रातृमुखात्तुर्यं पदमाकर्ण्य क्रुद्धा सा सत्रपा त्वं कुष्ठी भवेति तं भ्रातरं शशाप। इति पतिव्रताव्रतप्रभावात्तदात्वप्रभृति रोगोऽभूत। प्रातः शीतरक्षाविहिततनुर्नृपसभायातो मयूरेण मयूरेणैव कोमलगिरा वरकोढीति तं प्राकृतशब्दे प्रोक्ते चतुरचक्रवर्त्ती नृपो बाणं सविस्मयं प्रेक्ष्यमाणस्तेन प्रस्तावान्तरे देवताराधनोपायश्चेतस्यवतारयाञ्चक्रे। बाणस्तु सापत्रपस्तत उत्थाय नगर (नगर?) सीमनि स्तम्भमारोप्य खदिराङ्गारपूर्णमध: कुण्डं विधाय स्तम्भाग्रवर्तिनि सिक्के स्वयमधिरूढ: सूर्यस्तुतौ प्रतिकाव्यप्रान्ते सिकपदं छुरिकया छिन्दन् पञ्चभिः काव्यैस्तेन पञ्चसु

पदेषु छिन्नेषु सिक्कामे विलग्नः षष्ठेन काव्येन प्रत्यक्षीभूतभानुस्तत्प्रसादात्सद्यः संजातजात्यकाञ्चनकायः। अन्यस्मिन्नहनि स सुवर्णचन्दनावलिप्ताङ्गः संवीतसितदिव्यवसनः समाजगाम। तद्वपुःपाटवं पश्यता नृपेण सूर्यवरप्रसादं मयूरे विज्ञापयति बाणो बाणनिभया गिरा तं मर्मणि विव्याध। यदि देवताराधनं सुकरं तदा त्वमपि किमपीदृक् चित्रमाविःकुरु। इत्यभिहिते तेन मयूरेण तं प्रति प्रतिवचः संदधे। निरामयस्य किमायुर्वेदविदा तथापि तव वचः सत्यापयितुं निजपादौ च पाणी छुर्या विदार्य त्वया षष्ठे काव्ये सूर्यः परितोषितोऽहं तु पूर्वस्य काव्यस्य षष्ठेऽक्षरे भवानीं परितोषयामीति प्रतिश्रुत्य सुखासनमासीनश्चण्डिकाप्रासादपश्चाद्भागे निविष्टो माभांक्षीर्विभ्रममिति षष्ठेऽक्षरे प्रत्यक्षीभूतचण्डिकाप्रसादात्प्रत्यग्रप्रथमानवपुःपल्लवः स्वयन्त्रुरतं च तत्प्रासादमालोक्याभिमुखागतैर्नृपतिप्रमुखराजलोकैः कृतजयजयारवो महता महेन पुरं प्राविशत्। एतस्मिन्नवसरे मिथ्यादृशां शासने विजयिनि सम्यग्दर्शनद्वेषिभिः कैश्चित्प्रधानपुरुषैर्नृपोऽभिदधे। यदि जैनमते कश्चिदीदृग्प्रभावाविर्भावः प्रभवति तदा सिताम्बराः स्वदेशे स्थाप्यन्तां नो चेन्निर्वास्यन्ताम् इति तद्वचनानन्तरं श्रीमानतुङ्गाचार्यास्तमाकार्य निजदेवतातिशयं कमपि दर्शयन्तु इति राज्ञा भणितं। ते प्राहुः। मुक्तानामस्मद्देवतानामत्र कोऽतिशयः संभवति तथापि तत्किङ्कराणां सुराणां प्रभावाविर्भावः कोऽपि विश्वचमत्कारकारी दर्श्यत इत्यभिधाय चतुश्चत्वारिंशता निगडैर्निजमङ्गं नियमितं कारयित्वा तन्नगरवर्तिनः श्रीयुगादिदेवस्य प्रासादपाश्चात्यभागे स्थितो मंत्रगर्भं भक्तामरेति नवं स्तवं कुर्वन्प्रतिकाव्यं भग्नैकैकनिगडः शृङ्खलानिर्मुक्तः काव्यैः पर्याप्तस्तपोऽभिमुखीभूतप्रासादः शासनं प्रभावयामास।*

उपर्युक्त कथा का सारांश इस प्रकार है—

मयूर और बाण दो पण्डित थे। मयूर श्वशुर थे और बाण जामाता

---

* [illegible], पृ० १०६–१०८,

थे। उन दोनों में अपने अपने पाण्डित्य के कारण निरन्तर डाह बनी रहती थी; और दोनों राजा की सभा में सम्मान के पात्र थे। एक दिन बाण रात्रि के समय अपनी बहन के घर गए और जब कि वे द्वार के निकट लेटे हुए थे, उन्होंने सुना कि उनकी बहन के पति उन की बहन का मान भंग कर रहे हैं। उनके शब्द सुनते हुए उन्होंने ये पंक्तियाँ सुनीं—

रात्रि प्राय. व्यतीत हो गई है और दुर्बल अंगवाला चन्द्रमा अस्त हो रहा है। निद्रा के वश में दीपक अपना सिर हिला रहा है। प्रणाम से मान का अन्त हो जाता है; पर हाय, तुम अपना क्रोध नहीं शान्त करतीं।

जब बाण ने ये पंक्तियाँ कई बार सुनीं, तब उन्होंने चौथी पंक्ति भी जोड़ दी—

हे चण्डि, स्तनों के निकट होने के कारण तुम्हारा हृदय भी कठोर है।

जब मयूर की स्त्री ने अपने भाई के मुँह से यह चौथा चरण सुना, तब वह बड़ी क्रुद्ध और लज्जित हुई और यह शाप दिया कि तुम कोढ़ी हो जाओ। उसके पातिव्रत धर्म्म में पूर्ण दृढ़ होने के कारण बाण को तुरन्त कोढ़ हो गया। दूसरे दिन प्रात काल वह राजा की सभा में गए। उनका शरीर शीत रक्षा के कारण ढँका था। उस समय मयूर ने मयूर की तरह कोमल वाणी से वर कोढ़ी कहकर ताना मारा। चतुर राजा ने आश्चर्य्य के साथ बाण की ओर देखा। इसके अनन्तर बाण ने देवता का आराधन करना मन में निश्चय किया और लज्जित होकर नगर की सीमा पर खंभा गाड़कर उसके नीचे खदिर की लकड़ी के कोयलों से आग तैयार की। स्तम्भ के ऊपर छींका रखकर स्वयं उसमें बैठ गए और सूर्य की स्तुति के प्रत्येक पद्य के अनन्तर एक एक डोरी चाकू से काटते गए। छींके पर लटके हुए, पाँच पद्यों के अनन्तर पाँच डोरियाँ कट जाने पर, छठे पद्य के पढ़ने के अनन्तर सूर्य भगवान् प्रत्यक्ष

हुए और उनके प्रसाद से उसी समय उनका शरीर सोने के समान लाल हो गया। दूसरे दिन बाण सुगन्धि चन्दन लगाकर और शुभ वस्त्र पहन कर राजसभा में गए। बाण ने अपने स्वस्थ-शरीर हो जाने का कारण कह सुनाया। मयूर कारण सुनते ही कह बैठे कि यह केवल सूर्य भगवान् का प्रसाद है; इसमें बाण की कोई विशेष कुशलता नहीं है। इतना सुनते ही बाण ने बाण की तरह तीक्ष्ण शब्दों में कहा कि यदि इसमें कोई कुशलता नहीं है, तो तुम भी कुछ ऐसा ही कर दिखाओ। मयूर ने कहा कि मुझे क्या आवश्यकता है! तब भी तुम्हारी बात मानने के लिये अपने दोनों हाथ और पैर काट कर प्रथम श्लोक की षष्ठ मात्रा के पाठ मात्र से ही चण्डी को प्रसन्न करूँगा। इस तरह प्रतिज्ञा करके मयूर ने चण्डिका के मन्दिर के पिछले भाग में सुखपूर्वक बैठकर 'माभ्राङ्क्षी-विभ्रमं' इस तरह चण्डी शतक का पाठ करना आरम्भ किया। छठे अक्षर का पाठ करते ही चण्डी प्रकट हुई और उनका अंग प्रत्यंग सुन्दर कर दिया। इसके अनन्तर राजा और अन्य प्रमुख लोगों ने जयजयकार किया और बड़े उत्सव के साथ मयूर को नगर में लिवा ले गए। इस तरह बाण, मयूर आदि आस्तिक-वादियों की जीत सुन कर नास्तिकों में से एक ने राजा से कहा कि जैन मत में भी यदि ऐसा कोई प्रभाववाला हो, तो उसको अपने देश में रखिए; नहीं तो निकाल दीजिए। इतना कह कर श्रीमान् तुङ्गाचार्य्य को वहाँ बुलाया। उन्होंने कहा कि हमारे देवता तो मुक्त हैं। उनका क्या प्रभाव दिखाया जाय! पर उनके सेवक देवतागण का संसार को आश्चर्य में डालनेवाला कोई प्रभाव दिखाया जा सकता है। इतना कहकर मानतुंगाचार्य्य ने अपने को ४४ जंजीरों से बाँध डाला और उस नगर के श्री युगदेव के मन्दिर के पिछले भाग में बैठकर भक्तामर नामक नवीन स्तोत्र का पाठ करना आरम्भ किया। इस स्तोत्र के एक एक श्लोक से एक एक

जंजीर कटती गई और स्तोत्र के समाप्त होने पर वे सब बन्धनों से मुक्त हो गए। इस तरह श्रीमानतुङ्गाचार्य्य ने अपना प्रभाव दिखा दिया।"

(३) सूर्य्य शतक के टीकाकार मधुसूदन ने उपर्युक्त कथा कुछ भिन्न रूप में लिखी है। उनकी कथा के अनुसार मयूर राजा भोज की सभा में नहीं थे और न उनके कुष्ट रोग हो जाने का कारण चतुर्थ चरण की पूर्त्ति थी। उनका कहना है कि मयूर राजा हर्ष की सभा के पण्डित थे और उन्होंने अपनी लड़की के सौन्दर्य का वर्णन आठ श्लोकों में किया था जो मयूराष्टक के नाम से प्रसिद्ध है। इस वर्णन के कारण लड़की ने शाप दिया और उनको कुष्ठ हो गया। मानतुङ्ग की कथा का वर्णन भी उनकी कथा में नहीं है।

(४) भक्तामर स्तोत्र के एक टीकाकार भी मयूर के कुष्ठ का कारण अपनी लड़की की सुन्दरता का वर्णन करना लिखते हैं।

उपर्युक्त तीसरी कथा से यह बात सिद्ध होती है कि सातवीं शताब्दी में मानतुङ्ग सूरि की कथा कल्पित है और वह तीसरी शताब्दी में ही हुए थे। इस कथा में राजा भोज की जगह राजा हर्ष का होना प्रमाणित करता है कि मधुसूदन ने जैनियों के प्रभाव में आकर यह कथा नहीं लिखी है।

(५) ऊपर लिखा जा चुका है कि मयूर का वर्णन, जैनियों की कथाओं और काव्य-प्रकाश की टीकाओं में मिलता है। काव्य-प्रकाश की टीकाओं में आने का कारण यह है कि काव्य-प्रकाश में मम्मट ने स्वयं लिखा है कि काव्यों के पढ़ने से दुःख की निवृत्ति होती है; और उदाहरण में उन्होंने लिखा है कि मयूर ने सूर्य्य की स्तुति की और उनके दुःख की निवृत्ति हुई। उनका लेख है—"आदित्यादेर्मयूरादीनामिवानर्थं निवारणम्।" *

* झलकीकर का काव्यप्रकाश, चतुर्थ सस्करण; पृ. ८.

(६) काव्य-प्रकाश के टीकाकार ने नरसिंह मनीषा में इस प्रकार लिखा है—

"मयूरनामाकविः श्लोकशतेनादित्यमुपश्लोक्य कुष्ठरोगान्निस्तीर्ण इति जनश्रुतिः" *।

"मयूर नाम के कवि सौ श्लोकों से आदित्य की स्तुति करके कुष्ठ रोग से निस्तीर्ण हुए, ऐसी जनश्रुति है।"

(७) काव्य-प्रकाश के दूसरे टीकाकार ने सुधासागर में कुष्ठ निवृत्ति का कारण नीचे लिखे अनुसार बतलाया है। इसमें प्रबन्ध चिन्तामणि के छींके का वर्णन दिखाई पड़ता है।

"वक्तव्यसुधासागरकारैरपि—"पुराकिल मयूरशर्म्मा कुष्ठी कविः क्लेपमसहिष्णुः सूर्यप्रसादेन कुष्ठान्निस्तरामि प्राणान्वा त्यजामीति निश्चित्य हरिद्वारं गत्वा गङ्गातटे अत्युच्चतरुशाखावलम्बि शतरज्जुशिक्यमधिरूढः सूर्यमस्तौषीत् अकरोच्चैकैकपद्यान्ते एकैकरज्जुविच्छेदम्। एवं क्रियमाणकाव्यपरितुष्टो रविः सद्य एव नीरोगां रमणीयाञ्च तनुमकार्षीत् प्रसिद्धञ्च तन्मयूरशतकं (सूर्यशतकापरपर्यायम्) इति †।

"सुधासागरकार ने भी कहा है—प्राचीन काल में मयूर शर्म्मा कोढ़ी कवि क्लेश को न सहन करके "कोढ़ से निवृत्त हूँगा या प्राण त्याग दूँगा" इस प्रकार निश्चय करके हरिद्वार गए और गङ्गाजी के तट पर बड़े ऊँचे पेड़ की शाखा से लटकनेवाले सौ डोरियों से बँधे हुए छींके पर चढ़कर सूर्य की प्रार्थना करने लगे। एक एक पद्य के अन्त में एक एक डोरी काटने लगे। इस प्रकार किए जानेवाले काव्य से सन्तुष्ट होकर सूर्य भगवान् ने तुरन्त उनकी देह नीरोग और सुंदर बना दी। वही (काव्य) मयूरशतक या सूर्यशतक के नाम से प्रसिद्ध है।"

---

* झलकीकर का काव्यप्रकाश, चतुर्थ संस्करण, पृ० ८.

† " " " "

(८) सूर्यशतक के टीकाकार जगन्नाथ का विलक्षण ही मत है। उनका कहना है कि मयूर को एक पतिव्रता स्त्री के या अपनी लड़की के शाप से कुष्ठ रोग नहीं हुआ था। यह केवल उनके पूर्व जन्मों के कर्मों का फल था। इन्होंने यह भी नहीं लिखा है कि सूर्यशतक के पाठ से कुष्ठ रोग की निवृत्ति हो गई। मयूर ने चाहा अवश्य था कि सूर्यशतक के पाठ से कुष्ठ रोग की निवृत्ति हो जाय। यह एक स्वतंत्र लेख प्रतीत होता है जिसमें जैनियों के कथा भाग का बहुत कम अंश मिलता है। बहुधा यह कथा सत्य भी है। उनका उल्लेख इस प्रकार है—

"श्रीमन्मयूरभट्टः पूर्वजन्मदुरदृष्टहेतुकगलितकुष्ठजुष्टोग·········क्षमो बान्धवरकन्धावलम्बी भगवत्सूर्यमन्दिरसंकीर्णद्वारावलम्बनाशक्तः तत्पश्चादुपविष्टः पूर्वजन्मदुरदृष्टसृष्टकुष्ठरोगापनोदनेप्सुः बान्धवाशीर्वाद-व्याजेन रश्मिराजिरथमण्डल··················मेव भगवन्तं स्तौति जम्भारातीभेति।"*

जैन कथाओं की समालोचना

उपर्युक्त सब कथाएँ प्रायः कल्पित और दन्तकथाएँ प्रतीत होती हैं। प्रथमतः, मानतुङ्ग लगभग तीसरी शताब्दी में उत्पन्न हुए प्रतीत होते हैं और बाण और मयूर सातवीं शताब्दी में। मयूर के विषय में पहला लेख काव्यप्रकाश में मिलता है जो लगभग ११ वीं शताब्दी में लिखा गया है। दूसरा लेख जैनियों के प्रभावक चरित आदि ग्रन्थों में है जो लगभग १२५० ई० में लिखा गया है। कोई विशेष ऐतिहासिक सामग्री न रहने के कारण यह सम्भव है कि कथाओं का बहुत सा भाग पाँच छः सौ वर्ष में कल्पित हो गया हो और केवल दन्त-कथा

* Har Prasad Sastri—Notices of Sanskrit Manuscripts; Second Series; Vol. 1 p. 411. No. 412. Cal. 1900.

शतक के विषय में विचार किया जाय, तो दोनों कवियों की कथाओं के बीज उनके स्तोत्रों से ही मिल जाते हैं। भक्तामरस्तोत्र का ४२ वाँ श्लोक इस प्रकार है—

"आपादकण्ठमुरुशृंखलवेष्टिताङ्गा
गाढं बृहन्निगडकोटिनिघृष्टजङ्घाः।
त्वन्नाममन्त्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः
सद्यः स्वयं विगतबन्धभया भवन्ति॥"

"जिनके अंग कण्ठ से पैर तक भारी जंजीरों से बँधे हैं, और जिनके जंघे करोड़ों भारी बेड़ियों से जकड़े हैं, वे मनुष्य यदि तुम्हारे नाम-रूपी मन्त्र का निरन्तर स्मरण करें, तो तुरन्त स्वयं सब बन्धनों के भय से मुक्त हो जाते हैं।"

उपर्युक्त पद्य से यह धारणा की जा सकती है कि कवि स्वयं ऐसी ही जंजीरों से वेष्टित थे और उनसे मुक्त होने के लिये उन्होंने भक्तामरस्तोत्र का निर्माण किया था।

इसी प्रकार सूर्यशतक के विषय में भी विचार किया जा सकता है। इस शतक का छठा पद्य, जिससे मयूर के कुष्ठ रोग की निवृत्ति कही जाती है, यह बात प्रायः सिद्ध कर देता है कि कवि स्वयं ऐसी ही आपत्ति में पड़े थे और इससे निवृत्त होने के लिये उन्होंने सूर्यशतक लिखा था। छठा पद्य इस प्रकार है—

"शीर्णघ्राणाङ्घ्रिपाणीन् व्रणिभिरपघनैर्घर्घराव्यक्तघोषान्
दीर्घाघ्रातानघौघैः पुनरपि घटयत्येकउल्लाघयन्यः।
घर्मांशोस्तस्य वोऽन्तर्द्विगुणघनघृणानिघ्ननिर्विघ्नवृत्तेः
दत्तार्घाः सिद्धसंघैः विदधतु घृणयः शीघ्रमंघोविघातम्"

इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि सूर्यशतक के लिखने का मुख्य कारण श्रीहर्ष के समय में सूर्य भगवान् के पूजन की प्रधानता

है और ऐसा कारण प्रायः सभी स्तोत्रों के निर्माण में दिया जा सकता है। इससे शतक लिखने के किसी विशेष प्रयोजन का पता नहीं लगता सूर्यशतक के १०१ श्लोक में भी इसी प्रकार कारण दिया है। श्लोक इस प्रकार है—

"श्लोको लोकस्य भूत्यै शतमिति रचिता श्रीमयूरेण भक्त्या
युक्तश्चैतान् पठेद्यः सकृदपि पुरुषः सर्वपापैर्विमुक्तः।
आरोग्यं सत्कवित्वं मतिमतुलबलं कान्तिमायुः प्रकर्षं
विद्यामैश्वर्यमर्थं सुतमपि लभते सोऽत्र सूर्यप्रसादात्॥"

"श्रीमयूर ने लोगों के लिये भक्ति से सौ श्लोक रचे। जो कोई युक्त होकर एक बार भी इन्हें पढ़ेगा, वह सब पापों से मुक्त हो जायगा, और आरोग्य, सत्कविता, बुद्धि, अतुपम बल, शोभा, दीर्घायु, विद्या, ऐश्वर्य्य, धन और पुत्र भी, सूर्य के प्रसाद से, प्राप्त कर लेगा।"

मयूर और भोजप्रबन्ध

बल्लालसेन ने १६ वीं शताब्दी में भोज-प्रबन्ध लिखा। इस ग्रन्थ के दो विभाग हैं। प्रथम भाग में राजा भोज के अपने पितृव्य मुंज के स्थान पर सिंहासन पर आने का वर्णन है। द्वितीय भाग में कवियों की सभा वर्णित है। राजा भोज की सभा में अनेक कवि अपने अपने पद्य सुनाते थे और पारितोषिक लेकर चले जाते थे। राजा भोज ने अपने नगर में यह घोषणा कर दी थी कि यदि कोई मेरा प्यारा भी मूर्ख हो, तो वह मेरे नगर के बाहर निकाल दिया जाय, और कुम्भकार भी यदि विद्वान् हो, तो मेरे नगर में रहे। इस घोषणा का प्रभाव यह हुआ कि राजा भोज के नगर में एक भी मूर्ख न रह गया और धीरे धीरे उनकी सभा में ५०० कवि हो गए जिनका सत्कार करना ही उनका प्रधान धर्म्म था। इन ५०० कवियों में प्रधान इस प्रकार गिनाए गए हैं—

"ततः क्रमेण पञ्चशतानि विदुषां वररुचिबाणमयूररेफणहरिशङ्कर कलिङ्ग कर्पूरविनायकमदनविद्याविनोदकोकिलतारेन्द्रमुख्याः सर्वशास्त्र-विचक्षणाः सर्वे सर्वज्ञाः श्रीभोजराजसभामलंचक्रुः ॥"

उपर्युक्त कवियों में बाण और मयूर का भी नाम आया है। ऐसे ही अनेक स्थानों में मयूर का नाम लिया गया है। कहते हैं कि एक बार केवल धोती पहने हुए एक अपरिचित कवि ने राजा भोज की सभा में आने की अनुमति माँगी। आते ही वह बैठ गया और एक पद्य पढ़ सुनाया। भोज ने नाम पूछा, तो कवि ने पद्य में ही अपना नाम मौडाचंद्र कहा। कालिदास ने, जो वहाँ थे, मौडाचंद्र की बहुत प्रशंसा की और उसके कवित्व की योग्यता का समर्थन किया। इसके अनन्तर मौडाचंद्र ने कई पद्य प्रशंसा में पढ़े जिनसे राजा का ध्यान दान की ओर आकृष्ट हो। उनमें से एक यह भी है—

जितने कवि भोजप्रबन्ध में उल्लिखित हैं, वे सब भोज राजा की सभा के पण्डित थे; पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होगा कि भोज-प्रबन्ध केवल राजा भोज की कीर्त्ति स्थापित करने के लिये ऐसी कथाओं से भरा है जो ऐतिहासिक दृष्टि से उस समय कभी नहीं हुई थीं। धारा के राजा भोज ११ वीं शताब्दी में हुए थे। पर उनकी सभा में ऐसे अनेक कवियों का वर्णन है जो उनसे कई शताब्दी पूर्व उत्पन्न हुए प्रमाणित होते हैं। भारवि छठी शताब्दी में, माघ सातवीं शताब्दी में, कालिदास पाँचवीं शताब्दी में इस भारत भूमि को अलंकृत करते थे। इसी प्रकार मयूर भी सातवीं शताब्दी में हर्षवर्धन के समय उनकी सभा के कवि थे और इसलिये वे कदापि राजा भोज की सभा के कवि नहीं हो सकते। यह बात तो स्पष्ट ही है कि जिस मयूर का वर्णन यहाँ किया जा रहा है, वे सातवीं शताब्दी में ही थे। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि भोजप्रबन्ध एक बिलकुल अप्रामाणिक ग्रन्थ है और इतिहास की दृष्टि से उसका कोई महत्व नहीं है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि भोजप्रबन्ध में मयूर का नाम कई बार आया है; इसलिये ११ वीं शताब्दी में अवश्य कोई मयूर राजा भोज के समकालीन थे। इस प्रश्न पर यह विचार करना आवश्यक है कि ऐसे अनेक कवियों के नाम भोजप्रबन्ध में आए हैं जो उस समय कदापि सिद्ध नहीं होते। यह कहना कि यह सब कालिदास आदि महाकवि प्रसिद्ध कालिदास से इतर ही थे, दुस्साहस मात्र है। वस्तुतः राजा भोज का महत्व बढ़ाने के लिये बल्लालसेन ने सब महाकवियों को यहीं एकत्र कर दिया है। इसी लिये उपर्युक्त सिद्धान्त ही ठीक है कि इतिहस की दृष्टि से भोजप्रबन्ध का कोई महत्व नहीं है।

दूसरा प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि सूर्यशतक के टीकाकार ने बाण और मयूर को उज्जयिनी के राजा भोज की सभा का पण्डित कहा है; और प्रबन्धचिन्तामणि की काव्यप्रकाश की टीका में

दिए हुए पाठ से भी यह प्रतीत होता है कि मयूर धार के राजा भोज को सभा के कवि थे। इसलिये कोई राजा भोज धार और उज्जयिनी में अवश्य सातवीं शताब्दी में रहे होंगे। पर इस समय तक जितने ऐतिहासिक ग्रन्थ और लेख देखे गए हैं, उनसे यह कहीं सिद्ध नहीं होता कि राजा भोज धार और उज्जयिनी में उस समय थे। अवश्य ही यह जैनियों के मन की कल्पना है जिससे उन्होंने हर्ष के स्थान पर भोज का नाम दे दिया और सातवीं शताब्दी के मयूर के प्रसंग में एक ओर से तीसरी शताब्दी के मानतुङ्ग को और दूसरी ओर से ११ वीं शताब्दी के राजा भोज को लाकर बैठा दिया। इस संबंध में ब्यूलर का लेख बहुत सत्य प्रतीत होता है कि चरित और प्रबन्ध लिखने का "उद्देश्य जैन जाति का महत्व बढ़ाना और जैन धर्म्म की शक्ति और कीर्ति में मनुष्यों का विश्वास दिलाना है; या जहाँ धर्म्म से विषय कोई सम्बन्ध नहीं रखता, वहाँ जैनियों को केवल रोचक कथा सुनाना है। विशेषकर यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि प्राचीन और नवीन कथाओं में भी सब मनुष्य ऐतिहासिक हैं, यद्यपि यह बहुधा भूल हुई है कि जिस समय जो पुरुष उत्पन्न हुए हैं, उनका वर्णन उस समय न करके, या तो उनका वर्णन उनसे पूर्व समय में किया है या उनसे और भविष्य में किया है या उसके सम्बन्ध में एक दम अविश्वसनीय बातें कह दी हैं, तथापि ऐसी भूल प्रायः कभी हुई नहीं मालूम होती कि किसी एक दम कल्पित व्यक्ति का वर्णन कर दिया गया हो। प्रायः प्रत्येक नई खोज में मिले हुए लेख या प्राचीन लिखित लेखों का कोई संग्रह या अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थ इस बात का समर्थन करते हैं कि उन्होंने ऐसे ही पुरुष का वर्णन किया है जिनका सचमुच अस्तित्व रहा है *।"

---

* यह अंश प्रबन्ध चिन्तामणि की भूमिका, पृ० ७ में टानी ने ब्यूलर के जर्मन लेख से उद्धृत किया है।

मयूर के लिखे हुए ग्रन्थ

(१) मयूराष्टक

मयूर ने बहुत करके सब से पहले आठ श्लोक लिखे हैं जिनको मयूराष्टक कहते हैं। इसमें मयूर ने किसी युवती का सौन्दर्य्य वर्णन किया है। यह युवती जैन टीकाकारों के मन्तव्यानुसार मयूर की लड़की ही थी। इस अष्टक की अधिक प्रसिद्धि का कारण यह है कि इसी अष्टक द्वारा अपनी लड़की का सौन्दर्य वर्णन करने के कारण मयूर को कुष्ट रोग हो गया था जिसकी निवृत्ति के लिये उन्होंने सौ श्लोकों में सूर्य की स्तुति की थी। इन सौ श्लोकों को सूर्य शतक कहते हैं। इन्हीं कारणों से यह सिद्ध होता है कि सूर्य शतक लिखने के पहले मयूर ने मयूराष्टक लिखा था।

क्वैकेनबोस लिखते हैं * कि उनके समय तक इसकी केवल एक हस्तलिखीत प्रति टुबिङ्गन विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में उपलब्ध थी। यह प्रति भूर्जपत्र पर लिखी हुई थी, जिसका एक एक पत्र ७½ इंच लंबा और ६½ इंच चौड़ा था और प्रत्येक पृष्ठ में १६ पंक्तियाँ थीं। लेख शारदा लिपि में था और उसके लिखने का समय १७ वीं शताब्दी हो सकता है।

मयूराष्टक भूर्जपत्र के एक पूरे पृष्ठ पर और दो टुकड़े टुकड़े पृष्ठों पर लिखा गया है। इस आदि में पत्र के कट जाने से पहला और छठा ये दो पद्य पूरे नहीं लिखे हैं। पहला, दूसरा और चौथा पद्य स्रग्धरा छन्द में लिखा गया है और बाकी शार्दूलविक्रीडित में। यह अष्टक हरि और हर को समर्पित किया गया है और अन्त में "इति श्री मयूराष्टकं समाप्तम्" लिखा है।

---

* The Sanskrit Poems of Mayura; P. 69.

इस कविता का विषय एक युवती के सौन्दर्य्य का वर्णन है। इसमें रस शृङ्गार है और श्लेष द्वारा इस प्रकार वर्णन किया है कि जिस युवती का वर्णन है, उसको अवश्य बुरा लगा होगा। मयूर की और कविताओं की तरह इसकी भी रीति है। मयूर ने श्लेष का उपयोग सूर्य शतक में भी किया है और शृङ्गार रस प्रायः मयूर के और दूसरे श्लोकों में भी पाया जाता है।

अन्यत्र मुद्रित न होने के कारण पाठकों के मनोरंजन के लिये नीचे मयूराष्टक के आठो श्लोक दिए जाते हैं*—

ॐ नमः श्रीहरिहराभ्याम्

एषा का प्रस्तुताङ्गी प्रचलितनयना हंसलीला व्रजन्ती
द्वौ हस्तौ कुङ्कुमार्द्रौ कनकविरचिता""ऊ"""।
""ऊ (गां) गेगता सा बहुकुसुमयुता बद्धवीणा हसन्ती
ताम्बूलं वामहस्ते मदनवशगता गूहशालां प्रविष्टा ॥ १ ॥

एषा का भुक्तमुक्ता प्रचलितनयना स्वेदलग्नाङ्गवस्त्रा
प्रत्यूषे याति बाला मृग इव चकिता सर्वतः शङ्कयन्ती।
केनेदं वक्त्रपद्मं स्फुरदधररसं षट्पदेनैव पीतं
स्वर्गः केनाद्य भुक्तो हरनयनहतो मन्मथः कस्यतुष्टः ॥ २ ॥

एषा का स्तनपीनभार कठिना मध्ये दरिद्रावती
विभ्रान्ता हरिणी विलोलनयना संत्रस्तयूथोद्गता।
अन्तः स्वेदगजेन्द्रगण्डगलिता संलीलया गच्छति
दृष्ट्वा रूपमिदं प्रियङ्गगहनं वृद्धोऽपि कामायते ॥ ३ ॥

वामेनावेष्टयन्ती अविरलकुसुमं केशभारं करेण
प्रभ्रष्टं चोत्तरीयं रतिपतितगुणां मेखलां दक्षिणेन।

---

*The Sanskrit Poems of Mayura. pp 72—78.

ताम्बूलं चोद्वहन्ती विकसितवदना मुक्तकेशा नरागा
निष्क्रान्ता गुह्यदेशं मदनवशगता मारुतं प्रार्थयन्ती ॥ ४ ॥

एषा का नवयौवना शशिमुखी कान्ताऽपथी गच्छति
निद्राव्याकुलिता विघूर्णनयना संपक्वबिम्बाधरा ।
केशैर्व्याकुलिता नखैर्विदलिता दन्तैश्च खण्डीकृता
केनेदं रतिराक्षसेन रमिता शार्दूलविक्रीडिता ॥ ५ ॥

एषा का परिपूर्णचन्द्रवदना गौरीमृगा क्षोभिनी
लीला मत्तगजेन्द्र हंसगमना······ ······ष········· ।
निःश्वासाधरगन्धशीतलमुखी वाचा मृदूल्लासिनी
सश्लाघ्यः पुरुषः स जीवति वरो यस्य प्रिया हीदशी ॥ ६ ॥

एषा का जघनस्थली सुललिता प्रोन्मत्तकामाधिका
भ्रूभङ्गं कुटिलं त्वनङ्गधनुषः प्रख्यं प्रभाचन्द्रवत् ।
राकाचन्द्रकपोलपङ्कजमुखी क्षामोदरी सुन्दरी
वीणीदण्डमिदं विभाति तुलितं वेलद्भुजं गच्छति ॥ ७ ॥

एषा का रतिहावभावविलसच्चन्द्राननं बिभ्रती
गात्रं चम्पकदामगौरसदृश पीनस्तनालम्बिता ।
पद्भ्यां सञ्चरती प्रगल्भ हरिणी संलीलया स्वेच्छया
किञ्चैषा गगनांगना भुवितले सम्पादिता ब्रह्मणा ॥ ८ ॥

इति श्रीमयूराष्टकं समाप्तम् ॥

(२) सूर्यशतक

मयूर का मुख्य काव्य सूर्यशतक है। इसकी अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ मिली हैं। इसके नाम से ही मालुम होता है कि इसमें सूर्य की स्तुति सौ श्लोकों में की गई है। कवि या टीकाकार ने एक और श्लोक जोड़ दिया है जो इस बात की घोषणा करता है कि "श्रीमयूर ने

भक्ति से सौ श्लोक लोगों के कल्याण के लिये बनाए। जो कोई पुरुष इन्हें एक बार भी मन लगाकर पढ़ेगा, वह सब पापों से छूट जायगा और इस संसार में वह सूर्य के प्रसाद से आरोग्य, सत्कविता, बुद्धि, अनुपम बल, शोभा, आयु, विद्या, ऐश्वर्य, धन और पुत्र भी प्राप्त करेगा।" यह श्लोक ऊपर दिया जा चुका है।

इस काव्य का मुख्य विषय सूर्य की स्तुति है। इसके सौ श्लोकों में से १–४३ तक सूर्य की किरणों का वर्णन और स्तुति है; ४४–४९ तक रथ को खींचनेवाले घोड़ों का वर्णन है; ५०–६१ तक उसके सारथी अरुण का वर्णन है; ६२–७२ तक रथ का वर्णन है; और ७३–८० तक सूर्य के बिम्ब का वर्णन है। ९१, ९२ और ९३ में सूर्य की तुलना शिव, विष्णु और ब्रह्मा से की है; ८८ वें श्लोक में सूर्य को सब देवताओं से बढ़कर सौभाग्य और सम्पत्ति देनेवाला कहा है। ८५, ९५ और ९६ श्लोकों में पृथ्वी की वह अवस्था वर्णित है, जब कि सूर्य भगवान् प्रकाशमान रहते हैं; और ९४ वें श्लोक में सूर्य का सार्वभौम महत्त्व वर्णित है।

सूर्यशतक की रीति गौड़ी और गुण ओज तथा प्रसाद हैं। इसमें अनुप्रास प्रायः प्रत्येक श्लोक में है। कितने ही श्लोकों में एक एक अक्षर लगभग पचीस पचीस बार आया है। उदाहरणार्थ—छठे श्लोक में घ २३ बार, १२ वें श्लोक में च २६ बार, ३३ वें श्लोक में भ २९ बार, ३६ वें श्लोक में घ २० बार, ९४ वें श्लोक में द २५ बार और श २७ बार, तथा ९८ वें श्लोक में ग २५ बार आया है।

सूर्यशतक में यमकों की भी संख्या कम नहीं है। प्रत्येक श्लोक में यमक दिखाई पड़ता है। ३८ वें श्लोक में प्रत्येक चरण के पहले दो अक्षर और अन्तिम तीन अक्षर दोहराए गए हैं।

सूर्यशतक में अर्थालंकारों की भी कमी नहीं है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, दीपक, तुल्ययोगिता, विरोध, श्लेष आदि अलंकार

अनेक स्थल पर दिखाई देते हैं जिनसे काव्य की भाषा अत्यन्त सरस और ओजस्विनी हो गई है।

सूर्यशतक स्रग्धरा छंद में लिखा गया है।

मयूर के १७ अन्य ग्रन्थ

मयूराष्टक और सूर्यशतक को छोड़कर १७ ऐसे पद्य और मिलते जो सुभाषितावलि, शार्गंधर पद्धति, पद्यावलि, सूक्ति मुक्तावलि, पद्यामृत तरंगिणी, सार संग्रह, सुभाषित रत्नकोष, सदुक्ति कर्णामृत आदि ग्रन्थों में मयूर के नाम से दिए गए हैं। ये १७ पद्य भिन्न भिन्न विषयों पर लिखे गए हैं। इनमें से सात पद्यों की एक कविता सब से अधिक रुचिकर है। यह कविता पासा खेलते हुए शिव और पार्वती की वक्रोक्ति के रूप में दी गई है। कविता इस प्रकार है—

विजये कुशलत्र्यक्षो न क्रीडितुमहमनेन सहशक्ता।
विजये कुशलोऽस्मि न तु त्र्यक्षोऽस्त्यद्वयमिदं पाणौ ॥ १ ॥

किम्मे कुरोदरेण प्रयातु यदि गणपतिर्न तेऽभिमतः।
कः प्रद्वेष्टि विनायकमहिलोकः किन्न जानासि ॥ २ ॥

वसुरहितेन क्रीडा भवता सह कीदृशी न जिह्रेषि।
किं वसुभिर्नमतोऽमून् सुरासुरानेव पश्य पुरः ॥ ३ ॥

चन्द्रग्रहणेन विना नाऽस्मि रमे किं प्रवर्त्तयस्येवं।
दृत्ये यदि रुचितमिदं नन्दिन्नाहूयतां राहुः ॥ ४ ॥

हा राहो शितदंष्ट्रे भयकृति निकटस्थिते रतिः कस्य।
यदि नेच्छसि संत्यक्त. सम्प्रत्येवैष हाराहिः ॥ ५ ॥

आरोपयसि मुधा किमाऽहं अभिज्ञा किल त्वदक्षस्य।
दिव्यं वर्षसहस्रं स्थितनेति न युक्तमभिधातुं ॥ ६ ॥

इत्थं पशुपतिपेशलपाशक लीलाप्रयुक वक्रोक्तेः ।
हर्षवशतरल तारकमानन मव्याद्भवान्या वः ॥ ७ ॥*

एक पद्य मयूर के संरक्षक हर्ष के सम्बन्ध में है और उसमें बहुधा हर्ष की किसी विजययात्रा का वर्णन है। पद्य इस प्रकार है—

भूपालाः शशिभास्करान्वय भुवः के नाम नासादिता
भर्त्तारं पुनरेकमेव हि भुवस्त्वान्देव मन्यामहे ।
येनाङ्गं परिमृश्य कुन्तलमथाऽकृष्य व्युदस्यायतं
चोलं प्राप्य च मध्यदेश मधुना काञ्च्याङ्करः पातितः ॥ †

तीन और पद्यों के विषय "गाय और उसका बच्चा" 'यात्री' और 'दो गर्दभ' हैं। इनमें प्रायः शब्दों का आडम्बर है और ये समासोक्ति अलङ्कार से विभूषित हैं। पद्य क्रम से इस प्रकार हैं—

आहत्याहत्य मूर्ध्ना द्रुतमनुपिबतः प्रस्नुतं मातुरूधः
किञ्चित्कुब्जैक जानोरनवरतचल च्चारु पुच्छस्य धेनुः ।
उत्कर्णं तर्णकस्य प्रियतनमतया दत्तहुङ्कार मुद्रा
विस्रंसत्क्षीर धारालवशबल मुदश्चत्याऽङ्ग मापति लेढि ॥ ‡
संविष्टो ग्रामदेव्याः कटघटित कुटीकुड्य कोणैकदेशे
शीते संवाति वायौ हिमकणिनि रणद्दन्तपंक्तिद्रुयामः ।
पान्थः कन्थां निशीथे परिकुथित जरत्तन्तु सन्तान गुर्वीम्
ग्रीवापादाग्रजानु प्रहृग पटपटत्कर्पटां प्रावृणोति ॥ +
आघ्रायाघ्राय गन्धं विकृतमुख पुरोदर्शयन् दन्तपंक्ति
धावन्नुन्मुक्तनादो मुहुरपि रभसाऽकृष्य पृष्ठगामः ।

---

* पीटर्सन-वल्लभदेवकी सुभाषितावलि ११३–११८.
† " " " श्लो० ३२१४
‡ शार्ङ्गधरपद्धति श्लो० ५६७.
+ " " ११७०.

गर्दभ्याः पादघातद्विगुणित सुरव प्रीतिराकृष्ट शिभो
वेगादारुह्य मुक्तानवतरति स्वरः खण्डितेच्छश्चिराय ॥*

वियोग के समय की एक कहावत के रूप में बारहवाँ पद्य इस प्रकार है—

अनुदिनमभ्यासदृढे सोढुन्दीर्घोऽपि शक्यते विरहः।
प्रत्यासन्नसमागम मुहूर्त विघ्नोऽपि दुर्विषहः ॥†

अन्य बचे हुए पाँच पद्यों में से चार पुराणों की कथाओं से सम्बन्ध रखते हैं। उनके नाम इस प्रकार दिए जा सकते हैं—१ त्रिपुरासुर के नगर का दाह, २ उमा का क्रोध, ३ नरसिंह के नख, और ४ श्रीकृष्ण का स्वप्न। पद्य क्रम से इस प्रकार है—

संव्यानांशुक पल्लवेषु तरलं वेणीगुणेषुस्थितम्
मन्दंकञ्चुक संधिषु स्तनतटोत्सङ्गेषु दीप्तार्चिषम्।
आलोक्य त्रिपुरावरोधनवधूवर्गस्य धूमध्वजम्
हस्तस्रस्त शरासनो विजयते देवो दयार्द्रेक्षणः ॥‡

अन्यस्यै सम्प्रतीर्यं क्रुद्धमदनरिपो स्वाङ्गदानप्रसादम्
नाहं सोढुं समर्था शिरसि सुरनदीं नापि सन्ध्यां प्रणन्तुम्।
इत्युक्त्वा कोपविद्धां विघटयितुमुमामात्मदेहप्रवृत्तां
रुन्धानः पातु शम्भोः कुचकलशहठस्पर्शकृष्टो भुजो वः ॥×

असृक्स्रोतस्तरङ्गभ्रमिषु तरलिता मांसपङ्के लुठन्तः
स्थूलास्थिग्रन्थिभङ्गैर्घबलविसलता भासमाकल्पयन्तः।
मायासिंहस्य शौरेः स्फुरदरुण हृदम्भोज संश्लेष भाजः
पायासुदत्यवक्षस्थल कुहरसरो राजहंसा नखा वः॥ +

---

* वल्लभदेव की सुभाषितावलि श्लो० २४२२
† ,, ,, २०४५
‡ सदुक्तिकर्णामृत—१. १५. ३.
× सदुक्तिकर्णामृत—१. २८. ५.
+ सदुक्तिकर्णामृत—१. ४१. ३.

शम्भो स्वागतमास्यतामित इतो वामेन पद्मोद्भव
क्रौञ्चारे कुशलं सुखं सुरपते वित्तेश नो दृश्यसे।
इत्थं स्वप्नगतस्य कैटभरिपोः श्रुत्वा यशोदा गिरः
किं किं बालक जल्पसीत्यनुचितं थूथूकृतं पातु वः ॥ *

---

* सदुक्तिकर्णामृत—१. ५१. ३१.

(१३) हस्त-लिखित प्राचीन हिन्दी पुस्तकों की खोज की त्रैवार्षिक रिपोर्ट

(२)

(१९१७–१९१९)

[लेखक—श्रीयुक्त रायबहादुर बा० हीरालाल जी बी० ए० जबलपुर]

सन् १९१७–१९ में खोज का काम नीचे लिखे जिलों में किया गया था—

अलीगढ़, मथुरा, बुलन्दशहर, इलाहाबाद, प्रतापगढ़, रायबरेली, मेरठ, फर्रुखाबाद, फैजाबाद, (विशेषतया अवध प्रांत में) लखनऊ, भरतपुर और इन्दौर की रियासतों में।

सरस्वती भंडार, लक्ष्मणकोट, अवध, भरतपुर का सार्वजनिक पुस्तकालय और कालाकाँकर राज्य का पुस्तकालय विशेष महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय हैं। कुल मिलाकर ५८६ हस्त लिखित प्रतियाँ देखी गईं जिनमें से ६ हिन्दी भाषा की न थीं और १३२ सन् १८५० के पीछे की थीं, जो समय हमारी खोज से संबंध नहीं रखता। इस प्रकार कुछ संदेहात्मक लेखों को सम्मिलित करके पूर्ण संख्या ४४८ होती है। ११२ प्रतियों पर लेखकों का नाम नहीं दिया हुआ है, शेष ३३६ पुस्तकें २०६ विभिन्न लेखकों द्वारा लिखी गई हैं। कुछ थोड़ी सी हस्तलिखित पुस्तकें बहुत से कवियों की विविध कविताओं का संग्रह है; परंतु उनमें संग्रहकर्त्ता के नाम का कहीं उल्लेख नहीं है। निम्न लिखित सारिणी कवियों को शताब्दी के अनुसार विभक्त करती है—

पुस्तकों की संख्या	कवियों की संख्या	शताब्दी जिनमें कवि थे							
		१३वीं,	१४वीं,	१५वीं,	१६वीं,	१७वीं,	१८वीं	१९वीं	अज्ञात
३३६	२०६	१	१	१	१९	२७	६६	६६	२५

८. नाटक	...	...	...	...	१
९. जीवन चरित्र	...	...	...	...	९
१०. उपदेश	...	...	...	...	१३
११. राजनीतिक	...	...	...	...	२
१२. कोश	...	...	...	...	३
१३. ज्योतिष	...	...	...	...	९
१४. सामुद्रिक	...	...	...	...	२
१५. वैद्यक	...	...	...	...	८
१६. शालिहोत्र	...	...	...	...	१
१७. पाकशास्त्र	...	...	...	...	१
१८. कोक शास्त्र	..	...	...	...	४
१९. ऐतिहासिक	...	.	...	...	३
२०. कथा कहानी	...	...	...	...	४
२१. मंत्र आदि	...	...	...	...	४
२२. विविध	...	...	...	...	४७

इससे यह ज्ञात होगा कि आधी से अधिक हस्त लिखित प्रतियाँ धार्मिक विषय की हैं। उनकी संख्या ३८ दार्शनिक ग्रन्थों को सम्मिलित करके, जिनका संबंध हिंदी तथा जैन साहित्य में धर्म के साथ पूर्णतया रहा है, २८७ होती है। यहाँ इस बात का विचार रखना चाहिए कि देवी देवताओं की स्तुति, उनकी लीलाएँ तथा भेद, पौराणिक गाथाएँ भिन्न भिन्न मतों के पूजा करने के ढंग, धार्मिक गुरुओं और सुधारकों की कहावतें आदि धर्म के अन्तर्गत आ जाती हैं। धर्म-साहित्य का बाहुल्य भारतीय मनोभावों का द्योतक है तथा इस विश्वास की पुष्टि करता है कि इससे धर्मज्ञान की वृद्धि होगी, और लेखक की काव्य दोष के भयंकर परिणाम से रक्षा होती है, जिस दोष का लौकिक काव्य में होना लेखक को नष्ट भ्रष्ट कर देता है। भगवद्गीता और रामायण के

अनुवाद नाना प्रकार के छन्दों में, जिनमें से दोहे और चौपाइयाँ तुलसी-काल में अत्यन्त प्रचलित हो गई, छिप जाते थे; और यही उस समय के काव्य के प्रधान और रुचिकर विषय थे। कुछ पुस्तकें किसी देवी देवता की प्रशंसा के साथ साहित्य के अंग अलंकार, नायिका-भेद और पिंगल काव्य की उन्नति के उद्देश्य से लिखी गई थीं। अलंकार, नायिका भेद और पिंगल की पुस्तकों की संख्या से प्रकट होता है कि लोक-प्रियता के विचार से इसका स्थान दूसरा ठहरता है। इस खोज में १२ पुस्तकें पिंगल काव्य की, २१ नायिका भेद और अलंकार की तथा १४ शृंगार संबंधी हैं। और ये अपने विषय में प्राय: पूर्ण हैं। ११ हस्तलिखित पुस्तकें ज्योतिष संबंधी हैं, जिनमें अधिक संख्या सामुद्रिक तथा ग्रह संबंधी ग्रंथों की है। ४ पुस्तकें उपदेश की हैं जैसे नवयुवकों को उपदेश, तथा २ राजनीति की भी प्राप्त हुई हैं। यद्यपि इतिहास और जीवनी की १२ पुस्तकें मिली हैं, पर उनमें से अधिकतर या तो महाभारत की कथाओं से संबंध रखती हैं या किसी साधु की जीवनी या उसके चमत्कारों का वर्णन करती हैं। इनकी ओर भारतीयों की प्रवृत्ति बहुत कुछ परलोकवासी वैज्ञानिक सर जेम्स होबार्ड के समान थी, जिसने अपने अधिकार-पत्र में लिख दिया था कि न तो उसका जीवन चरित्र छपाया जाय और न कोई स्मृति-चिह्न उसका या उसके नाम पर बनाया जाय। इसी कारण हमारे लेखकों ने कुछ ऐसे पदों को छोड़ कर, जिन्हें उन्होंने अपने संरक्षकों की प्रशंसा में, उनको थोड़े समय के लिये प्रसन्न करने के विचार से, लिखा था, कोई इतिहास या जीवन चरित्र की पुस्तक लिखने का प्रयास नहीं किया। लगभग आठ हस्त लिपियाँ वैद्यक की इस खोज में सम्मिलित हैं, परन्तु वे मौलिक नहीं हैं। एक पुस्तक पाकशास्त्र की, जो एक बघेल खंड के राजा के लिए विशेष रूप से लिखी गई थी और जो स्वभावतः राजसी व्यंजनों का वर्णन करती है, प्राप्त हुई है। यद्यपि यह एक घरेलू विषय है, पर वैद्यक और शालिहोत्र की पुस्तकों की भाँति

कविता में लिखा गया है। प्राचीन काल में कविता न कर सकनेवाले लेखक की कोई गणना ही न होती थी। गद्य में लिखी हुई कुछ प्राप्त पुस्तकें वल्लभाचार्य्य के जीवन की घटनाओं या साधारण कथाओं का उल्लेख करती हैं।

यह त्रैवार्षिक रिपोर्ट हिन्दी साहित्य का आरंभिक काल निश्चित रूप से सन् ९४३ निर्धारित करती है। अब तक १२०० ई० के पूर्व के केवल आठ कवियों के नाम मालूम थे। सब से प्रथम हिंदी कवि पुण्ड या पुष्य का होना ७१३ ई० में कहा जाता है। दूसरा जो केवल अपनी जाति से ही प्रसिद्ध है और जो खुमान रासो का रचयिता कहा जाता है, सन् ८३० में था। यह पुस्तक इस समय अलभ्य हो गई है। १०८० में राजा नन्द को कविता करने का श्रेय प्राप्त है। उनके पीछे मासूद, कुतुब अली, साईंदास और अकराम फैज़ का नाम आता है, जिनका काल ११२३ से ११४८ तक का कहा जाता है। उपर्युक्त सातों कवियों में से किसी की भी एक पंक्ति तक नहीं मिलती। इनके पीछे चंद बरदाई का नाम है। इनकी कविता बृहत् है। इनका काल ११९१ ई० है। यह स्वाभाविक है कि ज्ञान की इस अवस्था में, दो कवियों का जिनकी कविता का काल ९४३ और ११९० प्रतीत होता है, पता लगने पर खोज विभाग के अध्यक्ष को परम प्रसन्नता हुई है। सब से पहला भुवाल है, जिसने दोहों और चौपाइयों में भगवद्गीता का अनुवाद किया और अपने ग्रंथ की तिथि इस प्रकार दी है—

संवत कर अब करौं बखाना। सहस्र सो संपूरन जाना॥
माघ मास कृष्णपच्छ भयऊ। दुतिया रवि तृतिया जो भयऊ॥

इसका अर्थ यह निकाला गया कि यह पुस्तक गत १००० विक्रम संवत् के माघ के कृष्ण पक्ष की द्वितीया, तृतीया लिए हुए, रविवार को आरम्भ की गई थी। इस बात के मिलान करने का उद्योग नहीं किया गया कि ये तिथियाँ उस संवत् के माघ मास के कृष्ण पक्ष के रविवार

संवत ठारह सै बरस बारह जेठ सुमास।
कृष्ण त्रयोदशि वार भृगु भयो ग्रंथ परकास॥

मोहनलाल की योग्यता के कवि के लिये 'सेतांजानों' का प्रयोग ४७ के स्थान में बिल्कुल बच्चों जैसा मालूम होता है। आगे चलकर सावन सुदी बिना तिथि वार दिए हुए निरर्थक हो जायगी। और इसमें आवश्यक मात्राओं से एक मात्रा अधिक भी है। प्रसंग से यह स्पष्ट है कि कवि अपनी पुस्तक की समाप्ति की पूरी तिथि देना चाहता था और सेतांजानो, सातेंलोना का पाठान्तर होगा। और साजन, सनष वा सनो (शनिवार) का अशुद्ध पाठ होगा। और दूसरी पंक्ति में गल्ती से 'सावन' के लिये साजन—मस्तिष्क को आनन्द देनेवाला मास (मनरंगी) रख दिया गया। मात्राओं के दोष को दूर करनेवाली ये अशुद्धियाँ यह बतलाती हैं कि १८०० विक्रमी के श्रावण शुक्ल पक्ष की सप्तमी वास्तव में शनिवार को पड़ी थी। इसकी पुष्टि आगे चलकर कुछ शब्दों और मुहावरों से होती है। यथा, "जुहार, अरद, जंगाली, रकेबी, हाल" "पंखा पवन ढुराइ" "पचि पचि रची सुधारि"। ये शब्द कठिनता से बारहवीं शताब्दि के कहे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त इस बात में कोई संदेह नहीं कर सकता कि मोहनलाल ने स्तुति के दोहे के शब्दों को केशवदास की 'रसिक प्रिया' से लिया है, जो संवत् १६४८ में लिखी गई थी। केशवदास की रसिक प्रिया की स्तुति छप्पय छंद में है जिसकी प्रथम दो पंक्तियाँ इस प्रकार है—

एक रदन गज बदन सदन बुधि मदन कदन सुत।
गवरि-नंद आनंदकंद जगवंद चंद युत॥

जब कि मोहनलाल अपनी स्तुति एक दोहे से इस प्रकार प्रारम्भ करता है—

एक रदन वारन बदन सदन बुद्धि गुण गेह।
गवरि-नंद आनंद दें मोहन प्रणति करेह॥

इन दोनों उद्धरणों में शब्दों की समानता आकस्मिक नहीं कही जा सकती। और इसमें संदेह नहीं कि एक ने दूसरे से अवश्य ही शब्द लिए हैं। तुलसी और सूर को छोड़कर, जिनकी तुलना चंद्रमा और सूर्य्यसे की गई है*, जुगनू के समान हिंदी कवियों में सर्व सम्मति से एक उज्वल तारे के सदृश समझे जानेवाले केशवदास, मोहन-लाल जैसे जुगनू की साहित्यिक चोरी के दोषी नहीं ठहराए जा सकते। अतः इसका निष्कर्ष स्वयंसिद्ध है कि मोहनलाल ने ही केशवदास से सहायता ली है। ऐसी अवस्था में मोहनलाल केशवदास से चार शताब्दी पूर्व नहीं हो सकते, वरन् वे पीछे के कवि होंगे। अतः १२०० की अपेक्षा १८०० उनके लिये अधिक उपयुक्त है। फिर भी हमें अन्तिम निश्चय के लिये पत्तली की दूसरी प्रति के मिलने तक की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

गोरखपुर में सन् १९०२ में भूपति कृत भागवत के दसवें स्कंध का दोहों और चौपाइयों में पद्यात्मक अनुवाद, कैथी लिपि में लिखा मिला था और वह उर्दू लिपि से नकल किया हुआ कहा जाता है। अंत का एक दोहा इस प्रकार है—

संवत तेरह सै भये चार अधिक चालीस।
मरगेसर सुद एकादसी बुद्धवार रजनीस॥

यह दोहा प्राप्त पुस्तक में इस प्रकार है—

संवत सतारा से भये चार अधिक चालीस।
मार्गशीर्ष एकादसी की ये बुधवार रजनीस॥

---

* मिलाइए

सूर सूर तुलसी शशी उडुगण केशवदास।
अबके कवि खद्योत सम जँह तँह करत प्रकास॥

यह १३४४ संवत् को १७४४ में बदल देता है, फिर भी एक ही तिथि को बुध और सोमवार दो दिन होने का कोई कारण नहीं बताता। एक और प्राप्त प्रति ठीक पाठ बतलाती है और कठिनाई दूर कर देती है। १८०१ में लिखी गई प्रति के अनुसार उपर्युक्त दोहा इस प्रकार है—

संवत सत्रह सै भये चार अधिक चालीस।
मृगसिर की एकादसी सुद्ध वार रजनीस॥

इसका तात्पर्य है कि पुस्तक संवत् १७४४ मार्गशीर्ष मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी को सोमवार के दिन समाप्त हुई थी। यह तिथि ईसवी सन् १६८७ की ५वीं दिसंबर सोमवार को पड़ी थी। उक्त एकादशी रविवार को प्रारंभ होकर सोमवार तक रही। विचित्र संयोग से संवत् १३४४ के उसी मास की एकादशी भी सोमवार को ही पड़ी थी; परंतु इसकी भाषा इतनी प्राचीनता को असत्य कर देती है। १९२२ की नागरीप्रचारिणी पत्रिका में इस विषय पर पूर्ण विचार किया गया है। सन् १९०२ में प्राप्त पहली हस्तलिखित प्रति, जो उर्दू की प्रति से नकल की गई थी, अशुद्धियों से परिपूर्ण थी; और केवल इसी में ७ के स्थान में १३ दिया गया था जो उर्दू भाषा में एक दूसरे से बड़ी समानता रखते हैं; और इसी

गए थे, शिष्य था। और कृष्ण की क्रीड़ाभूमि मथुरा में ही उसने उनके जीवन की घटनाओं का बतलानेवाला स्कंध छन्दोबद्ध किया था।

नीचे की पंक्तियों में इस खोज में उठाए गए परम आवश्यक प्रश्न क्रमानुसार दिए गए हैं। इस रिपोर्ट के साथ दिए हुए परिशिष्ट में कम महत्व के प्रश्न प्रत्येक ग्रन्थकर्त्ता के नाम के साथ दिए गए हैं। उनके यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं। अब हम इस रिपोर्ट द्वारा प्रकाशित महत्वपूर्ण बातों पर विचार करेंगे। २०६ ग्रंथकारों में से जिनके ग्रंथ मिले हैं, १०५ नवीन कवियों की श्रेणी में आते हैं; क्योंकि इनका नाम पहले की खोज की रिपोर्ट में नहीं पाया जाता। (नवीं अर्थात् अन्तिम रिपोर्ट इसमें सम्मिलित नहीं है; वह अब तक हवाले के लिये प्राप्त नहीं हुई है।) यह सत्य है कि हमारे नवीन कवियों में से कुछ का उल्लेख मिश्र बंधु विनोद या ग्रियर्सन की सूची में है, पर इनमें से बहुत से ऐसे भी हैं जिनका कहीं और पता भी नहीं चलता। इस खोज की यह विशेषता संतोषप्रद है। इससे उन उज्ज्वल कवियों का पता लगा है, जिनका ओर शताब्दियों से ध्यान नहीं दिया गया था। केवल कुछ कविय का, जिनकी कृति का हिन्दी-भाषी सज्जन बड़ी प्रसन्नता से स्वागत करेंगे, उल्लेख यहाँ किया जायगा। इनमें से एक मुसलमान कवि की भी कविता है, जिसे हिन्दी साहित्य में उच्च स्थान प्राप्त होना अनिवार्य है।

बहरियाबाद के अहमदुल्ला ने 'दक्षिण विलास' नामक ग्रन्थ लिखा था। 'दक्षिण' की उपाधि हिन्दी भाषा के काव्य में कुशल होने के कारण ही उसे मिली हुई मालूम होती है। (भाषा काव्य रसाल नामे दक्षिणपद पायो।) इसे उसने अपना उपनाम रख लिया। उसका काल सन् १७२२ है। उसके अपने वर्णन से ज्ञात होता है कि उसने बचपन में ही फारसी और अरबी की शिक्षा पाई थी और दूर दूर तक भ्रमण किया था। उसने विचारणीय पुस्तक को मदीने से लौटने

के पीछे लिखा था। परन्तु फिर भी प्रारम्भ में सरस्वती और गणेश जैसे हिन्दू देवी देवताओं की स्तुति की गई है, जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वह शुद्ध हो गया होगा; पर नहीं, वह कुरैशी वंश का था। अहमदुल्ला ने, इस उपाधि के प्राप्त करने से पूर्व जिसका उसे गर्व था, अवश्य ही बहुत सी कविताएँ लिखी होंगी, और जिसे प्रधानता देने के लिये उसने विचाराधीन पुस्तक को वही नाम दे दिया। वह कहता है कि मुझे हिन्दी कविता बहुत प्रिय है और इसी कारण मैंने यह पुस्तक लिखी। उसने दरिया की उपाधि प्राप्त करने से पूर्व ही कुछ अच्छी पुस्तकें या कविताएँ लिखी होंगी। अतएव आगे चलकर हमें उसकी लिखी हुई कुछ उत्तम पुस्तकों के मिलने की आशा रखनी चाहिए।

बहुत पुराना कवि नहीं है। उसने अपने चारो ग्रंथ १७८७ में लिखे थे, जो उसी के हाथ के लिखे हुए प्राप्त हुए हैं। उसने छोटे छोटे पद लिखे हैं, पर वे बड़े प्रभावोत्पादक हैं। उसकी चारो कविताएँ ११ पृष्ठ की हैं। वह उर्दू में भी शुद्ध हिंदी के समान कविता कर सकता था। उसने शिव की स्तुति उर्दू में लिखना अच्छा समझा। उसने शराब और गोश्त संबंधी कविता, कदाचित् उनसे घृणा करनेवाले पंडितों में उनका प्रचार करने के लिये, हिंदी में लिखी। उसकी कविता में एक विशेष प्रकार का हास्य रस है।

बेणीप्रसाद, नं० २१—इसने इस सन् १६९८ में पन्ना के प्रसिद्ध राजा छत्रसाल के लड़के राजा जगतराय के विनोद के लिये 'रस शृंगार समुद्र' लिखा। यह अपने विषय का बड़ा ही अच्छा लेखक है।

बिहारीदास, नं० २८—प्रसिद्ध बिहारी सतसई का नवीन टीकाकार है। उसने बिहारी के दोहों को बड़ी योग्यता से शृंगारित किया है। पहले विषय का परिचय गद्य में कराता है, पीछे अपनी कविता देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अंबिकादत्त व्यास बिहारीदास की टीका का अपने बिहारी विहार में उल्लेख करना भूल गए। बिहारी विहार में उन्होंने बिहारी के दोहों से संबद्ध सब प्रकार की सूचनाएँ एकत्र की हैं। उनकी संख्या जार्ज ग्रियर्सन और उनकी अपनी टीका को लेकर २८ होती है। उसमें १८ वीं शताब्दी के अंत तक की सूचनाएँ दी गई हैं। बिहारीदास का समय ज्ञात न हो, पर उनकी कविता व्रज भाषा में होने के कारण उनका व्रज भूमि में रहना सिद्ध होता है। मिश्र बंधु एक बिहारीदास व्रजवासी का नाम देते हैं। परंतु मालूम होता है कि उसी नाम के एक जैन कवि के सम्बन्ध में उनको भ्रम हो गया।

वृन्दावनदास, नं० ३४—स्वामी श्रीहित वृन्दावनदास चाचा के नाम से भी प्रख्यात हैं। (स्वामी श्रीहित उनके गुरु का नाम है और उस समय के गुरु गद्दी के मालिक के चाचा होने के कारण चाचा शब्द सम्मानसूचक

के पीछे लिखा था। परन्तु फिर भी प्रारम्भ में सरस्वती और गणेश जैसे हिन्दू देवी देवताओं की स्तुति की गई है, जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वह शुद्ध हो गया होगा; पर नहीं, वह कुरैशी वंश का था। अहमदुल्ला ने, इस उपाधि के प्राप्त करने से पूर्व जिसका उसे गर्व था, अवश्य ही बहुत सी कविताएँ लिखी होंगी, और जिसे प्रधानता देने के लिये उसने विचारणीय पुस्तक को वही नाम दे दिया। वह कहता है कि मुझे हिन्दी कविता बहुत प्रिय है और इसी कारण मैंने यह पुस्तक लिखी। उसने दक्षिण की उपाधि प्राप्त करने से पूर्व ही कुछ अच्छी पुस्तकें या कविताएँ लिखी होंगी। अतएव आगे चलकर हमें उसकी लिखी हुई कुछ उत्तम पुस्तकों के मिलने की आशा रखनी चाहिए।

अक्षयराम, नं० ४—बुंदेलखंडी कवि था। इसका विविध कविताओं का रचयिता होना पहले ज्ञात था, परंतु इस खोज में उसके ग्रंथ हस्तामलक वेदांत पर प्रकाश डाला गया है। इसकी शैली बहुत सुंदर है। संभव है कि विविध कविताएँ जो जन साधारण में प्रचलित हैं, उपर्युक्त पुस्तक की ही हों।

अवधूतसिंह, नं० ११—हुक्के, शराब और मांस का भारी समर्थक था। जान पड़ता है कि वह शाक्त था। 'वह देवी का आवाहन करता है, शिव की स्तुति करता है और उसने अपने खाने पाने की प्रिय वस्तुओं के समर्थन के लिये बहुत से प्रमाण दिए हैं, जिनका वह विशेषज्ञ था। वह कहता है कि मैं उस गोश्त और मांस का उल्लेख करता हूँ जिनका वर्णन वेद, पुराण, स्मृति, संहिता और उपनिषदों में आता है। सुरा की उत्पत्ति वह देवताओं से बतलाता है। हुक्कों को सम्पूर्ण आनंदों का भंडार कहता है। उसकी शैली बड़ी जोरदार है। यदि इस काल में वह जीवित होता तो किसी प्रकार का 'धरना' उसको रोक न सकता। वह

बहुत पुराना कवि नहीं है। उसने अपने चारो ग्रंथ १७८७ में लिखे थे, जो उसी के हाथ के लिखे हुए प्राप्त हुए हैं। उसने छोटे छोटे पद लिखे हैं, पर वे बड़े प्रभावोत्पादक हैं। उसकी चारो कविताएँ ११ पृष्ठ की हैं। यह उर्दू में भी शुद्ध हिंदी के समान कविता कर सकता था। उसने शिव की स्तुति उर्दू में लिखना अच्छा समझा। उसने शराब और गोश्त संबंधी कविता, कदाचित् उनसे घृणा करनेवाले पंडितों में उनका प्रचार करने के लिये, हिंदी में लिखी। उसकी कविता में एक विशेष प्रकार का हास्य रस है।

बेणीप्रसाद, नं० २१—इसने इस सन् १६९८ में पन्ना के प्रसिद्ध राजा छत्रसाल के लड़के राजा जगतराय के विनोद के लिये 'रस शृंगार समुद्र' लिखा। यह अपने विषय का बड़ा ही अच्छा लेखक है।

बिहारीदास, नं० २८—प्रसिद्ध बिहारी सतसई का नवीन टीकाकार है। उसने बिहारी के दोहों को बड़ी योग्यता से शृंगारित किया है। पहले विषय का परिचय गद्य में कराता है, पीछे अपनी कविता देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अंबिकादत्त व्यास बिहारीदास की टीका का अपने बिहारी विहार में उल्लेख करना भूल गए। बिहारी विहार में उन्होंने बिहारी के दोहों से संबद्ध सब प्रकार की सूचनाएँ एकत्र की हैं। उनकी संख्या जार्ज ग्रियर्सन और उनकी अपनी टीका को लेकर २८ होती है। उसमें १८ वीं शताब्दी के अंत तक की सूचनाएँ दी गई हैं। बिहारीदास का समय ज्ञात न हो, पर उनकी कविता ब्रज भाषा में होने के कारण उनका ब्रज भूमि में रहना सिद्ध होता है। मिश्र बंधु एक बिहारीदास ब्रजवासी का नाम देते हैं। परंतु मालूम होता है कि उसी नाम के एक जैन कवि के सम्बन्ध में उनको भ्रम हो गया।

वृन्दावनदास, नं० ३४—स्वामी श्रीहित वृन्दावनदास चाचा के नाम से भी प्रख्यात हैं। (स्वामी श्रीहित उनके गुरु का नाम है और उस समय के गुरु गद्दी के मालिक के चाचा होने के कारण चाचा शब्द सम्मानसूचक

लड़के बादशाह सलीम का नाम दिया है। इससे पता चलता है कि मिरजा सलीम के जहाँगीर नाम से अपने पिता का राज्य प्राप्त करने के तीन वर्ष पूर्व उसका नवीन नाम जौनपुर में भी, जहाँ का प्रतिलिपि लेखक रहनेवाला था, प्रख्यात न था। राज्याधिकार के संबंध में उठे हुए झगड़ों के कारण यह भी प्रतीत होता है कि उसने जान बूझ कर अपने नाम के साथ भूत पूर्व सम्राट् का सब से बड़ा पुत्र प्रसिद्ध किया हो, जिससे उसके संबंध में किसी को संदेह करने का अवसर प्राप्त न हो।

दयाकृष्ण, नं० ४६—मथुरा का अधिवासी ब्राह्मण था। इसने पिंगल और बलदेव विलास १८११ में लिखा। पद्माकर का अनुकरण करने और जहाँ कहीं सम्भव हो सका, उनके शब्दों को लेने के कारण इसका उल्लेख आवश्यक हो जाता है। जैसे "खासे खस खास के सुगँ-गजा सुबेस बने" पढ़कर कोई पद्माकर के "खासे खस खास रस-मोहन के ढेरे हैं" इत्यादि का स्मरण किए बिना नहीं रह सकता। इसी प्रकार किसी शिवराम नं० १७६ ने अपनी 'प्रेम पचीसी' में उसकी भाषा का अनुकरण किया है। उसका काल १७९० है। दो और नवीन कवि गणेशदत्त नं० ५५ और गणेश मिश्र नं० ५६ अनुप्रास के बड़े प्रेमी थे। पहले ने १७५५ में श्रीमद्भागवत अवतरणिका और दूसरे ने सुंदर छप्पय छन्दों में पद्माकर की शैली का अनुकरण करते हुए विक्रम-विलास लिखा है।

अब हम एक विचित्र साहित्यिक चोरी का उल्लेख करेंगे। १७०४ ई० में एक आनंदराम ने भगवद्गीता का छन्दों में अनुवाद किया और भूमिका की भाँति उसका परिचय पहले गद्य में कराया है। कुछ प्रतियों में गद्य भाग बिल्कुल छोड़ दिया गया है। जैसे इस संग्रह में—मातंगध्वजप्रसाद सिंह की प्रति में—गद्य पद्य दोनों हैं, परंतु प्यारेलाल हलवाई की प्रति में गद्य अंश बिल्कुल नहीं है। अनुवाद का [illegible] मूल के आधार पर 'परमानन्द प्रबोध' रचा गया है। यह आश्चर्यजनक है कि

लड़के बादशाह सलीम का नाम दिया है। इससे पता चलता है कि मिरजा सलीम के जहाँगीर नाम से अपने पिता का राज्य प्राप्त करने के तीन वर्ष पूर्व उसका नवीन नाम जौनपुर में भी, जहाँ का प्रतिलिपि लेखक रहनेवाला था, प्रख्यात न था। राज्याधिकार के संबंध में उठे हुए झगड़ों के कारण यह भी प्रतीत होता है कि उसने जान बूझ कर अपने नाम के साथ भूत पूर्व सम्राट् का सब से बड़ा पुत्र प्रसिद्ध किया हो, जिससे उसके संबंध में किसी को संदेह करने का अवसर प्राप्त न हो।

दयाकृष्ण, नं० ४६—मथुरा का अधिवासी *ब्राह्मण था।* इसने पिंगल और बरदेव विलास १८११ में लिखा। पद्माकर का अनुकरण करने और जहाँ कहीं सम्भव हो सका, उनके शब्दों को लेने के कारण इसका उल्लेख आवश्यक हो जाता है। जैसे "खासे खस खास के सुबँगला सुबेस बने" पढ़कर कोई पद्माकर के "खासे खस खास खसबीहन के ढेरे हैं" इत्यादि का स्मरण किए बिना नहीं रह सकता। इसी प्रकार किसी शिवराम नं० १७६ ने अपनी 'प्रेम पचीसी' में उसकी भाषा का अनुकरण किया है। उसका काल १७९० है। दो और नवीन कवि गणेशदत्त नं० ५५ और गणेश मिश्र नं० ५६ अनुप्रास के बड़े प्रेमी थे। पहले ने १७५५ में श्रीमद्भागवत अवतरणिका और दूसरे ने सुंदर छप्पय छन्दों में पद्माकर की शैली का अनुकरण करते हुए विक्रमविलास लिखा है।

अब हम एक विचित्र साहित्यिक चोरी का उल्लेख करेंगे। १७०४ ई० में एक आनंदराम ने भगवद्गीता का छन्दों में अनुवाद किया और भूमिका की भाँति उसका परिचय पहले गद्य में कराया है। कुछ प्रतियों में गद्य भाग बिल्कुल छोड़ दिया गया है। जैसे इस संग्रह में—मातंगध्वजप्रसाद सिंह की प्रति में—गद्य पद्य दोनों हैं, परंतु प्यारेलाल हलवाई की प्रति में गद्य अंश बिल्कुल नहीं है। अनुवाद का नाम मूल के आधार पर 'परमानन्द प्रबोध' रखा गया है। यह आश्चर्यजनक है कि

तथा प्रेम-प्रदर्शक है।) ये १८ वीं शताब्दी के भारी लेखक थे और इनको सैकड़ों हजारों पदों के लिखने का श्रेय प्राप्त है। पहले पहल खोज में इनके १४ ग्रंथों पर प्रकाश डाला गया था। उनमें से एक पुस्तक १७६८ की है। मिश्र बंधुओं ने विनोद में इनका उल्लेख करते हुए लिखा है कि उन्होंने छत्रपुर पुस्तकालय में रक्खे हुए इनकी पुस्तकों के संग्रह में १८००० छंद गिने थे। उनके अनुसार कवि का जन्म काल १७७० है, जो ठीक नहीं हो सकता, कारण यह कि उसकी एक पुस्तक 'रसिक यश वर्धन' उपर्युक्त समय से दो वर्ष पूर्व लिखी गई थी। कवि होने के कारण इनका बड़ा सम्मान था। सूरदास की प्रतिछाया तो नहीं, फिर भी इनकी कृति किसी प्रकार मध्यम श्रेणी की नहीं है।

चंद, नं० ३६—ने प्रसिद्ध हितोपदेश का अनुवाद दोहे और चौपाई में तुलसी रामायण से पूर्व सन् १५०६ में किया। ये एक अच्छे कवि हैं, पर इनकी तुलना कवि चूड़ामणि तुलसीदास से किसी प्रकार नहीं की जा सकती, जो सब काल के संपूर्ण कवियों से श्रेष्ठ हो गए हैं। यह ध्यान देने योग्य बात है कि एक काल में एक ही प्रकार के छंदों की प्रधानता रही। चंद का काल दोहों और चौपाइयों का काल था। यह बात कि ये तुलसीदास से पूर्व हुए और इन्होंने दोहों और चौपाइयों में बड़ी सफलतापूर्वक कविता की, विस्मरण करने योग्य नहीं है। १६०८ ई० में प्रतिलिपि की गई हस्तलिखित प्रति में सब से पहले 'वीतराग' की स्तुति की गई है, जिस से अनुमान हो सकता है कि चंद जैन संप्रदाय का था। पर वह शुद्ध, पवित्र हिंदू था, जैसा कि उसकी गणेश और शारदा की स्तुति से प्रकट होता है। प्रतिलिपि लेखक जैन बनिया होने के कारण जैन स्तुति को उसमें मिला देता है जो अब मूल लेख का अंश प्रतीत होने लगा है। उसने एक ऐतिहासिक घटना का वर्णन किया है जो उस समय के भाव को प्रदर्शित करती है। उसने उस समय के शासक की जगह अकबर के सब से बड़े

लड़के बादशाह सलीम का नाम दिया है। इससे पता चलता है कि मिरज़ा सलीम के जहाँगीर नाम से अपने पिता का राज्य प्राप्त करने के तीन वर्ष पूर्व उसका नवीन नाम जौनपुर में भी, जहाँ का प्रतिलिपि लेखक रहनेवाला था, प्रख्यात न था। राज्याधिकार के संबंध में उठे हुए झगड़ों के कारण यह भी प्रतीत होता है कि उसने जान बूझ कर अपने नाम के साथ भूत पूर्व सम्राट् का सब से बड़ा पुत्र प्रसिद्ध किया हो, जिससे उसके संबंध में किसी को संदेह करने का अवसर प्राप्त न हो।

दयाकृष्ण, नं० ४६—मथुरा का अधिवासी ब्राह्मण था। इसने *पिंगल और बल्देव विलास १८११ में लिखा।* पद्माकर का अनुकरण करने और जहाँ कहीं सम्भव हो सका, उनके शब्दों को लेने के कारण इसका उल्लेख आवश्यक हो जाता है। जैसे "खासे खस खास के सुबँगला सुबेस बने" पढ़कर कोई पद्माकर के "खासे खस खास खसमोहन के डेरे हैं" इत्यादि का स्मरण किए बिना नहीं रह सकता। इसी प्रकार किसी शिवराम नं० १७६ ने अपनी 'प्रेम पचीसी' में उसकी भाषा का अनुकरण किया है। उसका काल १७९० है। दो और नवीन कवि गणेशदत्त नं० ५५ और गणेश मिश्र नं० ५६ अनुप्रास के बड़े प्रेमी थे। पहले ने १७५५ में श्रीमद्भागवत अवतरणिका और दूसरे ने सुंदर छप्पय छन्दों में पद्माकर की शैली का अनुकरण करते हुए विक्रम-विलास लिखा है।

अब हम एक विचित्र साहित्यिक चोरी का उल्लेख करेंगे। १७०४ ई० में एक आनंदराम ने भगवद्गीता का छन्दों में अनुवाद किया और भूमिका की भाँति उसका परिचय पहले गद्य में कराया है। कुछ प्रतियों में गद्य भाग बिल्कुल छोड़ दिया गया है। जैसे इस संग्रह में—मार्तंगध्वजप्रसाद सिंह की प्रति में—गद्य पद्य दोनों हैं, परंतु प्यारेलाल हलवाई की प्रति में गद्य अंश बिल्कुल नहीं है। अनुवाद का नाम मूल के आधार पर 'परमानन्द प्रबोध' रखा गया है। यह आश्चर्यजनक है कि

तथा प्रेम-प्रदर्शक है।) ये १८ वीं शताब्दी के भारी लेखक थे और इनको सैकड़ों हजारों पदों के लिखने का श्रेय प्राप्त है। पहले पहल खोज में इनके १४ ग्रंथों पर प्रकाश डाला गया था। उनमें से एक पुस्तक १७६८ की है। मिश्र बंधुओं ने विनोद में इनका उल्लेख करते हुए लिखा है कि उन्होंने छत्रपुर पुस्तकालय में रक्खे हुए इनकी पुस्तकों के संग्रह में १८००० छंद गिने थे। उनके अनुसार कवि का जन्म काल १७७० है, जो ठीक नहीं हो सकता, कारण यह कि उसकी एक पुस्तक 'रसिक यश वर्धन' उपर्युक्त समय से दो वर्ष पूर्व लिखी गई थी। कवि होने के कारण इनका बड़ा सम्मान था। सूरदास की प्रतिछाया तो नहीं, फिर भी इनकी कृति किसी प्रकार मध्यम श्रेणी की नहीं है।

चंद, नं० ३६—ने प्रसिद्ध हितोपदेश का अनुवाद दोहे और चौपाई में तुलसी रामायण से पूर्व सन् १५०६ में किया। ये एक अच्छे कवि हैं, पर इनकी तुलना कवि चूड़ामणि तुलसीदास से किसी प्रकार नहीं की जा सकती, जो सब काल के संपूर्ण कवियों से श्रेष्ठ हो गए हैं। यह ध्यान देने योग्य बात है कि एक काल में एक ही प्रकार के छंदों की प्रधानता रही। चंद का काल दोहों और चौपाइयों का काल था। यह बात कि ये तुलसीदास से पूर्व हुए और इन्होंने दोहों और चौपाइयों में बड़ी सफलतापूर्वक कविता की, विस्मरण करने योग्य नहीं है। १६०८ ई० में प्रतिलिपि की गई हस्तलिखित प्रति में सब से पहले 'वीतराग' की स्तुति की गई है, जिस से अनुमान हो सकता है कि चंद जैन संप्रदाय का था। पर वह शुद्ध, पवित्र हिंदू था, जैसा कि उसकी गणेश और शारदा की स्तुति से प्रकट होता है। प्रतिलिपि लेखक जैन बनिया होने के कारण जैन स्तुति को उसमें मिला देता है जो अब मूल लेख का अंश प्रतीत होने लगा है। उसने एक ऐतिहासिक घटना का वर्णन किया है जो उस समय के भाव को प्रदर्शित करती है। उसने उस समय के शासक की जगह अकबर के सब से बड़े

कवि धर्मदास नं० ४८ अपने महाभारत में संयोग वश बादशाही सम्वत् ८० का मेल संवत् १७११ वि० या सन् १६५४ ई० से बतलाता है। यह स्पष्ट रीति से अकबर के उस इलाही संवत् का बोध कराता है जो उसके पीछे बहुत समय तक प्रयुक्त होता रहा था।

एक जैन कवि बनारसीदास ने सन् १६१६ ई० में महामारी का प्रकोप होना इस प्रकार लिखा है—

> इस ही समय ईति बिस्तरी। परी आगरें पहिली मरी॥
> जहाँ तहाँ सब भागे लोग। परगट भया गाँठ का रोग॥
> निकसै गाँठ मरे छिनमाहि। काहू की बसाय कछु नाहिं॥
> चूहे मरें बैद मर जाहि। भय सों लोग अन्न नहिं खाहि॥

कहने का अभिप्राय यह है कि यह मरी का रोग सब से पहले आगरे में हुआ और लोग चटपट मरने लगे। चूहों और वैद्यों की भी इसी प्रकार इति श्री होने लगी। लोग डर के मारे भोजन तक नहीं करते थे और घर छोड़ कर भागते थे। समकालीन कवियों की कृतियों से प्राप्त इस प्रकार की सामग्री बहुत मूल्यवान् सिद्ध होगी। परंतु यदि एक खोज के अध्यक्ष से इस बात की आशा न की जा सकती हो तो भी पुस्तकों से प्राप्त तिथियों की व्याख्या करना बहुत कठिन नहीं है।

इस रिपोर्ट में चार परिशिष्ट हैं। पहला लेखकों की वर्णानुक्रम से एक विस्तृत सूचना देता है और दूसरा, आकार, विषय, रूप, लिपि और वर्णन के ढंग आदि के सहित उनकी कृतियों के उद्धरणों का परिचय कराता है। पिछली रिपोर्ट के आधार पर उन हस्त-लिखित प्रतियों के संबंध में भी, जिनके लेखकों के नाम का पता नहीं लगा है, आवश्यक विवरण तीसरे परिशिष्ट में दिया गया है और उसी के अंत में उसका सार भी थोड़े में जोड़ दिया गया है। वर्तमान नियम के अनुसार १८५० ई० के पीछे की प्रतियों की परीक्षा करना अनावश्यक था। परंतु मालूम

हरिवल्लभ का पद्यात्मक अनुवाद, निम्न लिखित दोहे को छोड़ कर, अक्षरशः आनन्दराम के अनुवाद से मिल जाता है। हरिवल्लभ लिखता है—

हरि वल्लभ टीका रच्यो गीता रुचिर बनाइ।
लश चारु सब ने कियो अष्टादश अध्याय॥

(मिलाओ नं०-९० सर्च रिपोर्ट, १९०२) जब कि आनंदराम लिखता है—

परमानन्द अबोध यह कीन्हों आनँदराम।
पढ़े गुने या को सुने सो पावै प्रभु धाम॥

यह एक से अधिक स्थानों पर अपना नाम लेखक के रूप में रखता है और दूसरे छंद में ग्रंथ-रचना का समय देता है। भिन्न भिन्न स्थानों से प्राप्त चार प्रतियों में आनंदराम ही उसका रचयिता दिखलाया गया है। (देखो सर्च रिपोर्ट नं० ८४ सन् १९०१, तथा नं० १२७ सन् १९०६-८) और इसके विरुद्ध तीन प्रतियों में (देखो सर्च रिपोर्ट नं० ९० सन् १९०२ तथा नं० २६ सन् १९०६-८) हरिवल्लभ उसका अनुवादक सिद्ध होता है। कदाचित् अपने नाम को अमर बनाने के लिये, आनन्दराम ने, प्रारंभ में तीन बार अपने को लेखक लिखा है; और अंत में भी तीन या इससे भी अधिक बार, स्थान का ध्यान किए बिना ही अपना नाम घुसेड़ देने की कोशिश की है। हरिवल्लभ ने शिष्टता के कारण केवल एक बार अपना नाम अंत में दिया है। झूठे ही बहुत कुछ दिखाने की बातें करते हैं। अतएव जब तक दोनों नाम एक ही मनुष्य के न हों, आनंदराम दोषी साबित होता है।

यहाँ तक का विचार केवल काव्य-कला की दृष्टि से ही किया गया है। पर इनके दूसरे पक्ष भी हैं, जिनमें से एक का उल्लेख बादशाह सलीम के संबंध में ऊपर किया जा चुका है। इसी प्रकार

कवि धर्मदास नं० ४८ अपने महाभारत में संयोग वश बादशाही सम्वत् ८० का मेल संवत् १७११ वि० या सन् १६५४ ई० से बतलाता है। यह स्पष्ट रीति से अकबर के उस इलाही संवत् का बोध कराता है जो उसके पीछे बहुत समय तक प्रयुक्त होता रहा था।

एक जैन कवि बनारसीदास ने सन् १६१६ ई० में महामारी का प्रकोप होना इस प्रकार लिखा है—

इस ही समय ईति बिस्तरी। परी आगरें पहिली मरा॥
जहाँ तहाँ सब भागे लोग। परगट भया गाँठ का रोग॥
निकसै गाँठ मरे छिनमाहि। काहू की बसाय कछु नाहिं॥
चूहे मरें वैद मर जाहिं। भय सों लोग अन्न नहिं खाहिं॥

कहने का अभिप्राय यह है कि यह मरी का रोग सब से पहले आगरे में हुआ और लोग चटपट मरने लगे। चूहों और वैद्यों की भी इसी प्रकार इति श्री होने लगी। लोग डर के मारे भोजन तक नहीं करते थे और घर छोड़ कर भागते थे। समकालीन कवियों की कृतियों से प्राप्त इस प्रकार की सामग्री बहुत मूल्यवान् सिद्ध होगी। परंतु यदि एक खोज के अध्यक्ष से इस बात की आशा न की जा सकती हो तो भी पुस्तकों से प्राप्त तिथियों की व्याख्या करना बहुत कठिन नहीं है।

इस रिपोर्ट में चार परिशिष्ट हैं। पहला लेखकों की वर्णानुक्रम से एक विस्तृत सूचना देता है और दूसरा, आकार, विषय, रूप, लिपि और वर्णन के ढंग आदि के सहित उनकी कृतियों के उद्धरणों का परिचय कराता है। पिछली रिपोर्ट के आधार पर उन हस्त-लिखित प्रतियों के संबंध में भी, जिनके लेखकों के नाम का पता नहीं लगा है, आवश्यक विवरण तीसरे परिशिष्ट में दिया गया है और उसी के अंत में उसका सार भी थोड़े में जोड़ दिया गया है। वर्तमान नियम के अनुसार १८५० ई० के पीछे की प्रतियों की परीक्षा करना अनावश्यक था। परंतु मालूम

होता है कि इसका विस्मरण हो जाने के कारण १३२ पुस्तकें इस काल की भी भ्रमण करनेवाले एजेन्टों ने देखी हैं। कुछ पुरानी रिपोर्टों में ऐसी पुस्तकों के लेखकों की सूची एक परिशिष्ट में दी गई है। इसी प्रकार की सूची परिशिष्ट नं० ४ में लगा दी गई है, परंतु विस्तृत व्याख्या छोड़ दी गई है। अंत में लेखकों तथा हस्तलिपियों के लेखकों की एक सूची पहले की भाँति जोड़ दी गई है।

---

(१४) मातृगुप्त

[लेखक—पंडित शिवदत्त शर्मा, अजमेर।]

प्राचीन काल में मातृगुप्त नामक एक उत्तम कवि और कश्मीर देश का राजा हो चुका है। यह किसी राजकुल में नहीं उत्पन्न हुआ था; साधारण ब्राह्मण था, परंतु विद्या, बुद्धि, धैर्य और श्रम का अपार भंडार था। यह कई राजाओं के दरबारों में रह चुका था, परंतु शकों के विजेता चक्रवर्ती विक्रमादित्य की दिगन्त कीर्ति और उनके गुणियों से सुलभता पूर्वक मिलने की चर्चा से आकर्षित होकर उज्जैन आया। यह राजा अद्भुत सौभाग्यशाली था। इसकी लक्ष्मी के गुण को बढ़ाने में उपकरण बनने से ही लक्ष्मीवानों में गुणवान उन्नत-स्कन्ध हुए।

मातृगुप्त ने यहाँ आकर देखा कि इस राजा के दरबार में सत्वज्ञ सूरियों को मान और विशेषता प्राप्त करने के लिये अंजलि उपस्थित करने की आवश्यकता नहीं। यह राजा युक्त और अयुक्त का विवेचन करनेवाला तथा सज्जनों का उत्साहवर्धक है; अतः इसकी सेवा में गुण अनर्थकता को प्राप्त नहीं हो सकते। इसके राज मंडल में कोई मिथ्या प्रतिष्ठावाला, कलह-प्रिय, असत्यवादी अथवा घूस लेनेवाला अमात्य नहीं है। न इसके सेवक कटुभाषी अथवा दूसरे के प्रवेश को न सहनेवाले हैं। यह राजा ऐसे लोगों का, जो अपनी विद्या की अपने आप प्रशंसा किया करते हैं और अपने को सर्वज्ञ प्रसिद्ध करते हैं, मुख तक नहीं देखता। किसी का साहस नहीं कि इससे प्रारम्भ हुए संलाप को काट दे। इन कारणों से उसने सर्व दोष-रहित इस

शिरोमणि राजा की भक्तिपूर्वक सेवा करना समुचित समझा। उसने नए लोगों की तरह सभा का रंजन करना अथवा गुणियों की गोष्ठियों में विशेष प्रयत्न से प्रवेश कर प्रतिष्ठा पाने की चेष्टा करना अपना प्रमुख कर्तव्य नहीं समझा।

महाराज विक्रमादित्य गम्भीर, गुणज्ञ और स्थिर-बुद्धि थे। जब मातृगुप्त अपने गुणों को मृदु रूप से दिखाने लगा, तब उन्होंने तुरंत पहचान लिया कि यह व्यक्ति अपनी विशिष्ट योग्यता के प्रकाश करने का सुअवसर प्राप्त करने की चिंता में है; और इस विचार से उन्होंने उसे ऐसी उदार सत्क्रिया से समलंकृत नहीं किया जैसा कि उस जैसे पुरुष को करना चाहिए था। मातृगुप्त भी इस अनुपचार से उदात्त आशय-वाले नृप को अपने गुणों का स्वीकार करनेवाला मान विशेष प्रीति से से सेवा करने लगा। न तो वह कवि राजा के पास अधिक देर तक ठहरता, न शीघ्र ही वहाँ से उठकर चला आता। न वह कभी द्वारपालों के दुर्व्यवहार से व्यथित, न राज सेवकों के परिहास से पीड़ित न राज वल्लभों की प्रशंसाओं से प्रमुदित होता। यदि कभी प्रसन्न होकर राजा इसकी प्रशंसा करते, तो वह छाया को ग्रहण करनेवाले पर्वत के समान अचल रहता; और यदि कभी प्रशंसा करने के अवसर पर वे मौन रहते, तो भी वह अपने मन में किसी प्रकार की उदासीनता नहीं उत्पन्न होने देता। न वह राजदासियों को देखता, न राज-द्वेषियों के साथ बैठता, न राजा के सामने कभी हीन पुरुष के साथ वार्तालाप करता, यहाँ तक कि पैशुन्य-जीवी राजपुरुष, जो स्वभाव से ही राजनिन्दक होते हैं, इसके मुख से कभी राजा के प्रति उपालम्भ नहीं सुन सके। जो लोग इसकी राजसेवा के उत्साह को नहीं सह सकते थे, वे मीठे बनकर बड़ी श्रद्धा से इससे यह न कहते कि इस राजा की सेवा करना व्यर्थ है; और इस प्रकार वे इसके उत्साह में किंचित् भी शिथिलता उत्पन्न न कर सकते थे। प्रसंगवश अपनी विद्या का चमत्कार दिखाने के साथ

बिना किसी संकोच के औरों के उत्कर्ष का भी मुक्तकंठ से वर्णन करने के कारण वह सभ्यों का प्रेम-पात्र बन गया। इस प्रकार सपरिश्रम सेवा करते हुए उसे एक वर्ष हो गया।

एक दिन राजा की सवारी कहीं बाहर जा रही थी। राजा को मार्ग में कृशगात्र, धूसर और जीर्ण वस्त्र पहने हुए मातृगुप्त दिखाई पड़ा। उसे ऐसी दीन दशा में देखकर राजा ने मन में विचार किया कि मैंने इस निःशरण, बन्धुहीन, गुणवान् विदेशी को इस की विशेष परीक्षा के लिये कितना कष्ट दिया है! क्या इसका आश्रय है, क्या यह खाता पीता है, क्या पहनता है इत्यादि बातों का मैंने तनिक भी विचार नहीं किया। हाय! इस पुरुषपादप को, जो शीत वायु और तीव्र ताप से सूखता जा रहा है, अभी तक मैंने वसन्त के सदृश शोभा से युक्त नहीं किया। यह निर्धन है; यदि रोगी हो जाय तो इसकी औषधि कौन करे? उदास हो तो इसके मन को प्रसन्न कौन करे? थक जाय तो इसकी थकान कौन उतारे? मैं किस प्रकार इस गुणी की तीव्र सेवा के ऋण से उऋण होऊँ? राजा बहुत देर तक सोचता रहा, परंतु उसकी समझ में कोई प्रसाद इसके योग्य नहीं जँच सका। कितने ही दिन बीत गए और हिम ऋतु का आगमन हुआ। खूब ठंढ पड़ने लगी। दिन छोटे होने लगे; क्योंकि भास्कर मानो शीत से पीड़ित और बड़वानल तापने के अभिलाषी हो शीघ्र समुद्र में प्रवेश करने लगे।

एक बार राजा को आधी रात में चेत हो आया और उन्होंने हेमन्त की सनसनाहट करती हुई वायु से महल के दीपकों को काँपते हुए तथा बुझते हुए देखा और उनकी बत्तियाँ ऊँची कराने तथा बुझे हुओं को प्रदीप्त कराने के विचार से कहा—पहरे पर कौन है? दैव योग से उस घड़ी सब पहरेदार सोए हुए थे; इसलिये किसी से कुछ भी उत्तर नहीं मिला। केवल बाहर की ड्योढी से "महाराज! मातृगुप्त उपस्थित है" ऐसा शब्द सुनाई पड़ा। राजा ने कहा अच्छा, यहाँ आओ। वह शब्द सुनते ही आया

और राजा के आज्ञानुसार दीपकों को यथोचित प्रज्वलित कर बाहर जाने ही को था कि राजा ने कहा—तनिक ठहरो। शीत और शंका से काँपते हुए शरीर और मनवाला मातृगुप्त राजा के सम्मुख आया। राजा ने पूछा—रात कितनी है? उसने उत्तर दिया कि डेढ़ प्रहर शेष है। राजा ने यह उत्तर सुनकर पूछा कि तुमने समय सम्यक् रूप से कैसे बतलाया और तुमको रात में नींद क्यों नहीं आई? बस, यह अवसर प्राप्त करते ही अपनी अवस्था निवेदन कर आशा अथवा दैन्य के त्यागने के संकल्प से आशु कवि मातृगुप्त ने तुरंत निज निर्मित श्लोक द्वारा निवेदन किया कि शीतसे आक्रान्त हो ओठ काँपने से, क्षुधा से कंठ सूख जाने से, चिन्ता रूपी समुद्र में डूबता हुआ मैं बुझती हुई आग को फूँक रहा था। ऐसी दुर्दशा में अपमानित की हुई दयिता के समान निद्रा मुझको त्याग कर भाग गई; परंतु सत्पात्र को दान दी हुई वसुधा के समान इस निशा की इति नहीं होती। तदनन्तर राजा ने कवि की प्रशंसा कर उसके परिश्रम के लिये धन्यवाद दे उसे सो विदा किया, परंतु आप अपनी शय्या पर लेटे लेटे मन में सोचने लगा कि मुझे धिक्कार है। इस खिन्न मन गुणी के ऐसे दुःख से तप्त वचन सुनकर भी मैं ज्यों का त्यों स्थित हूँ। निस्सन्देह यह बेचारा मेरे धन्यवाद को निरर्थक समझ अधिक दुखी हो बाहर बैठा होगा। मैं चिरकाल से इस नर-रत्न के योग्य सत्क्रिया के निरूपण करने का पूर्ण प्रयत्न कर रहा हूँ; परंतु कौन सी बहुमूल्य भेंट करूँ, यह अभी तक निर्णय नहीं कर सका हूँ; परन्तु इसके श्लोक से ही अब याद आता है कि काश्मीर मंडल इस समय राजा-रहित * है। यों तो कई बड़े

* युधिष्ठिर सम्वत् ३१८२ में काश्मीर देश का हिरण्य नामक राजा ३० वर्ष और २ मास राज्य कर स्वर्ग को सिधारा था और उसके कोई सन्तान न होने से राजसिंहासन पर कौन बैठाया जाय, यह कठिन प्रश्न उपस्थित हुआ। वहाँ के मन्त्रियों ने यह विषय विक्रमादित्य (प्र० द्वि० नाम हर्ष) की सेवा में, जो उस समय चक्रवर्ती राजा थे और उज्जैन-नगरी में राज्य करते थे, उपस्थित किया था।

राजा उस काम्य भूमि के लिये लालायित हैं, परंतु क्यों न मैं उसे इस सुपात्र की भेंट कर दूँ ? राजा ने इस विषय में दृढ़ निश्चय कर उसी रात को कश्मीर देश को दूत भेजे और वहाँ के मंत्री मंडल को कहलाया कि जो मेरा शासन दिखलावे और अपना नाम मातृगुप्त बतलावे, उसे आप नि:शंक सिंहासन पर बैठा दें। दूतों को बिदा कर राजा ने तुरंत अपना शासन लिखवा दिया और अपने को कृतकृत्य समझ शेष रात शान्तिपूर्वक बिताई।

मातृगुप्त ने तो राजा के संलाप को भी निष्फल गिन निराश ग्रहण कर भार को त्यागे हुए के समान अपनी आत्मा को समझा। उसने सोचा कि जगत् में व्यर्थ ही इस राजा की इतनी प्रशंसा हो गई है। यह तो ऐसा उलट पुलट है, जैसे पवनाहारी को भोगी और अग्नि के आकार को शमी कहना। परंतु फिर धैर्यपूर्वक विचार करने से उसे प्रतीत हुआ कि यह राजा अपने प्रीति-पात्रों के निवास स्थानों को लक्ष्मी के निवासस्थान बनाए हुए है। ऐसी दशा में इस दानशील निष्क-लंक का तो कोई दोष नहीं, मेरा ही अपुण्य प्रतिबन्ध किए हुए है; क्योंकि दान देने के लिये लहरी रूपी हाथों में रत्नों को लिए हुए समुद्र को यदि पवन किनारे तक आने से रोक दे, तो यह अर्थियों का नितान्त भाग्य विपर्यय है। दाता की दातारी में रत्ती भर भी दोष नहीं गिना जा सकता। मातृगुप्त ने यह भी सोचा कि मनुष्यों का इच्छा-सिद्धि के लिये राजा की अपेक्षा राजोपजीवियों की सेवा करना किसी कदर अच्छा है; क्योंकि उसकी सफलता में तीव्र क्लेश नहीं होता। उदाहरणार्थ देखो जो पशुपति की सेवा करते हैं, उन्हें भस्म के अतिरिक्त भट से और क्या मिल जाता है ? परंतु जो उनके उपजीवो नन्दी बैल के चरणों में उपस्थित होते हैं, वे समुज्ज्वल सुवर्ण प्राप्त करते हैं*; और फिर उनके

* कहते हैं कि नन्दी का भव्य जिस पाषाण को स्पर्श करता है, वह स्वर्ण हो जाता है।

लिये कौन से सुमंगल शेष रह जाते हैं ? कवि ने फिर अपने आचरण की आलोचना की, परंतु उसे अपनी कोई ऐसी न्यूनता नहीं प्रतीत हुई जिसके कारण वह राजा की निरपेक्षता को न्याय-संगत स्वीकार कर सकता। अन्त में वह इस निर्णय पर पहुँचा कि मैं उज्जैन में किसी दूसरे राजा से सम्मानित होकर नहीं आया; कदाचित् इसी लिये इस राजा का सम्मान-भाजन नहीं बना। समुद्र के वे ही जल-बिन्दु, जो उसके तल में सदा इधर से उधर मारे मारे फिरते हैं, जब मेघों द्वारा ऊपर उठा लिए जाते हैं और फिर वापस भेजे जाते हैं, तब तरंग-रूपी भुजाओं द्वारा गाढ़ आलिंगन किए जाकर तुरंत मोती बना दिए जाते हैं। सब यही नियम है कि छोटा या भी व्यक्ति जो किसी एक से सत्कृत हुआ है, वह अवश्य दूसरे बड़े स्वामी का भी सत्कार-भाजन बन जाता है। ऐसा विचार कर वह उस सेव्य राजा में मन्द-आदर हो गया, क्योंकि खिन्न हुए ज्ञानी की भी मति ठिकाने नहीं रहती।

प्रभात होने पर महाराज विक्रमादित्य ने प्रतिहार द्वारा मातृगुप्त को सभा मंडप में बुलवाया और अपने लेखाधिकारी से लेख लेकर पूछा कि क्या आप कश्मीर से परिचित हैं? यदि हैं, तो वहाँ जाकर इस शासन को वहाँ के अधिकारियों को दे दें; परंतु शपथ है, इसको किसी हालत में भी खोलकर न देखें। मातृगुप्त को इस शासन का आशय ज्ञात नहीं था; अतः मार्ग में क्लेश की शंका कर उसने इसे–अग्नि की ज्वाला, न कि प्रतिभा-संपन्न रत्न, समझा। कवि "जो आज्ञा" कहकर विदा हुआ और राजा बिना किसी गर्व के पूर्ववत् दरबार में विद्यमान मंत्रियों से संलाप करने लगा।

लोगों ने इस दुर्बल, यात्रा के योग्य साधना से हीन, जान पहचान न रखनेवाले मातृगुप्त को ऐसे कड़े आदेश को प्राप्त करते हुए देख राजा की निन्दा की। वे कहने लगे कि आश्चर्य है कि एक मामूली मनुष्य के करने योग्य काम पर राजा ने इस गुणी को नियोजित कर दिया।

कैसे कैसे क्लेशों को सहता हुआ यह बेचारा राज-सेवा कर रहा था। इसके साथ तो ऐसा हुआ, जैसे सुखार्थी शेष ने गरुड़ के भय से बचने के विचार से अपने शरीर को शय्या स्वरूप बना विष्णु की सेवा की। परंतु जब उनको इसकी क्लेश सहने की शक्ति का परिचय हुआ, तो सुख देना तो दूर रहा, उलटे उस पर अति श्रमदायी और निरवधि धरा-भार लाद दिया।

मातृगुप्त यात्रा कर रहा था, परंतु उसे भावी सौभाग्य का पता नहीं था। पर फिर भी मार्ग में अनुकूल निमित्तों के मिलने से उसे आश्वासन था और वह श्रम को सहर्ष सहता जाता था। उसने सोचा कि यदि मुझे कश्मीर में तनिक भी लाभ प्राप्त हुआ, तो वह लाभ उस देश के माहात्म्य के कारण कहीं अधिक गौरवपूर्ण मानने के योग्य होगा। उसे इस कश्मीर यात्रा में जो पथ मिले, वे सुगम मिले, जो गृह मिले वे अतिथि सत्कारक पुरुषोंवाले मिले और स्थान स्थान पर उसका आदर हुआ।

इस प्रकार चलते चलते उसे सुन्दर सुन्दर वृक्षों और वनस्पतियों से सुशोभित पर्वतराज हिमाचल दृष्टिगोचर हुआ जो अपनी अपूर्व प्रतिभा से ऐसा प्रतीत होता था मानों मंगल दधिपात्र लिए आवभगत करता हो। गंगा के शीतल जल से लदी हुई और सुंदर पुष्पों से सुगंधित उस देश की, जिस पर उसे शासन करना था, सुन्दर समीर उससे मिलने आई और उसके मन को परम प्रमुदित करने लगी। तदनन्तर वह क्रमवर्त नामक देश में आया और काम्बुव नामक चौकी पर पहुँचा। नाना जनपदों के पुरुष उस समय वहाँ विद्यमान थे। उसे पता लगा कि किसी कारण विशेष से कश्मीर के मन्त्रीगण इसी स्थान पर आए हुए हैं। उसने वहाँ पर मार्ग में पहने हुए मैले वस्त्र उतार दिए और उज्ज्वल वस्त्र धारण कर राजा का शासन-देने के विचार से उनके समीप प्रस्थान किया। द्वारपालों ने यह जानते ही कि महाराज विक्रमादित्य

का दूत आया है, तुरंत मंत्रियों को सूचना दी। वे सब इसे देखते ही सविनय "आइए! पधारिए, पधारिए" कहने लगे। मातृगुप्त सब लोगों से यथोचित सत्कार ग्रहण कर मंत्रियों द्वारा निर्दिष्ट उच्च आसन पर विराजा। उनके नम्रतापूर्वक पूछने पर कि महाराज की क्या आज्ञा है, इसने शालीनतापूर्वक धीरे से उनको राजशासन समर्पण कर दिया। उन्होंने बड़े आदर के साथ वह पत्र ग्रहण किया और अलग मिलकर उसे पढ़ फिर यहाँ आकर बोले कि श्रीमान का शुभ नाम मातृगुप्त है? उसने इस पर मंद मुसक्यान से हाँ कहा। तदनन्तर उन्होंने सेवकों को आज्ञा दी, जिन्होंने तुरंत राज्याभिषेक की सामग्री सामने लाकर उपस्थित कर दी। बस, क्षण भर में वह स्थान नाना पुरुषों से समाकुलित हो उमड़े हुए समुद्र के समान हो गया। पूर्वाभिमुख सुवर्ण के भद्रपीठ पर प्रतिष्ठित मातृगुप्त का प्रकृति ने अभिषेक किया। उसकी विन्ध्याचल के समान चौड़ी छाती पर शब्दपूर्वक बहता हुआ अभिषेक का जल रेवा नदी के समान सुशोभित हुआ। स्नान के अनन्तर उसके शरीर पर तेल फुलेल लगाए गए और सब अंगों में सुन्दर आभूषण पहनाए गए। तदनन्तर वह राजासन पर विराजमान हुआ और प्रजा ने उसे अपना राजा मान इस प्रकार निवेदन किया—

"राजन्! हमने स्वयं महाराज विक्रमादित्य से इस देश की रक्षा करने के लिये प्रार्थना की थी। उन्होंने अपने समान आपको शासन करने के लिये निर्दिष्ट किया है। आप इस पृथ्वी का राज्य कीजिए। आप कभी यह मत सोचें कि यह देश, जिसने सदा स्वयं अन्य देश प्रदान किए हैं, किसी दूसरे द्वारा आपको दिया गया है। जैसे अपने कर्मों से जन्म प्राप्त किए हुए के कारण पितर होते हैं, वैसे ही राज्य-प्राप्ति में एक राजा के अन्य राजा कारण होते हैं। ऐसी स्थिति में "मैं आपका हूँ" ऐसा कहीं मुँह से निकाल कर आप अपनी और हमारी प्रतिष्ठा की कभी हानि मत कीजिएगा।"

इस प्रकार उनके रीति की बात कहने पर भी स्वामी का उपकार स्मरण कर महीपाल मातृगुप्त क्षण भर हँसा। योग्य दानों से उस दिन को सुदिन करता हुआ वह उस दिन वहीं रहा। दूसरे दिन मंत्रियों ने पुर-प्रवेश के लिये प्रार्थना की। उसने वहाँ से राज्यदाता महाराज विक्रमादित्य की सेवा में दूतों के साथ अद्भुत भेंटें भेजीं। परंतु उसे फिर यह भी ध्यान आया कि ऐसी भेंटों से स्वामी कहीं यह न समझें कि नूतन देश के गौरव से मैं उनकी स्पर्धा कर रहा हूँ। इसलिये मन में संकोच कर दूसरे दूतों को बुला उनके हाथ फलों आदि की साधारण भेंट भेजी और अपने नरनाथ के असामान्य गुणों का स्मरण कर, व्याकुल नेत्र हो स्वयं एक श्लोक रच, अपने हाथ से लिख एक और दूत के हाथ उनकी सेवा में उज्जैन भेजा। उस श्लोक का आशय यह था कि आप अपने अन्तर्वेग को नहीं प्रकाशित होने देते, न आपमें कोई गर्व का विकार प्रतीत होता है; यहाँ तक कि आप के दान की इच्छा तक का कोई अनुमान नहीं हो सकता और आप सुंदर फल दे डालते हैं। हे राजन्! सचमुच आप के अनुग्रह के दर्शन बिना गर्जना के चुपके से बरसनेवाले मेघ के समान केवल फल-प्राप्ति से ही होते हैं।

तदनन्तर मातृगुप्त ने दिगन्तव्यापी सेना के साथ राजधानी में प्रवेश किया और राजकुल में सम्पन्न राजा के समान अति उत्तम रीति से

नया रचा हुआ हयग्रीव वध नामक काव्य उसको सुनाया; परंतु उसने अन्त तक साधु अथवा असाधु नहीं कहा। अंत में जब वह अपनी पुस्तक बाँधने लगा, तब राजा ने उसके नीचे एक सुवर्ण पात्र रख दिया। इस सत्कृति को जान भर्तृमेण्ठ ने तदनन्तर मिले हुए आर्थिक पुरस्कार को पुनरुक्त समझा। उसने मधुसूदन देव का एक मंदिर "मातृगुप्त स्वामी" के नाम से बनवाया; और जो ग्राम उसने इस मंदिर की जीविका में लगाए, वे कालान्तर में सम्मट ने अपने मंदिर के अर्पण कर दिए।

जब मातृगुप्त को कश्मीर देश पर राज्य करते हुए एक दिन और तीन महीने कम पाँच वर्ष व्यतीत हो गए, तब उज्जैन में विक्रमादित्य की ऐहिक लीला समाप्त हो गई। इस दुर्घटना ने मातृगुप्त के कोमल हृदय को अत्यन्त व्यथित किया, यहाँ तक कि केवल वैराग्य उसका अवलम्ब रह गया। वह कश्मीर त्याग कर जा रहा था कि प्रवरसेन नाम का एक व्यक्ति, जो इससे पूर्ववर्ती हिरण्य नामक राजा के भाई तोरमान का पुत्र था और पिता के बंदी हो जाने के कारण एक कुम्हार के घर पाला गया था और कश्मीर का राज्य प्राप्त करने की इच्छा रखता था, उससे मार्ग में मिला। प्रवरसेन ने सोचा कि कदाचित् किसी मेरे हितैषी ने इस मातृगुप्त को देशत्याग करने को बाध्य किया है। वह थोड़े से मनुष्य अपने साथ ले मातृगुप्त से मिलने आया और सत्कारपूर्वक वार्तालाप करते हुए राज्य त्यागने का कारण पूछने लगा। मातृगुप्त ने क्षण भर लम्बी साँस लेकर कहा कि हाय! आज वह पुण्य पुंज नहीं है जिसने हमको रंक से राजा बनाया। सूर्यकान्त मणि तभी तक चमकती है, जब तक उसके सिर पर सूर्य रहता है। सूर्यास्त पर वह साधारण पाषाण है। ऐसा विषादपूर्ण उत्तर सुन प्रवरसेन ने कहा—राजन्! किसने आपका अपकार किया है जिसके प्रतिकार के लिये आप विक्रमादित्य की अविद्यमानता की इतनी चिन्ता

करते हैं। मातृगुप्त ने तुरंत कहा—मल में अधिक भी हो तो भी कौन पुरुष हमारा अपकार करने का साहस रखता है? जब उस बुद्धिसागर ने मुझको वन्नन किया, तब उसने भस्म में घृत की आहुति नहीं दी, न ऊसर भूमि में बीज बोया। परंतु बात यह है कि जो उपकार को नहीं भूल सकता और कृतज्ञता का दास है, वह अंधा होकर उपकर्ता का अनुसरण किया करता है। क्या सूर्यकान्त और चन्द्रकान्त मणियाँ सूर्य और चन्द्र के साथ साथ शान्त नहीं हो जातीं? इसलिये अब मैं पुण्यधाम वाराणसी में जाकर ब्राह्मण के योग्य संन्यास ग्रहण करना चाहता हूँ। उस विक्रमादित्य रूपी मणिदीप के विलीन होने से मैं निखिल जगत को घोर अन्धकार में विलीन हुआ समझता हूँ। पृथ्वी के दर्शन मात्र से भय भीत होता हूँ; भोग की तो बात ही क्या!

मातृगुप्त के ऐसे अलौकिक शब्द सुनकर प्रवरसेन विस्मित हो गया। उस वीर ने भी फिर कहा कि सच है, यह वसुंधरा देवी रत्नों को उत्पन्न करनेवाली कही जाती है। निसन्देह वह आप जैसे कृतज्ञ नररत्नों को उत्पन्न करने से ही कृतकृत्य होती है। उस विक्रमादित्य के अतिरिक्त जिसने इस जड़ जगत् में आप जैसे नर-रत्न को पहचाना, कौन अन्तरज्ञता के विचार से श्लाघनीय है? यदि संसार में कृतज्ञता के मार्ग का अनुसरण करनेवाले आप जैसे धीर न हों, तो कृतज्ञता का मार्ग नितान्त सूना पड़ा रह जाय। प्राय: देखा जाता है कि उपकृत होने पर पुरुष सोचा करते हैं कि यह तो अब मेरे शुभ कर्मों का विपाक है। यदि ऐसा नहीं है, तो फिर पहले ही इसने मेरे साथ यह नेकी क्यों न की? अथवा इस नेकी में उसका भी स्वार्थ है। यदि नहीं है तो फिर उसने अपने दीन बन्धुओं को भूलकर मेरे साथ क्यों नेकी की? अथवा उसे मुझ से भय है; यदि नहीं है तो भला वह लोभी इसे छोड़ता? परंतु अति उदात्त गुणवालों में किंचित् भी आरोपित की हुई सत्क्रिया शत शाखाओं से फैला करती है। आप

तत्त्वज्ञों से अभिनन्दित, गुणवानों में अग्रणी और श्रेष्ठ पुरुषों में परीक्षित मणि के समान हैं। इसलिये मैं आप से एक अनुग्रह चाहता हूँ; और वह यह कि आप कश्मीर का राजसिंहासन न त्यागें। मैं यह चाहता हूँ कि मेरी भी ऐसी ख्याति हो कि मैंने गुणवान का पक्ष लिया; इसलिये पहले उस विक्रमादित्य से और पीछे मुझ से दी हुई यह भूमि फिर आपकी भोगिनी हो।

प्रवरसेन के इन वचनों को जो छल-रहित और उदारता से ओत प्रोत थे, सुनकर मातृगुप्त ने हँसते हुए कहा—उन शब्दों को जिनके बिना जो कुछ कहना है वह नहीं कहा जा सकता, मर्यादा को उल्लंघन किए बिना मैं कैसे कहूँ? इसलिये मुझे इस बात का विश्वास होते हुए भी कि आपका व्यवहार निष्कपट है, कुछ परुष कहना पड़ता है। देखिए, सब लोगों को औरों की पूर्व अवस्था की लघुता और अपनी वर्तमान समय की महत्ता याद रहती है। आपको और मुझको भी एक दूसरे की पूर्व अवस्था की लघुता का स्मरण रहने से एक दूसरे का आशय समझना कठिन हो रहा है। भला सोचिए तो, मुझ जैसा मनुष्य राजा होकर फिर संपदा की भिक्षा कैसे ग्रहण कर सकता है? वह कैसे सहसा सब औचित्य को धो डालेगा? यह कभी हो सकता है कि उस विक्रमादित्य महात्मा के असाधारण औदार्य को मुझ जैसा पुरुष केवल भोग के लिये साधारणता की सीमा को पहुँचा दे? और यदि मैं राज्य के भोगों का इच्छुक होऊँ, तो जीते जी मुझे उन भोगों से कौन दूर कर सकता है? मुझे तो यह खटक रहा है कि उस वीर विक्रम ने मेरा उपकार किया; और यदि मैं प्रत्युपकार किए बिना ही रह जाऊँ, तो उसका उपकार मेरे शरीर पर ही जीर्ण हो रहता है। जो गति उस राजा की थी, उसी गति का अनुसरण करने से मैं पात्र अपात्र विवेचन की ख्याति को प्रकाश में लाना चाहता हूँ। करना तो बहुत कुछ है, परंतु खैर, जब वह कीर्तिशेषता को प्राप्त हो गया, तो मैं अधिक

नहीं तो भोग मात्र के परित्याग से ही अपने संबंध को निबाहूँ।

प्रवरसेन के हृदय पर उपर्युक्त शब्दों का बहुत गहरा असर हुआ। उसने कहा कि आप के जीते जी मैं भी आपकी संपदा का स्पर्श नहीं करूगा। मातृगुप्त बनारस पहुँच सब कुछ त्याग काषाय-वस्त्र ले यति हो गया और प्रवरसेन भी कश्मीर की सारी आय काशी भेजता रहा। मातृगुप्त वहाँ भिक्षा वृत्ति से रहता था। हठपूर्वक जो लक्ष्मी उसके पास कश्मीर से आती थी, उसे वह अर्थियों को बाँट दिया करता था। इस प्रकार उसने काशी में दस वर्ष बिताकर वहीं देह त्यागा। विक्रमादित्य, मातृगुप्त और प्रवरसेन ये तीनों सच्चे अभिमान को रखनेवाले औचित्य-शाली थे। इन तीनों का वृत्तान्त त्रिपथगा के जल के समान पुनीत है।

कुछ लोगों ने मातृगुप्त को और कवि कुलगुरु कालिदास को एक ही व्यक्ति सिद्ध करने की चेष्टा की है। ये दोनों व्यक्ति एक ही थे अथवा भिन्न भिन्न, इस विषय की भी इस प्रसंग पर हम कुछ चर्चा करते हैं। इन दोनों के एक होने में निम्नलिखित युक्तियाँ दी गई हैं—

(१) विक्रमादित्य ने अपना आधा राज्य कालिदास को दिया था, ऐसी दंतकथा प्रचलित है। इसका आधार विक्रमादित्य द्वारा मातृगुप्त को कश्मीर का राज्य दिया जाना प्रतीत होता है।

(२) मातृगुप्त [मातृ = काली; गुप्त = दास] और कालिदास समा-नार्थक संज्ञाएँ हैं। कालिदास के ऊपर माता प्रसन्न हुई थीं, ऐसी दंत-कथा भी है जिसे मातृगुप्त नाम से आश्रय मिल सकता है। कालिदास के कुछ उपनाम भी थे। त्रिकांड शेष नामक संस्कृत कोश के कोशकार पुरुषोत्तम इसके रघुकार, मेधारुद्र और कोटिजित् उपनाम बतलाता है। मातृगुप्त भी कालिदास का एक उपनाम ही प्रतीत होता है।

(३) कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी में भवभूति आदि कई प्रसिद्ध कवियों का नाम लिया है, परंतु कालिदास जैसे विश्वविख्यात

कवि चूड़ामणि का नाम नहीं लिखा। संभव है कि उस ग्रंथ के "मातृगुप्त" में ही कालिदास नाम से प्रसिद्ध कवि विद्यमान हों।

(४) कालिदास का सृष्टि सौंदर्य वर्णन कश्मीर प्रदेश की प्राकृत शोभा के बहुत अनुरूप है। ऐसा मनोज्ञ वर्णन उस कवि के उस प्रदेश में निवास किए बिना संभव नहीं।

(५) मेघदूत काव्य में कालिदास ने यक्ष को नायक बनाकर स्त्री-विरह का वर्णन किया है। कहते हैं कि वस्तुतः यह उसने अपनी हृदयेश्वरी के विरह के कारण उत्पन्न हुए निज भावों को प्रदर्शित किया है। मातृगुप्त के विषय में भी ऐसी ही स्त्री-वियोग संबंधी दंत-कथा है।

(६) मातृगुप्त ने कश्मीर का राज्य पाने पर विक्रमादित्य को निम्नलिखित श्लोक लिखकर भेजा था—

नाकारमुद्वहसि नैव विकत्थसे त्वं
दित्सां न सूचयसि मुञ्चसि सत्फलानि।
निःशब्दवर्षणमिवाम्बुधरस्य राज-
न्संलक्ष्यते फलत एव तव प्रसादः॥

(देखो कल्हण की राजतरङ्गिणी के तृतीय तरङ्ग का २५२ वाँ श्लोक)

उपकार बुद्धि का उद्गार जो इस श्लोक में है, वही कालिदास के रचे हुए मेघदूत के निम्नलिखित श्लोक में भी है—

कच्चित्सौम्य व्यवसितमिदं बन्धुकृत्यं त्वया मे
प्रत्यादेशान्न खलु भवतो धीरतां कल्पयामि।
निःशब्दोऽपि प्रदिशसि जलं याचितश्चातकेभ्यः
प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव।

उत्तर मेघ, श्लोक ५१।

ऊपर लिखे हुए दोनों श्लोकों का रचयिता अभिन्न होना चाहिए।

(७) कश्मीर के राजा प्रवरसेन ने वितस्ता नदी पर एक बहुत

बड़ा नावों का पुल बनवाया था। तभी से लोक में नावों के पुल बनवाने की शैली प्रचलित हुई। उस राजा ने इस सेतु की यादगार में सेतु काव्य लिखवाया। कहते हैं कि यह काव्य मातृगुप्त से ही लिखवाया गया था। वाराणसी-दर्पण पर लिखी हुई टीका में रामाश्रम ने सेतुकाव्य को कालिदास का रचा हुआ माना है। इसी प्रकार विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में और दंडी ने काव्यादर्श में सेतुकाव्य का रचयिता कालिदास को बतलाया है। सेतुकाव्य कोई साधारण काव्य नहीं है। विद्यानाथ ने प्रतापरुद्र में इसकी महाप्रबंध के सदृश प्रशंसा की है। कह्लण के अनुसार प्रवरसेन मातृगुप्त का समकालीन था और मातृगुप्त के पश्चात् राजा भी हुआ। बाणभट्ट के जो निम्न लिखित श्लोक हर्षचरित में दिए हैं, उनसे प्रवरसेन और कालिदास का साथ साथ होना प्रतीत होता है। अतः मातृगुप्त और कालिदास एक ही व्यक्ति हैं—

> कीर्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्ज्वला।
> सागरस्य परं पारं कपिसेनेव सेतुना॥
> निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
> प्रीतिः मधुरसार्द्रासु मंजरीष्विव जायते॥

(८) मातृगुप्त का समकालीन प्रवरसेन छठे शतक में हुआ। कालिदास का काल भी यही माना जाता है।

पर उपर्युक्त युक्तियाँ उतनी ठीक नहीं हैं जितनी विस्मयावह हैं। इनका संक्षिप्त प्रत्युत्तर क्रमशः नीचे लिखते हैं—

(१) विक्रमादित्य ने कालिदास को आधा राज्य दिया, ऐसा प्रवाद सर्वत्र तो नहीं परंतु कहीं कहीं अवश्य प्रचलित है। यदि इस प्रवाद में कश्मीर के राज्यार्पण की चर्चा होती, तो मातृगुप्त और कालिदास के एक व्यक्ति होने में कुछ बल आ सकता था।

(२) मातृगुप्त और कालिदास को पर्यायवाची कहना ठीक नहीं। कह्लण ने विक्रमादित्य का अपर नाम हर्ष लिखा है। यदि मातृगुप्त उपनाम

था, तो कल्हण इस व्यक्ति का मुख्य नाम लिखने से कभी न चूकता। किसी कवि ने कालिदास का उपनाम मातृगुप्त नहीं बतलाया। मातृगुप्त ने विक्रमादित्य के प्रश्न करने पर निम्नलिखित श्लोक कहा था—

शीतेनोद्धूषितस्य मापशिमिवच्चिन्तार्णवे मज्जतः
शान्ताग्निं स्फुटिताधरस्य धमतः क्षुत्क्षामकण्ठस्य मे।
निद्रा क्वाप्यवमानितेव दयिता संत्यज्य दूरं गता
सत्पात्रप्रतिपादितेव वसुधा न क्षीयते शर्वरी॥

(कल्हण की राजतरङ्गिणी, तृतीय तरङ्ग, श्लोक १८१)

यह श्लोक मातृगुप्त का ही बनाया हुआ है। सुभाषितावलि में जहाँ कल्हण के नाम से राजतरङ्गिणी से लेकर वल्लभदेव ने श्लोक उद्धृत किए हैं, वहाँ उपर्युक्त श्लोक को मातृगुप्त के ही नाम से लिखा है। इसी प्रकार "प्राकारमुद्वहसि०" श्लोक भी उक्त ग्रंथ में मातृगुप्त का रचा हुआ बतलाया गया है। वल्लभदेव ने कालिदास के भी श्लोक लिखे हैं, परंतु इन दोनों में से किसी श्लोक पर कालिदास का नाम नहीं लिखा।

(३) कालिदास का नाम राजतरङ्गिणी में न आना कोई आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि कल्हण को काश्मीर का इतिहास लिखना था; अतः वहाँ से संबंध रखनेवाले पुरुषों का ही वर्णन करना उसको अभीष्ट था। कश्मीर का राजा यशोवर्मा भवभूति का आश्रयदाता था। कन्नौज के राजा ललितादित्य ने यशोवर्मा को हराया था, अतः उस प्रसंग में इस कवि का नाम उस देश के इतिहास में आ गया।

(४) कालिदास बहुत प्रतिभाशाली कवि थे। उन्होंने जहाँ कहीं का वर्णन किया है, वह ऐसे चमत्कार के साथ किया है कि लोग उन्हें उसी प्रदेश का निवासी बनाने का आग्रह करने लग जाते हैं। ऐसी दशा में जितना बल उनके कश्मीर निवासी होने में दिया जा सकता है, उतना ही अन्यत्र देश के निवासी होने में भी दिया जा सकता है।

(५) मातृगुप्त का प्रिया-विरह संबंधी वर्णन राजतरङ्गिणी में नहीं है; अतः मेघदूत की कथा का संबंध इस कवि से लगाना अनुचित है।

(६) भिन्न भिन्न कवियों के ग्रन्थों में ऐसे किसी विषय पर समान उद्गार मिल जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं। कुमारदास और कालिदास, भास और कालिदास, अश्वघोष और कालिदास के ग्रन्थों में परस्पर एक जैसे उद्गारों की पंक्तियाँ बहुत सी मिलती हैं। इससे हम यह नहीं सिद्ध कर सकते कि ये चारों कवि एक ही थे। मल्लिनाथ ने मेघदूत के उपर्युक्त श्लोक की टीका करते हुए वैसे ही आशय का निम्नलिखित श्लोक किसी और भी कवि का लिख दिया है—

गर्जति शरदि न वर्षति वर्षति वर्षासु निःस्वनो मेघः।
नीचो वदति न कुरुते न वदति सुजनः करोत्येव ॥

(७) सेतुकाव्य का कर्ता कविकुल गुरु कालिदास नहीं है, इस विषय पर कई लेख लिखे जा चुके हैं। इस ग्रन्थ के लम्बे लम्बे समास और विविध अनुप्रासवाली पद्य रचना कालिदास की शैली के विपरीत है। कालिदास शिव के भक्त थे। उन्होंने ग्रन्थों के प्रारम्भ में शिव की स्तुति की है; परंतु सेतुकाव्य में पहले विष्णु की और फिर शिव की स्तुति मिलती है।

(८) कालिदास के समय की समस्या अभी तक विवादास्पद है। हम इस विषय में यहाँ पर अधिक लिखना अनावश्यक समझते हैं। केवल इतना ही और लिखते हैं कि कालिदास का शिवभक्त होना प्रसिद्ध और प्रमाणित है। मातृगुप्त के विष्णु का मंदिर बनवाने का वर्णन कह्लण ने लिखा है। उसके शिवभक्त होने की अथवा शिवजी का मंदिर बनवाने की चर्चा भी नहीं की। इसके अतिरिक्त कश्मीर के सुप्रसिद्ध कवि क्षेमेन्द्र ने औचित्य विचार चर्चा नामक एक ग्रन्थ रचा है। उसमें उसने प्रसंगवश कालिदास का नाम देकर कालिदास के श्लोक लिखे हैं। साथ ही निम्नलिखित श्लोक भी मातृगुप्त के नाम से लिखा है—

नार्यं निशामुख सरोरुह राजहंसः
कीरीकपोलतल कांततनुः शशांकः।
आभाति नाथ तदिदं दिवि दुग्धसिंधु-
डिंडीर पिंड परिपांडु यशस्त्वदीयम् ॥

इससे यही प्रतीत होता है कि मातृगुप्त और कालिदास दो भिन्न भिन्न व्यक्ति थे। शकुंतला पर टीका लिखते हुए राघवभट्ट ने भी मातृगुप्त का नाम लिया है जो किसी अलंकार शास्त्र का रचयिता होना चाहिए। यह नहीं कहा जा सकता कि वह मातृगुप्त वही व्यक्ति था जिसका वर्णन हमने यहाँ लिखा है; क्योंकि कह्लण ने उसे किसी ग्रन्थ का रचयिता नहीं बतलाया है। इसी प्रकार वसुदेव ने कर्पूरमंजरी की टीका में मातृगुप्त नामक एक कवि को अलंकार शास्त्र का और सुंदर मिश्र ने नाटकप्रदीप में इसी नामवाले कवि को भरत के नाट्य शास्त्र की टीका रचनेवाला लिखा है। अतः यह सिद्ध है कि कालिदास से मातृगुप्त कोई भिन्न व्यक्ति था।

---

(१५) भारतवर्ष के प्राचीन उपनिवेश

(१)

बोर्नियो द्वीप में प्राप्त श्री महाराज मूलवर्मन् के चार संस्कृत शिला-लेख

[लेखक—श्रीयुक्त रघुबीर एम० ए०, एम० आर० ए० एस० अजमेर ।]

रतवर्ष का इतिहास पढ़नेवालों और विशेषतः पढ़ानेवालों का यह दुर्भाग्य है कि भारत की इतिहास-पुस्तक में भी हमारे प्राचीन उपनिवेशों का नामोल्लेख तक नहीं होता। न मालूम हमारी यूनिवर्सिटियाँ कब तक हमको यह पाठ पढ़ाती रहेंगी कि पहले अलक्षेन्द्र का भारत पर आक्रमण हुआ; पुनः शकों और हूणों का पदारोपण हुआ; तत्पश्चात् अरब, अफगान, पठान, तुर्क और मुग़लों का ८०० वर्षों तक लगातार ताँता बँधा रहा। आज उनके उत्तराधिकारी भी विदेशी ही हमारे शासक और भाग्य-विधाता हैं। क्या भारत का अपना गौरव-काल कोई न था? क्या हमारा सुवर्ण समय कृतयुग और सत्ययुग सब इतिहास की सीमा से बाहर है? क्या इस देश के लोग कभी बाहर के देशों को नहीं गए और वहाँ जाकर उन्होंने अपनी सभ्यता का प्रचार करके बड़े बड़े विस्तृत राज्य स्थापित नहीं किए? यदि किए तो कोई प्रमाण? आज हम इन्हीं प्रमाणों की लड़ी के एक मनके को पाठकों के सामने रखना चाहते हैं। इंग्लैण्ड देश की कोई छोटी से छोटी इतिहास पुस्तक भी सम्पूर्ण नहीं समझी जाती जब तक उसमें "विस्तृत इंग्लैण्ड" (Greater England) अर्थात् इंग्लैण्ड के साम्राज्य और उपनिवेशों का काफ़ी वर्णन न हो। पर इस कमी को भारत के इतिहास में देखने सुननेवाला कोई नहीं।

अब हम प्रस्तुत विषय को लेते हैं।

सब से प्रथम ३ जून १८७९ को श्री के० पी० होल् ने "बटेविया (जावा द्वीप) विज्ञानकलापरिषद्" (Batavian Society of Arts and Sciences) के अधिवेशन में सूचना दी कि बोर्नियो द्वीप के पूर्वीय प्रदेश में कोताई की रियासत में एक बड़ा भारी शिलालेख विद्यमान है। तदनुसार कोताई के स्थानिक युरोपीय अफसर (Assistant Resident) से पत्रव्यवहार किया गया, जिसके उत्तर में उसने लिखा कि मोरा कामन नामक स्थान में हिन्दू काल के कुछ स्मारक शेष हैं। तत्पश्चात् कोताई के सुल्तान* ने, सम्भवतः युरोपीय अफसर के अनुरोध से, चार शिलालेखों को सन् १८८० में ही बटेविया नगर (जावा द्वीप) के अद्भुतालय में भेज दिया। प्रोफेसर कर्ण ने उसी वर्ष उक्त शिलालेखों की प्रतिलिपि प्राप्त करके उनका अनुवाद किया। पर प्रोफेसर कर्ण की प्रतिलिपि में कई भूलें रह गई थीं; तथा अब इन उपनिवेशों के विषय में बहुत अधिक विस्तृत ज्ञान हो जाने से आवश्यकता पड़ी कि नई प्रतिलिपि लेकर पुनः अनुवाद तथा सम्पादन किया जाय। इस कार्य को डाक्टर जे० पीएच० फोगल ने बड़े परिश्रम और विद्वत्ता से सन् १९१८ ई० में किया। उसी के आधार पर हमारा यह लेख है †।

मोरा कामन एक छोटा सा ग्राम है, जो पूर्वीय बोर्नियो की कोताई रियासत में "महाकाम" और "कामन" नदियों के संगम पर बसा हुआ है। शिलालेख नं० १ में जो "पुण्यतमे क्षेत्रे वप्रकेश्वरे" तीर्थ का नाम आया है, वह शायद यही पुण्यतम तीर्थ "वप्रकेश्वर" हो। इसके

---

* दुःख से लिखना पड़ता है कि आज प्रायः इन प्राचीन हिन्दू उपनिवेशों में अधिकतर मुसल्मान प्रजा और मुसल्मानी राज्य हैं। १५ वीं शताब्दी में जावावाले मुसल्मान हुए थे।

† जहाँ जहाँ हमारा उनसे मतभेद है, वहाँ वहाँ हमने दर्शा दिया है; और कई स्थलों पर बहुत सी बातें, जो हमारे विषय से अधिक संबंध नहीं रखती थीं अथवा हिन्दी के पाठकों के लिये रोचक न होतीं, छोड़ दी गई हैं।

विषय में डाक्टर फोगल, फर्ण, फिनट, वगैरहने आदि सब विद्वान् चुप हैं। जहाँ तक हमको ज्ञात है, वप्रकेश्वर किस स्थान पर था, यह उन्हों ने कभी विचारा ही नहीं। अस्तु; इसी "मोरा कामन" ग्राम में सोने की बनी हुई विष्णु की एक अत्यन्त सुन्दर प्रतिमा तथा सोने का एक कछुआ* प्राप्त हुआ था। इन दोनों को आज कल कोताई के सुलतान अपने गले में बड़े अभिमान से पहनते हैं†। किसी समय में यह भारतीय सभ्यता तथा हिन्दू धर्म का केन्द्र रहा होगा। अभी तक राज्य की ओर से यहाँ खुदाई का कार्य ठीक प्रकार से आरम्भ नहीं हुआ। न जाने अभी यहाँ से और क्या क्या निकलने को है। कोताई रियासत में गेनेंग कोम्बेंग की गुफाओं में भी कई देवताओं की प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं; परन्तु अब तक उनका पूर्ण विवरण जानने के लिये कोई भारतीय पुरातत्त्ववेत्ता वहाँ नहीं पहुँचा, जो उनके फोटो लेता और सविस्तर खोज करता। श्री विटकैम्प के १० मूर्तियों के संग्रह में से एक मूर्ति गणेश की है। मूर्ति में हाथी का सूँड है और चार हाथोंवाले गणेश जी सुखासन लगाए बैठे हैं। एक दूसरी मूर्ति नन्दी की है। "महा काम" और "रत" नदी के संगम पर भी एक छोटा सा नंदी तथा शिवलिंग मिला है।

अब हम अपने शिलालेखों की ओर आते हैं। ये चारों शिलालेख महाराज मूलवर्मन् के हैं। इन लेखों को ब्राह्मणों ने मिले हुए दान के पुण्य की घोषणा करने के लिये खुदवाया था; इसलिये हम आशा नहीं कर सकते कि वंशावली के कुछ नामों के अतिरिक्त और ऐतिहासिक घटनाओं का इनमें उल्लेख हो। यह भी सम्भव था, यदि

---

* सम्भवतः यह विष्णु के कच्छपावतार का कच्छप स्वरूप है।

† इन द्वीपों के मुसल्मान इतने कट्टर नहीं हैं जितने भारतवर्ष के। इन द्वीपों में मुसल्मान राजाओं ने आकर लोगों को उनकी इच्छा के विरुद्ध मुसल्मान नहीं बनाया। किन्तु सौदागर लोग आकर बस गए और शनैः शनैः सारी जनता को, जो प्रायः पूर्व में बौद्ध हो चुकी थी, मुसल्मान बनाया।

लेख बहुत लम्बे होते। वंशावली में मूलवर्मन् के पिता तथा पितामह का नाम और दो छोटे भाइयों का निर्देश मात्र है। पिता का नाम "अश्ववर्मन्" और पितामह का "कुंडुंग" है। "कुंडुंग" संस्कृत नाम नहीं; इसी लिये विद्वानों का अनुमान है कि "कुंडुंग" के समय में ब्राह्मणों ने बोर्नियो में हिन्दू धर्म का प्रचार आरम्भ किया और या तो "कुंडुंग" को हिन्दू बनाया या "अश्ववर्मन्" को। "अश्ववर्मन्" को प्रथम शिलालेख में "वंशकर्ता" कहा है। क्या इससे यह परिणाम नहीं निकल सकता कि धार्मिक रीति से पहला राज्याभिषेक "अश्ववर्मा" का हुआ और अतः वह वंशकर्ता कहलाया?

कोताई के शिलालेखों में अत्यन्त आश्चर्यजनक तथा रोचक "यूप" शब्द है। श्री फोगल तथा अन्य विद्वानों का अब तक यही विचार रहा है कि इन शिलालेखों में "यूप" शब्द "पशुबन्धनार्थ याज्ञिक स्तम्भ" के अर्थ का वाची है। उनके विचार को पुष्ट करनेवाले "यष्ट्वा" (शि० ले० नं० १, पं०१०) और "यज्ञस्य" (शि० ले० १, पं० ११) पद हैं। जैसा कि हमने अपने भावार्थ की टिप्पणी में दर्शाया है, यहाँ "यष्ट्वा" का अर्थ "यज्ञ करके" नहीं, किन्तु "दान देकर" है। अपने इष्ट मत का पोषण करने के लिये उन्होंने "बहु सुवर्णक" को भी यज्ञ विशेष की संज्ञा मानना चाहा है। हम इसको क्लिष्ट कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं कह सकते। यदि वास्तव में ये "यूप" कुछ यज्ञों के स्मारक और पशुबन्धन रूप स्तम्भ होते, तो इनका आकार भी अवश्यमेव तदनुरूप ही होना चाहिए था। श्री फोगल महोदय स्वयं मानते हैं कि "कोताई के यूपों के बाह्य आकार से यह स्पष्ट है कि वैदिक कर्मकाण्ड के लकड़ी के बने यूपों की ये नक़लें नहीं हैं। ये खुरदुरे बेढंगे पत्थर के खण्ड हैं जो क्रमशः १.८७ मीटर (शि० ले० नं० १), १.५५ मीटर (शि० ले० नं० २), १.६९ मीटर (शि० ले० नं० ३), तथा १.२१ मीटर (शि० ले० नं० ४) ऊँचे हैं। इनकी चौड़ाई ·२७ से ·३८ मीटर

तक है।" भारतवर्ष में प्राप्त ईशापुर के याज्ञिक यूप के साथ मुकाबला करते हुए आप कहते हैं—"दोनों (अर्थात् कोताई और ईशापुर की शिलाओं) में किसी प्रकार का साम्य नहीं है।" पुनः—"क्या फिर हम इससे यह परिणाम निकालने का साहस करें कि कोताई के शिलालेखों में वर्णित यज्ञों में वैदिक यज्ञों के सदृश यूपों का प्रयोग नहीं किया गया?" श्री फोगल के साथ हम सहमत हैं कि ऐसी निराधार प्रमाणशून्य कल्पना करना, और केवल इसलिये कि अपना इष्टवाद खण्डित न हो, दुस्साहस ही है। फिर भी श्री फोगल का आग्रह है कि "कोताई के शिलालेखों में निश्चय याज्ञिक स्तम्भों का ही उल्लेख है।"

प्रथम प्रश्न यह हो सकता है कि यदि ये यज्ञ के पशुबन्धनस्तम्भ होते, तो इनका आकार कैसा होता? इस प्रश्न का उत्तर ईशापुर (मथुरा के सामनेवाले यमुना के किनारे पर एक ग्राम) में दूसरी शताब्दी ईसवी के स्थापित दो याज्ञिक यूप देंगे। इनकी ऊँचाई ५ मीटर है। यूपों का मध्य भाग अष्टकोण है और कोने ऊपरी भाग में मुड़े हुए हैं। यूपों के ऊपर प्रसिद्ध गोल चक्र "चषाल" है। याज्ञिक नियमों के अनुसार दोनों यूपों में "रशना" भी चारों ओर बँधी है। इनमें से एक के ऊपर पुष्पमाला टँगी है। यह संभवतः वह माला है जो घोड़े को पहनाई जाती थी। इस विशेषता के उल्लेख का यह भाव नहीं कि प्रत्येक "याज्ञिक यूप" इसी रूप का होना चाहिए; किन्तु यह कि कुछ न कुछ इसी प्रकार का याज्ञिक प्रक्रिया सम्मत रूप और आकार होना आवश्यक है। परन्तु कोताई की शिलाओं का तो कोई विशेष आकार या रूप है ही नहीं। इसलिये हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि ये 'यूप" "याज्ञिक यूप" नहीं हैं।

और भी प्रमाण लीजिए। शिलालेख नं० १ के "तस्य यज्ञस्य यूपोऽयम्" वाक्य के सदृश वाक्य "तस्य पुण्यस्य यूपोऽयम्" तथा "तेषां पुण्यगणानां यूपोऽयम" क्रमशः शि० ले० नं० २ और ३ में आते हैं।

शि० ले० नं० २ और ३ में किसी विशिष्ट कल्पना के आधार पर यदि "पुण्यस्य" तथा "पुण्यगणानां" शब्दों का अर्थ "यज्ञस्य" या "यज्ञगणानां" नहीं किया जा सकता, तो इन दोनों शब्दों के साथ आनेवाले "यूप" शब्द का "याज्ञिक स्तम्भ" अर्थ करने से श्री फोगल आदि क्या प्रयोजन सिद्ध कर सकते हैं ? मोनियर विलियम्स ने 'यूप" शब्द के अर्थ में एक अर्थ 'जयस्तम्भ" भी दिया है। और हम भी इन शिलालेखों में "यूप" का केवल युक्तियुक्त अर्थ "कीर्ति स्तम्भ" ही करते हैं। यह अर्थ शि० ले० नं० २ और ३ में तो सर्व सम्मत होगा ही; रहा शि० ले० नं० १; सो इसमें "यज्ञस्य" शब्द दूसरे और तीसरे शिलालेख के "पुण्यस्य" का स्थानीय और पर्यायवाची है। "यज्ञ" का अर्थ "दत्वा" करने में तो किसी संस्कृतज्ञ को आपत्ति हो ही नहीं सकती।

अपरंच कोताई के शिलालेख सुवर्ण, गो, भूमि आदि के दान के स्मारक हैं, वैदिक यज्ञों के नहीं।

शिलालेख नं० १ में "वप्रकेश्वर" शब्द में "ईश्वर" शब्द से मि० क्रोम, कर्न तथा फोगल आदि इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि यह "पुण्यतमक्षेत्र" ईश्वर अर्थात् शिव के उपासकों का धर्मस्थान अथवा तीर्थ स्थान था और यह कि बोर्नियो द्वीप में शैव मत का विशेष प्रचार था।

इस प्रारम्भिक वक्तव्य के पश्चात् हम प्रत्येक लेख की प्रतिपंक्ति देवनागरी अक्षरों में मूल संस्कृत देकर उनका भाषान्तर उपस्थित करते हैं। पाठकों से प्रार्थना है कि वे ध्यान दें कि इन लेखों की लिपि प्राचीन दक्षिण भारत की लिपि है, और इनके भाव सर्वथा भारतीय हैं। जिस देश में ये लेख प्राप्त हुए हैं, वह देश भी किसी समय में भारत का सच्चा प्रतिरूप रहा होगा।

शिलालेख नं० १ (छन्द अनुष्टुप्)*

पंक्ति १. श्रीमतः श्रीनरेन्द्रस्य

२. कुण्डुङ्गस्य महात्मनः [।]

३. पुत्रोश्ववर्म्मो[1] विख्यातः

४. वंश[2]कर्त्ता यथांशुमान्[3] [॥१॥]

५. तस्य पुत्रा महात्मानः

६. त्रयस्त्रय इवाग्नयः [।]

७. तेषान्त्रयाणाम्प्रवर.

८. तपोबलदमान्वितः [॥२॥]

९. श्रीमूलवर्म्मा राजेन्द्रो[4]

१०. यष्ट्वा[5] बहुसुवर्णकम् [।]

११. तस्य यज्ञस्य यूपोयम्

१२. द्विजेन्द्रैस्सम्प्रकल्पितः [॥३॥]

---

* इन शिलालेखों की लेखन-शैली प्राचीन ढंग की होने के कारण साधारण से कुछ विलक्षण है और उसमें संयुक्त वर्णों के अन्तिम वर्ण पूर्व वर्ण के कुछ नीचे दिए गए हैं। टाइप में ये रूप दिखाए नहीं जा सकते; अतः यहाँ साधारण रूप में ही पाठ दिया गया है; और मूल का ठीक रूप अलग लीथो में छपे हुए परिशिष्ट में दिखाया गया है।

१. शुद्ध रूप—वर्म्मा।

२. इस शिलालेख में तथा दूसरों में भी शकार और हकार के पूर्व अनुस्वार के स्थान में ङकार पाया जाता है। व्याकरण की दृष्टि से इस अनुस्वार का "ꣳ" तो हो सकता है, किन्तु ङकार नहीं। सम्भवतः यह "ꣳ" का ही, उच्चारण-विशेष के साम्य से, लिखित रूप हो। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि "ꣳ" का प्रयोग केवल याजुष साहित्य में ही परिमित है। सब से पूर्व शिलालेखों में शास्त्रियों ने इसका प्रयोग किया, यह प्रामाणिक रूप से कहना कठिन है।

३. प्राचीन शिलालेखों में अन्तिम हल् वर्ण को पंक्ति से कुछ नीचे और छोटे आकार में लिखते थे। उसी का अनुकरण हमने मूल संस्करण में किया है।

४. शुद्ध रूप—राजेन्द्रः॥

५. शुद्ध रूप—इष्ट्वा।

६. प्राचीन समय में श, ष, स इत्यादि का कोई पृथक् चिह्न न था। अन्य संयुक्त वर्णों के समान इन में भी उत्तर वर्ण पूर्व वर्ण के नीचे लिखा जाता था।

भावार्थ—श्रीमान् नरेन्द्र कुण्डुङ्ग महात्मा का विख्यात पुत्र अश्ववर्म्मा था, जिसने अंशुमत्* के समान (एक नए राज) वंश की स्थापना की। तीनों अग्नियों के सदृश (तेजस्वी) उसके तीन महात्मा पुत्र थे। उन तीनों में (वय तथा गुणों में) श्रेष्ठ, तपोबल और दमयुक्त राजाओं के राजा श्री "मूलवर्म्मा" ने बहुसुवर्णक† में यज्ञ किया। इस यज्ञ का यह यूप द्विजों में श्रेष्ठ अर्थात् ब्राह्मणों ने बनवाया।

शिलालेख नं० २ (छन्द अनुष्टुप्)

पंक्ति
१. श्रीमतो नृपमुख्यस्य
२. राज्ञः श्रीमूलवर्मणा [।]
३. दान पुण्यतमे क्षेत्रे
४. यद्दत्तम्वप्रकेश्वरे[1] [॥१॥]
५. द्विजातिभ्योग्निकल्पेभ्यः
६. विंशतिर्गोसाहस्त्रिकम्[2] [।]

* "अंशुमत्" सूर्य (और कहीं कहीं चंद्रमा) का, तथा असमंजस के पुत्र और सगर के प्रपौत्र का नाम है। यहाँ दोनों ही अर्थ संगत हो सकते हैं। सूर्य (अथवा चंद्र) से सूर्यवंश (अथवा चंद्रवंश) की उत्पत्ति तो सर्वत्र प्रसिद्ध ही है। सगर का प्रपौत्र "अंशुमत्" भी वंशकर्ता कहा जा सकता है। सम्भवतः इसी सम्बन्ध में सगर का नाम चौथे खण्डित शिलालेख में मिलता है।

† श्री फ़ोगेल ने श्री कर्ण का अनुकरण करते हुए "बहुसुवर्णक" को "बहुहिरण्य" नाम के सोम याग का पर्याय माना है। पर [illegible] दूसरे और तीसरे लेख के समान यहाँ भी दान का ही उल्लेख है। अतः "बहुसुवर्णक" का अर्थ "बहुत सुवर्ण" ही है। "इष्ट्वा" का अर्थ "दत्वा" (देकर) होगा। यज् धातु का अर्थ केवल अग्निहोत्र करना ही नहीं, किंतु दान देना भी है। (दे० धातुपाठ—यज देव पूजा—संगतिकरण—दानेषु।)

१. श्री कर्ण की सम्मति है कि "म" के नीचे "व" लिखने से प्रतीत होता है कि वास्तव में उच्चारण "व" था। इसके लिये श्री फोगल ने प्राचीन भाषा कोष के काव्य साहित्य में से कई प्रमाण दिए हैं जिनमें "वप्रकेश्वर" नाम आया है।

२. शुद्ध पाठ—विंशतिर्गो॥

श्री फोगल "विंशतिगोसहस्त्रकं" को शुद्ध पाठ मानते हैं।

शिलालेख नं० १ (छन्द अनुष्टुप)

पंक्ति १. श्रीमनः श्री नरेन्द्रस्य
२. कुण्डुङ्गस्य महात्मनः [।]
३. सुतोश्ववर्म्मा विख्यातः
४. वंशकर्त्ता यथांशुमान् [॥ १॥]
५. तस्य पुत्रा महात्मानः
६. त्रयस्त्रय इवाग्नयः [।]
७. तेषान्त्रयाणाम्प्रवरः
८. तपोबल दमान्वित [॥ २॥]
९. श्रीमूलवर्म्मा राजेन्द्रो
१०. यष्ट्वा बहुसुवर्णकम् [।]
११. तस्य यज्ञस्य यूपोयम्
१२. द्विजेन्द्रैस्सम्प्रकल्पितः [॥ ३॥]

शिलालेख नं० २ (छन्द अनुष्टुप)

पंक्ति १. श्रीमतो नृपमुख्यस्य
२. राज्ञः श्री मूलवर्म्मणः [।]
३. दानं पुण्यतमे क्षेत्रे
४. यद्दत्तम्वप्रकेश्वरे [॥ १॥]
५. द्विजातिभ्योग्नि कल्पेभ्यः

६. विद्वन्निर्द्वौ साहस्रिकम्
७. तस्य पुण्यस्य सुमेयम्
८. कुतो विप्रैरिहागते [:] [॥२॥]

शिलालेख नं० ३ (छन्द आर्या)

पंक्ति १. श्रीमद्दूराज कीर्त्तेः
२. राज्ञः श्रीमूलवर्म्मणः पुण्यम् [।]
३. शृणुन्तु विप्रमुख्याः
४. ये चान्ये साधवः पुरुषाः [॥१॥]
५. बहुदान जीवदानम्
६. सकलवृक्षं सभूमिदानम् [।]
७. तेषां पुण्य गणानाम्
८. यूपोयं स्थापितो विप्रैः [॥२॥]

शिलालेख नं० ४ (छन्द अनुष्टुप्)

पंक्ति १. सगरस्य यथा राज्ञः
२. समुत्पन्नो भगीरथः [।]
३. . . . .
४. मूलवर्म्मे . . . .

७. तस्य पुण्यस्य यूपोयम्

८. कृतो विप्रैरिहागतै [:] [॥२॥]

भावार्थ—श्रीमान्, नृपों में मुख्य, राजा श्री मूलवर्म्मा ने * पुण्यतम धर्मस्थान "वप्रकेश्वर" में अग्नि के सदृश (तेजस्वी) ब्राह्मणों को जो † बीस सहस्र‡ गौओं का दान दिया, उसके पुण्य का यह यूपकीर्तिस्तम्भ यहाँ आए हुए ब्राह्मणों ने (स्थापित) किया।

शिलालेख नं० ३ (छन्द आर्या)

पंक्ति १. श्रीमद्विराजकीर्त्तेः

२. राज्ञः श्रीमूलवर्म्मणः पुण्यम् [।]

३. शृण्वन्तु विप्रमुख्याः

४. ये चान्ये साधवः पुरुषाः [॥१॥]

५. बहुदानजीवदानम्

६. सकल्पवृक्षं सभूमिदानंच [।]

७. तेषांपुण्यगणानाम्

८. यूपोयं स्थापितो विप्रैः [॥२॥]

भावार्थ—प्रधान ब्राह्मण लोग, तथा जो दूसरे साधु पुरुष हैं, वे श्रीमान्, उज्ज्वल कीर्त्तिवाले, राजा श्री मूलवर्म्मा के पुण्य को सुनें। (वे लोग सुनें उसके) बहुत अधिक दान को, जीवों के दान को, ×

---

* मूल संस्कृत में षष्ठी विभक्ति है, जो कर्ता अर्थ में समझनी चाहिए।

† फोगल ने "यद्" शब्द का अर्थ 'when' (जब) किया है, जो ठीक नहीं है।

‡ श्री फोगल "एक सहस्र और बीस" अर्थ करते हैं। परन्तु जैसा पाठ हमने मूल में दिया है, उसके अनुसार "विंशति" का "गोसहस्रिक" के साथ समानाधिकरण्य होने से विशेषण विशेष्य का सम्बन्ध है। अतः अर्थ २० सहस्र ही होगा, १ सहस्र २० नहीं।

१. यहाँ ध्यान देने योग्य यह बात है कि उपध्मनीय का प्रयोग न करके विसर्ग का ही प्रयोग किया गया है। भारतवर्ष और काम्बोज उपनिवेश के पूर्वकालिक लेखों में तथा पश्चिमी जावा द्वीप से प्राप्त महाराज श्री पूर्णवर्मा के भी एक लेख में उपध्मनीय का प्रयोग हुआ है।

× विद्वानों ने "बहुदान जीवदानं" के विविध अर्थ करने का यत्न किया है, किन्तु

६· विङ्गतिर्ग्गो साहस्त्रिकम् [।]
७· तस्य पुण्यस्य यूपोयम्
८· कृतो विप्रैरिहागतै [:] [॥२॥]

शिलालेख नं० ३ (छन्द आर्या)

पंक्ति १· श्रीमद्विराजकीर्त्तेः
२· राज्ञः श्रीमूलवर्म्मणः पुण्यम् [।]
३· शृण्वन्तु विप्रमुख्याः
४· ये चान्ये साधवः पुरुषाः [॥१॥]
५· बहुदान जीवदानम्
६· सकल्पवृक्षं सभूमिदानम् [।]
७· तेषां पुण्य गणानाम्
८· यूपोयं स्थापितो विप्रैः [॥२॥]

शिलालेख नं० ४ (छन्द अनुष्टुप्)

पंक्ति १· सगरस्य यथा राज्ञः
२· समुत्पन्नो भगीरथः [।]
३· . . . .
४· मूलवर्म्मो . . . .

७. तस्य पुण्यस्य यूपोयम्

८. कृतो विप्रैरिहागतैः [:] [॥२॥]

भावार्थ—श्रीमान्, नृपों में मुख्य, राजा श्री मूलवर्म्मा ने * पुण्यतम धर्मस्थान "वप्रकेश्वर" में अग्नि के सदृश (तेजस्वी) ब्राह्मणों को जो † बीस सहस्र‡ गौओं का दान दिया, उसके पुण्य का यह यूप-कीर्तिस्तम्भ यहाँ आए हुए ब्राह्मणों ने (स्थापित) किया।[१]

शिलालेख नं० ३ (छन्द आर्या)

पंक्ति १. श्रीमद्विराजकीर्त्तेः

२. राज्ञः श्रीमूलवर्म्मणः पुण्यम् [।]

३. शृण्वन्तु विप्रमुख्याः

४. ये चान्ये साधवः पुरुषाः [॥२॥]

५. बहुदानजीवदानम्

६. सकल्पवृक्षं सभूमिदानंच [।]

७. तेषांपुण्यगणानाम्

८. यूपोयं स्थापितो विप्रैः [॥२॥]

भावार्थ—प्रधान ब्राह्मण लोग, तथा जो दूसरे साधु पुरुष हैं, वे श्रीमान्, उज्ज्वल कीर्त्तिवाले, राजा श्री मूलवर्म्मा के पुण्य को सुनें। (वे लोग सुनें उसके) बहुत अधिक दान को, जीवों के दान को, ×

---

* मूल संस्कृत में षष्ठी विभक्ति है, जो कर्त्ता अर्थ में समझनी चाहिए।

† फोगल ने "यद्" शब्द का अर्थ "when" (जब) किया है, जो ठीक नहीं है।

‡ श्री फोगल "एक सहस्र और बीस" अर्थ करते हैं। परन्तु जैसा पाठ हमने मूल में दिया है, उसके अनुसार "विंशति" का "गोसाहस्रिक" के साथ समानाधिकरण्य होने से विशेषण विशेष्य का सम्बन्ध है। अतः अर्थ २० सहस्र ही होगा, १ सहस्र २० नहीं।

१. यहाँ ध्यान देने योग्य यह बात है कि उपध्मानीय का प्रयोग न करके विसर्ग का ही प्रयोग किया गया है। भारतवर्ष और काम्बोज उपनिवेश के पूर्वकालिक लेखों में तथा पश्चिमी जावा द्वीप से प्राप्त महाराज श्री पूर्णवर्म्मा के भी एक लेख में उपध्मानीय का प्रयोग हुआ है।

× विद्वानों ने "बहुदान जीवदानं" के विविध अर्थ करने का यत्न किया है, किन्तु

सहित कल्पवृक्ष * के और सहित भूमिदान के। इन (दोनों के) पुण्यगणों का यह यूप ब्राह्मणों ने स्थापित किया।

शिलालेख नं० ४ (छन्द अनुष्टुप्)

पंक्ति १. सागरस्य यथा राज्ञः
२. समुत्पन्नो भगीरथः [।]
३. ....
४. मूलवर्म्म.........

भावार्थ—जैसे राजा सगर के भगीरथ उत्पन्न हुआ.........
मूलवर्म्म......।

इस शिलालेख का शेष भाग इतना शीर्ण हो चुका है कि आज तक किसी विद्वान् ने मिटे हुए अक्षरों को पढ़ने का यत्न नहीं किया। साधारणतया अनुमान किया जा सकता है कि इस में भी ८ या १२ पंक्तियाँ रही होंगी। सम्भवतः इस शिलालेख में कुछ विशेष ऐतिहासिक विवरण मिलता।

श्रीमूलवर्मा के चारों लेखों की भाषा सुगम संस्कृत है। यद्यपि इनका मुकाबला रुद्रदामन् की गिरनारवाली प्रशस्ति, समुद्रगुप्त की प्रयागवाली प्रशस्ति अथवा चन्द्र की मेहरौलीवाली प्रशस्ति के साथ नहीं किया जा सकता, तथापि यह निर्विवाद है कि भारत के उपनिवेशों अर्थात् जावा, चम्पा, काम्बोज के समकालीनप्राय शिलालेखों में शिल्प तथा साहित्य की दृष्टि से ये चारों लेख अद्वितीय हैं।

शिलालेखों पर कोई तिथि न होने से निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा

कोई अर्थ सन्तोषजनक नहीं। हमारी सम्मति में यदि "दानजीव" को एक शब्द रखकर इसका गौ अर्थ किया जा सके, तभी "दान" शब्द का दो बार आना सार्थक हो सकता है। (बहु—दानजीव—दान = बहुत गौओं के दान को।)

* इसका भाव यह हो सकता है कि गौओं के दान के साथ ही जो कुछ ब्राह्मणों की और कामनाएँ थीं, वे भी पूरी की गईं, तथा आजीवन निर्वाह के लिये भूमिदान किया गया। इसके अतिरिक्त कल्पवृक्ष के दान में देने का कोई निर्णीत अर्थ नहीं हो सकता।

सकता कि श्री मूलवर्मा किस शताब्दी तथा किस वर्ष में राजसिंहासन पर आरूढ़ हुए और ब्राह्मणों ने कब इन कीर्तिस्तम्भों की स्थापना की। शिलालेखों की लिपि मात्र ही अब हमारा सहारा है। दूसरे शिलालेखों के साथ मिलान करने से अनुमान हो सकता है कि यह सम्भवतः अमुक शताब्दी में खोदे गए थे।

(१) इन शिलालेखों में प्रत्येक पाद पृथक् पृथक् एक एक पंक्ति में लिखा गया है। प्रायः समस्त शिलालेखों में शिला की चौड़ाई में जितने अक्षर अथवा श्लोक आ सकते हैं, उतने ही खोदे जाते हैं। अतः यदि कुछ शिलालेखों में यही विशेषता—एक पंक्ति में एक पाद—समान रूप से मिल जाय, तो खोज करने का परिश्रम निरर्थक न होगा। पल्लव राजा महेन्द्रवर्मा प्रथम के महेन्द्रवाडी तथा दलवाणूर के गुहालेखों में एक पंक्ति में एक ही पाद है। पूर्ण रूप से परस्पर ऐसा सादृश्य किसी दूसरे लेख में नहीं।

(२) इन लेखों की लिपि में प्रायः प्रत्येक अक्षर के उपरि भाग में गहरे खुदे हुए वर्ग (▢) हैं। किसी किसी अक्षर में जैसे "ह" (शि० ले० नं० १ पं० ६), "ङ" (शि० ले० नं० १ पं० २), "व" (शि० ले० नं० १ पं० २०), "ल" (शि० ले० नं० २ पं० ५), "ग" (शि० ले० नं० ३ पं० ७) तथा उन अक्षरों में जिनके ऊपर आड़ी रेखा खिंची है, यह विशेषता नहीं भी पाई जाती। बहुधा ये वर्ग मध्य भारत के प्राचीन लेखों में मिलते हैं। इन्हीं वर्गों के कारण लिपि का नाम "वर्गशिरस्का" अर्थात् "वर्गयुक्त सिरोंवाली" पड़ गया है। मध्य भारत की वर्गशिरस्का लिपि के विषय में डाक्टर बोलर कहते हैं—"अक्षरों के सिरों पर छोटे छोटे वर्ग हैं, जो या तो बीच में से खुले हैं अथवा सर्वथा भरे हैं। ठोस या भरे हुए वर्गों का आविष्कार सम्भवतः (भोजपत्र पर) स्याही से लिखनेवालों ने किया है और बीच में से खुले हुए वर्गों का आविष्कार ताड़पत्र पर

(तेज धारवाली) लोहे की सूई से लिखनेवालों ने; क्योंकि अन्यथा ताड़पत्र के फटने का भय था।" महाराज समुद्रगुप्त के एरण (संस्कृत—ऐरिकिण) ग्राम में प्राप्त शिलालेख में, महाराज चन्द्रगुप्त द्वितीय के गुप्त सं० ८२ (ईस्वी सन् ४०१) के उदयगिरिगुहान्तरलेख में, महाराज महाजयराज के आरङ्गवाले ताम्रलेख में, महाराज महासुदेवराज के रायपुर के ताम्रलेख में, वाकाटकों के लेखों में तथा महाराज तीवरदेव के लेखों में यही वर्ग-शिरस्का लिपि प्रयोग में लाई गई है। समुद्रगुप्त के तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय के सन् ४०१ के लेख से यह निर्विवाद है कि ईस्वी चौथी शताब्दी के अन्त में वर्गशिरस्का लिपि अपने परिपक्व रूप में प्रचलित हो चुकी थी। शिलालेखों में तो प्रायः सब वर्ग अन्दर से भरे हुए ही मिलते हैं, क्योंकि शिला पर गहरे तथा बीच में से खुले हुए वर्गों का खोदना सरल नहीं था। परंतु ताम्रपत्रों पर खोदने में कोई कठिनाई न होने से उनमें अधिकतर खाली पेटवाले वर्ग मिलते हैं। शिलालेखों में महाराज पृथिवीषेण के "नाचने-की तलाई" के दोनों शिलालेख (देखो "गुप्तलेख" श्री फ्लीट सम्पादित सं० ५३, ५४) अपवाद रूप से समझने चाहिएँ। उनमें अक्षरों का आकार ⅞ इंच से 1¼ इंच तक है। अक्षरों के असाधारण दीर्घ बहुत बड़े होने पर ही यह सम्भव हुआ कि वर्ग बीच में से पोले रखे जायँ। मध्य भारत के अतिरिक्त दक्षिण में भी ईस्वी पाँचवीं शताब्दी के दो कदम्ब लेखों में तथा महाराज सिंहवर्मन पल्लव के उरुवुपल्ली के ताम्रपत्र-लेख में यही लिपि प्रयुक्त हुई है। भारत के बाहर भी चम्पा उपनिवेश में राजा भद्रवर्मन् के लेखों में तथा जावा उपनिवेश के आरन्तनवाले महाराज पूर्णवर्मन के पहाड़ी पर खुदे लेख में इसी लिपि का प्रयोग हुआ है।

(३) मूलवर्मा के लेखों में पाठक एक और विशेषता यह पावेंगे कि अक्षरों की अधोगामिनी सीधी रेखाएँ बाईं ओर हुक के समान ऊपर को मुड़ी हुई हैं। यही हुकें दक्षिण भारत में तथा भद्रवर्मन के

हानकुक और मीसन के लेखों में विद्यमान हैं। श्री वर्गेने तथा श्री फिनट ने सब से प्रथम इनकी ओर ध्यान दिलाया था।

हमारे शिलालेखों में से कुछ नमूने ये हैं—

शिलालेख नं० १—पं० १. रे, द्र। पं० २. कु। पं० ३. पु, त्रा। पं० ५. श्रा। पं० ६. त्रे। पं० ७. न्त्र। पं० ९. न्त्रो। पं० १०. हु, सु, क। पं० १२. न्द्रै, ग्र।

शिलालेख नं० २—पं० २. रा, श्र। पं० ३. पु, त्रे। पं० ४. प्र, के, रे। पं० ६. लि। पं० ८. प्रे, रि।

शिलालेख न० ३—पं० १. रा, की। पं० २. पु। पं० ३. म। पं० ४. पु, रु। पं, ५. हु। पं० ६. क। पं० ७. न्पु। पं० ८. प्रै। इत्यादि।

यदि पाठक ध्यान से अवलोकन करेंगे, तो उनको पता लगेगा कि कि कई लघर सादे भी हैं। जैसे—शि० ले० नं० १ प० ७. में "र:" पं० १२ में "क" इत्यादि। और कई अक्षरों में यह हुक इतनी छोटी है कि बिना गहरी दृष्टि डाले सन्देह होता है कि यह अक्षर का भाग है अथवा खोदने में असावधानी के कारण छोटा सा पत्थर का टुकड़ा उड़ गया है। जैसे शि० ले० नं०१ पं० ५. में "पु" प० १०. में "हु" "सु" इत्यादि।

चतुर्थ शताब्दी के पल्लव राजाओं के प्राकृत भाषा के ताम्रपत्रों की हमारे लेखों के साथ सदृशता आश्चर्यजनक है, किन्तु भद्रवर्मन् के चम्पा के लेखों में इन हुकों का सर्वथा अभाव है, यद्यपि लिपि की अन्य सब विशेषताएँ समान हैं। इससे श्री फोगल यह परिणाम निकालते हैं कि चम्पा के लेखों की लिपि कोताई के लेखों की लिपि से अधिक पुरानी है। पश्चिमी जावा में प्राप्त जम्बू तथा चारुन्तन के शिलालेखों में हुकों की लम्बाई बहुत अधिक है। कई विद्वान् इससे भी यही परिणाम निकालना चाहते हैं कि ये शिलालेख चम्पा और कोताई से

अर्वाचीन हैं। दक्षिण भारत के पल्लव राजा सिंहवर्मन के हुकों की लम्बाई जम्बु और चारुन्तन के हुकों के प्रायः बराबर है। इस सदृशता से यह परिणाम निकाला जाता है कि भारत के पल्लव लेखों के कुछ बाद के ही वे लेख हैं; क्योंकि जब किसी लिपि का भारत में आविष्कार हो चुकता था, तभी भारतीय शिल्पी उपनिवेशों में जाकर उस लिपि का प्रचार करते थे।

(४) ज, प, ब, ल और ह इन पाँच अक्षरों में वाम पार्श्व बाईं ओर को उभरा हुआ है। भारत में सब से प्राचीन रुद्रदामन की गिरनारवाली प्रशस्ति है जिसमें ये अक्षर इस रूप में मिलते हैं। कदम्बों, वाकाटकों, पल्लवों (७ वीं शताब्दी) तथा भद्रवर्मन् के चम्पा के शिलालेखों में भी इसी समानता को देखकर एक भारतीय हृदय को कितना प्रमोद और अभिमान होता है कि किसी समय में भारत और भारत के उपनिवेश एक सभ्यता के सूत्र में पिरोए हुए थे। हजारों मीलों की दूरी कोई दूरी ही न थी।

(५) थ (शि० ले० नं० १ पं० ४; शि० ले० नं० ३ पं० ८); श (शि० ले० नं० १ पं० १, ३; ४, ९; शि० ले० नं० २ पं० १, २, ४, ६; शि० ले० नं० ३ पं० १, २, ३) और ष (शि० ले० नं० १ पं० ७, १०; शि० ले० नं० २ पं० ३; शि० ले० नं० ३ पं० ४, ६, ७) इन तीनों अक्षरों में दक्षिण पार्श्व में अन्दर की ओर घुण्डी के सदृश मुड़े हुए अग्र भागवाली छोटी सी रेखा है। भारत के सब प्राचीन लेखों में इस मुड़ी हुई रेखा के स्थान में थ के मध्य में बिन्दु तथा श और ष में दक्षिण पार्श्व से वाम पार्श्व तक आड़ी रेखा पाई जाती है। इस विशेषता का वैशेष्य और भी बढ़ जाता है, जब हम पाठकों को बतलाते हैं कि केवल पल्लव राजाओं के लेखों में ही ये विशेषताएँ उपलब्ध हैं। भद्रवर्मन् के चम्पावाले लेखों में केवल श के रूप में समानता है, ष और थ के रूपों में नहीं।

(६) न (एक बार—शि० ले० नं० १, पं० ४) और म (सात बार—शि० ले० नं० १ पं० १०, ११; शि० लेख नं० २ पं० ६, ७; शि० ले० नं० ३ पं०२, ५, ७) ये दो वर्ण पंक्ति के अन्त में कुछ नीचे को तथा अन्य वर्णों की अपेक्षा आधे आकार में खुदे दिखाई पड़ते हैं। ये स्वरहीन हल् अक्षर हैं। स्वरहीन अक्षरों को लिखने का यह बहुत प्राचीन ढंग है *।

उपर्युक्त प्रमाणों से तथा लिपि विषयक अन्य सापेक्षिक प्रमाणों से ये परिणाम निकलते हैं कि (१) भारत में अथवा भारतीय चीन (Indo-China) में कोई एक शिलालेख ऐसा नहीं जिसके साथ कोता की लिपि अक्षरशः मिल जाय। (२) भारतवर्ष में शिला पर खुदे हुए लेखों में से किसी के साथ भी इनका विशेष सादृश्य नहीं। (३) केवल दक्षिण भारत में पल्लवों के चतुर्थ शताब्दी के ताम्रपत्रों के साथ ही इनका इस प्रकार का सादृश्य है कि यह निश्चित है कि सम्भवतः पल्लवों के साथ मूलवर्मा का घनिष्ट सम्बन्ध था, तथा कोताई के शिलालेखों का समय पल्लवों के ताम्रपत्रों के कुछ बाद का है। पल्लवों के ताम्रपत्रों पर कोई तिथि नहीं जिससे उनका काल निश्चित हो सके। यदि किसी ताम्रपत्र पर तिथि है भी, तो वह शासक राजा के राज्यवर्षों की गणना मात्र है। पल्लवों की लिपि के साथ सादृश्य के आधार पर विद्वानों का अनुमान है कि कोताई के लेख लगभग ४०० सन् ईस्वी के, भद्रवर्मन् के ४५० ई० के और पश्चिमी जावा द्वीप के राजा पूर्णवर्मन् का चारुन्तनवाला लेख ५०० सन् ईस्वी का होना चाहिए। अर्थात् आज से डेढ़ सहस्र वर्ष पूर्व भारत की सीमा बङ्गाल की खाड़ी न थी। भारत की बढ़ती हुई सभ्यता के रास्ते में समुद्र रुकावट न डालता था, किंतु सहायक था। विस्तृत भारत की सीमा कितनी विस्तृत थी, इसका कुछ दिग्दर्शन

---

* शारदा लिपि में हल् अक्षरों के लिखने का यह ढंग अब तक काम में आता रहा है।

कराने का यत्न हमने आज किया है। अपने आगामी लेख में हम अपने अन्य पूर्वीय उपनिवेशों का संक्षिप्त इतिहास देंगे। साथ ही एक चित्र भी होगा जिससे प्राचीन तथा अर्वाचीन नामों का और भारतीय सभ्यता के वास्तविक विस्तार का ठीक ठीक पता लग सकेगा।

---

(१६) मंत्र-विम्ब

[लेखक—श्रीयुक्त मौलवी मुहम्मद यूसुफ खाँ, भफसूँ, काशी ।]

(ना० प्र० पत्रिका भाग ७, अं० १, पृ० ११९ से आगे)

चार सूचनाएँ

(१) संख्यासूचक शब्दों के आधार पर कोई तिथि लिखी जाय तो उसके नीचे भी केवल संवत् का अंक, या संवत् का अंक और उसके नीचे जाँच रूप लिख देना उचित है, कि लोग सहज में समझ लें, और कई अर्थवाले शब्दों का मतलब भी खुल जाय कि कौन अर्थ कवि ने लिया है।

(२) संख्यासूचक शब्द, तिथि से भिन्न और स्थान पर भी लिखे जाते हैं। ऐसे शब्दों से जो मन चाहे सो काम ले।

(३) उक्त नामों के अतिरिक्त इनके पर्य्यायवाची शब्द भी लिखे जाते हैं। शब्द चाहे जो हो, उससे अभिप्रेत अंक का बोध होना चाहिए।

(४) ऊपर लिखे हुए शब्दों से काम न चले, तो जिस अंकवाला शब्द चाहिए हो, उस अंकवाले शब्दों में से किसी शब्द का अर्थ जान कर उस अर्थ का दूसरा शब्द किसी कोष में और अधिक करके अमर कोष में देखे, क्योंकि उसमें एक अर्थ के कई कई शब्द एक ही स्थान पर लिखे हैं। इस तरह जो शब्द अपने मतलब का मिल जाय, उसे ग्रहण कर ले। जैसे १ अंक का शब्द पृथ्वी है। इसमें ४ मात्राएँ हैं २ लघु और १ गुरु जिसका सगण रूप यह है—"।।S," इसके स्थान पर ऐसे शब्द की आवश्यकता है जिसका अंक १ हो, और मात्राएँ ५, रूप रगण अर्थात् यह हो "S।S" कोष में देखने से पृथ्वी अर्थ का

दूसरा शब्द मेदिनी मिल गया। इस शब्द का अंक भी १ है, और रूप भी रगण "S । S" है। पिंगल का नियम भी नहीं बिगड़ा, कवि का काम भी चल गया। कवियों को ऐसा ही करना चाहिए। चन्द्रमा के हर नाम का एक ही अंक माना जाता है। "रत्न पिंगल" लिखनेवाले ने एक कविता में चन्द्रमा के ११६ नाम लिखे हैं, जो इस प्रकार हैं—

चन्द्रमा के ११६ नाम

अत्रिज	कैरवी	द्विजराज
अब्ज	कौमुदीपति	नक्षत्रपति
अमृतदीधिति	ग्लौ	नक्षत्रप
अमृतद्युत	चन्द्र	नवनीतक
अमृताधार	चन्द्रमा	निशाकेतु
अमृतसू	चाँद	निशामणि
इन्दु	छायानिधि	निशीथिनीपति
ओषधीश	छायामृत	पर्वधि
उडुपति	छायामृगधर	पीयूषनिधि
उडुप	जैवातृक	पीयूषरुचि
उडुराट्	तमाहर	प्लु
ऋक्षेश	तमोघ्न	प्रालेयांशु
कलानिधि	तमोनुद	भपावा
कलापति	तमोपह	भपति
कलाविनी	तिमिररिपु	महापीयूष
कलापूर्ण	तिमिरअरि	मृगांक
कलाभृत्	ताराधिपति	मृगधर
कलावान्	तारापीड़	मृगचि
कुमुदपति	तिथिप्रणी	मृगलांछन
कुमुदप्रिय	तुहिनांशु	यामिनीपति
कुमुदबान्धव	दशवाजी	रजनीपति
कुमुदिनीपति	दाक्षायिणीपति	रात्रिनाथ
कुमुदेश	द्विजपति	रात्रिमणि

राजराज	शीतांशु	सुधाधार
रोहिणीश	शीतमयूख	सुधाभृति
रोहिणीपति	शीतमरीचि	सुधानिधि
लक्ष्मीसहज	शीतभानु	सुधासूति
विधु	शीतरुक	सुधांग
शशधर	शुभ्रांशु	सुधांशु
शशभृत्	शुचिरोची	सोम
शर्वरीकान्त	श्रीसहोदर	हरिणांक
शशलांछन	श्वेतधामा	हरिणकलंक
शशविन्दु	श्वेतवाहन	हरचूड़ामणि
शशांक	श्वेतरोची	हरशेखर
शशि	श्वेतवाजि	हिमकर
शशिन्	सितदीधिति	हिमद्युति
शशी	सितांशु	हिमरश्मि
शिवशेखर	सितरश्मि	हिमश्रथ
शीतगु	सुधाकर	

इन नामों के अतिरिक्त पुस्तकों में "क्षपाकर," "हरि" इत्यादि चन्द्रमा के और भी नाम आए हैं।

संख्यासूचक शब्दानुसार तिथि उदाहरण

दोहा—रत्न, द्वीप, निधि, चन्द्रमा–सम्वत् बीच नवीन।
"अकसूँ" श्री वेताब जी पुस्तक मुद्रित कीन॥
सं० १९७९ वि० (अ. ब.)

जाँच रूप

चन्द्रमा, निधि, द्वीप, रत्न.
१ ९ ७ ९

दोहा—प्राण, द्वीप, निधि, मेदिनी, विक्रम सम्वत् जान।
श्रावण शुक्ला द्वादशी, भयो शतक अवसान॥
सं० १९७५ वि० (पं० वेताब)

जाँच रूप

मेदिनी, निधि, द्वीप, प्राण,

१ ९ ७ ५

ललित श्लोक

वेदाब्ध्यङ्कैक, वर्षेऽस्मिन्नूर्जमासिसिते शुभे ।
प्रतिपच्चन्द्रवारे च ग्रन्थोऽयं पूर्णतामियात् ॥

सं० १९४४ वि० (पं० कृष्णलाल)

भोपाल में शाहजहाँ बेगम की आज्ञा से जो छः भाषाओं का "खिज़ानतिल लुगात" नामक कोष मुद्रित हुआ था, यह उसी कोष की तिथि है और उसमें प्रकाशित भी हो चुकी है।

जाँच रूप

एक, अंक, अब्धि, वेद,

१ ९ ४ ४

गुप्तसार

गुप्तसार, जिसका अरबी, फारसी में "मोअम्मा," नाम है, उस वाक्य को कहते हैं जिसमें केवल वर्ण मालाक्षर की विशेषता, या संख्यासूचक अक्षर, और संख्यासूचक-शब्द के आधार पर किसी का भी नाम हो, ऐसी रीति से लिखते हैं कि गुप्तसार की विशेष क्रियाओं बिना नाम प्रकट नहीं होता। इस लेख के दूसरे भाग में इसका विस्तारपूर्वक हाल लिखूँगा। इस स्थान पर विद्यार्थियों को समझाने के लिये थोड़ा हाथ हाल लिख देता हूँ। जिसके नाम का गुप्तसार लिखना होता है, उसके नाम के अनुसार वाक्य, या काव्य में संख्यासूचक शब्द लिखे जाते हैं। उन शब्दों के अंक से संख्यासूचक वे अक्षर लेते हैं जिनके उतने ही अंक हों। फिर अपनी बुद्धि से उन अक्षरों को जोड़ कर, मात्राएँ लगा कर नाम बना लेते हैं। स्वर, व्यंजन, अनुस्वार,

विसर्ग, हलन्त आदि अक्षर मालूम करने के नियम, अक्षर जोड़ने के नियम, मात्रा लगाने के नियम, समान अक्षरों में से कौन सा अक्षर लेना चाहिए इसके नियम, दूसरे भाग में लिखे जायेंगे। उदाहरण—

गुप्तसार, नारायणप्रसाद, अर्ध दलाप दीपक द्वन्द्व

यज्ञ, चक्र इन्द्रयज्ञ, भूत इन्द्रयज्ञ, बाण, खण्ड द्यो।
शास्त्र इन्द्रयज्ञ, नंद इन्द्रयज्ञ, लोकरिक्तके नमः॥

(अ. व.)

यज्ञ	चक्रइन्द्रयज्ञ,	भूतइन्द्रयज्ञ,	बाण,	खण्डद्यो,
५	६००	५००	५	९०
न +	र +	य +	ण +	प

शास्त्रइन्द्रयज्ञ,	नंदइन्द्रयज्ञ,	लोकरिक्तके	नमः
६००	९००	७०	नमस्कार
र +	स +	द	"

नाम—नारायणप्रसाद, नमस्कार,

नमः गुप्तसार से भिन्न है। यह कविता एक चिट्ठी में लिखी गई थी, इसी से नमः लिखना पड़ा। गुप्तसार काव्य के ऊपर गुप्तसार शब्द के साथ जिसके नाम का गुप्तसार हो, उसका नाम भी लिख देना चाहिए, कि पढ़नेवाला क्रियाओं द्वारा वही नाम निकालने की युक्ति करे। क्रियाओं के हेर फेर से, एक गुप्तसार से अधिक नाम भी निकल सकते हैं। फारसी में मौलाना सहबाई ने, "गंजीनए रमूजे सहबाई," नामक पुस्तक में अपने रचे हुए एक गुप्तसार से क्रियाओं के हेर फेर से ३५० नाम निकाले हैं।

जाँच रूप

मेदिनी, निधि, द्वीप, प्राण,

१ ९ ७ ५

ललित श्लोक

वेदाब्ध्यङ्कैक, वर्षेऽस्मिन्नूर्जमासिसिते शुभे ।

प्रतिपच्चन्द्रवारे च ग्रन्थोऽयं पूर्णतामियात् ॥

सं० १९४४ वि० (पं० कृष्णलाल)

भोपाल में शाहजहाँ बेगम की आज्ञा से जो छः भाषाओं का "खिजानतिल लुगात" नामक कोष मुद्रित हुआ था, यह उसी कोष की तिथि है और उसमें प्रकाशित भी हो चुकी है।

जाँच रूप

एक, अंक, अब्धि, वेद,

१ ९ ४ ४

गुप्तसार

गुप्तसार, जिसका अरबी, फारसी में "मोअम्मा," नाम है, उस वाक्य को कहते हैं जिसमें केवल वर्ण मालाक्षर की विशेषता, या संख्यासूचक अक्षर, और संख्यासूचक-शब्द के आधार पर किसी का भी नाम हो, ऐसी रीति से लिखते हैं कि गुप्तसार की विशेष क्रियाओं बिना नाम प्रकट नहीं होता। इस लेख के दूसरे भाग में इसका विस्तारपूर्वक हाल लिखूँगा। इस स्थान पर विद्यार्थियों को समझाने के लिये थोड़ा हाथ हाल लिख देता हूँ। जिसके नाम का गुप्तसार लिखना होता है, उसके नाम के अनुसार वाक्य, या काव्य में संख्यासूचक शब्द लिखे जाते हैं। उन शब्दों के अंक से संख्यासूचक वे अक्षर लेते हैं जिनके उतने ही अंक हों। फिर अपनी बुद्धि से उन अक्षरों को जोड़ कर, मात्राएँ लगा कर नाम बना लेते हैं। स्वर, व्यंजन, अनुस्वार,

विसर्ग, हलन्त आदि अक्षर मालूम करने के नियम, अक्षर जोड़ने के नियम, मात्रा लगाने के नियम, समान अक्षरों में से कौन सा अक्षर लेना चाहिए इसके नियम, दूसरे भाग में लिखे जायँगे। उदाहरण—

गुप्तसार, नारायणप्रसाद, अर्ध दलाप दीपक छन्द

यक्ष, चक्र इन्द्रयक्ष, भूत इन्द्रयक्ष, बाण, खण्ड यो।
शास्त्र इन्द्रयक्ष, नंद इन्द्रयक्ष, लोकरिक्तके नमः॥

(अ. ब.)

यक्ष	चक्रइन्द्रयक्ष,	भूतइन्द्रयक्ष,	बाण,	खण्डयो,
५	६००	५००	५	९०
न +	र +	य +	ण +	प

शास्त्रइन्द्रयक्ष,	नंदइन्द्रयक्ष,	लोकरिक्तके	नमः
६००	९००	७०	नमस्कार
र +	स +	द	”

नाम—नारायणप्रसाद, नमस्कार,

नमः गुप्तसार से भिन्न है। यह कविता एक चिट्ठी में लिखी गई थी, इसी से नमः लिखना पड़ा। गुप्तसार काव्य के ऊपर गुप्तसार शब्द के साथ जिसके नाम का गुप्तसार हो, उसका नाम भी लिख देना चाहिए, कि पढ़नेवाला क्रियाओं द्वारा वही नाम निकालने की युक्ति करे। क्रियाओं के हेर फेर से, एक गुप्तसार से अधिक नाम भी निकल सकते हैं। फ़ारसी में मौलाना सहयाई ने, "गंजीनए रमूजे सहयाई," नामक पुस्तक में अपने रचे हुए एक गुप्तसार से क्रियाओं के हेर फेर से ३५० नाम निकाले हैं।

गुप्तसार अफसँ

(इस लेख के समाप्त होने की तिथि सहित)

दोहा—उर्वी, शतभू, शतऋचा, सेवक का है नाम ।
संख्या, पर्वत, खंड, भू, वर्ष इति का प्रणाम ॥

सं० १९७९ वि० (अ. स.)

जाँच रूप

उर्वी,		शतभू,		शतऋचा,
१		१००		९००
अ	+	फ	+	स

नाम—अफसँ

भू,	खंड,	पर्वत,	संख्या,
१	९	७	९

गुप्तलेख

यह लेख-विद्या प्राचीन महात्माओं की निकाली हुई है। जिसके पास इस लेख में कुछ लिख कर भेजना हो, पहले उसे इसका भेद समझा दे कि लेख मिलते ही वह सहज में पढ़ ले। गुप्तलेख का यह नियम है कि एक बड़ी रेखा अर्थात् लम्बी लकीर इस प्रकार ———— खींच कर उसके ऊपर जो कुछ लिखना हो, उसके एक एक अक्षर का अंक भिन्न भिन्न बिना शून्य के ऐसे लिखे कि एकाई का अंक रेखा से कुछ अलग रहे; और दहाई का अंक रेखा से ठीक मिल जाय, और सैकड़े का अंक रेखा से नीचे या जरा बाहर निकल जाय; और हजार का अंक रेखा से कुछ बाहर निकल कर दाहिनी ओर जरा घूम जाय। हर स्वर अक्षर का एक ही अंक लिखा जाता है। उस अंक के दाहिने ओर उसका नम्बर लिख देते हैं। द, लिखना होता है तो ऐसे लिखते हैं, १ (११) अंकों से अक्षर मालूम

करके अपनी बुद्धिमानी से मिला ले और मात्रा लगा कर पढ़ ले। कभी कभी पढ़नेवालों के सुभीते के लिये अंक के नीचे कुछ चिह्न और नम्बर भी लिख देते हैं, जिससे यह मालूम हो जाता है कि इस अंक-वाला अक्षर समान अक्षरों में से कौन सा है; और यह अक्षर बाईं ओर या दाहिनी ओर के अक्षर के आदि, मध्य या अन्त में कहाँ जोड़ा जायगा। और यह भी पता मिल जाता है किस अक्षर में कौन सी मात्रा चाहिए।

चिह्न-वर्णन

˘ इस चिह्नवाला अक्षर बाईं ओरवाले अक्षर के आदि में जोड़ा जाता है। जैसे, यह रेफ है, र्व।

— इस चिह्न का अक्षर बाईं ओरवाले अक्षर के मध्य में जोड़ा जाता है। जैसे, य में स—स्य।

‿ इस चिह्न का अक्षर बाईं ओरवाले अक्षर के अन्त में जोड़ा जाता है। जैसे, प में ल—प्ल।

ʼ इस चिह्न का अक्षर दाहिनी ओरवाले अक्षर के आदि में जोड़ा जाता है।

० इस चिह्न का अक्षर दाहिनी ओरवाले अक्षर के मध्य में जोड़ा जाता है।

_ इस चिह्न का अक्षर दाहिनी ओरवाले अक्षर के अन्त में जोड़ा जाता है।

समान अक्षर

मंत्रबिम्ब के द्वितीय वर्ग में समान अक्षर एक ही स्थान में लिखे हैं। उनमें का पहला अक्षर हो तो कुछ न लिखे, दूसरा अक्षर हो तो रेखा के ऊपर अंक की दाहिनी ओर १, तीसरा हो तो २, चौथा हो तो ३ मेढ़ी पाई लिख दे।

मात्रा

मंत्रबिम्ब के प्रथम वर्ग में १६ स्वर अक्षर लिखे हैं। मात्राएँ उन्हीं से बनती हैं। हर अक्षर के साथ नम्बर भी लिखा है। जिस अक्षर की मात्रा हो, उस अक्षर का नम्बर अंक के नीचे लिख दे।

२ नम्बर का काम नहीं पड़ता, क्योंकि बिम्ब में मात्रा सहित आ का २ नम्बर है। कभी कभी इस लेख में व्यंजन अक्षर हिंडोल कोष्टक के लिखते हैं। हिंडोल कोष्टक की दूसरी पंक्ति का र लिखना होता है तो उसके बदले उसके सामनेवाला पहली पंक्ति का अक्षर ट लिखते हैं। पढ़ने के समय र पढ़ते हैं। स्वर अक्षर और चिह्न रूप जैसे के तैसे ही रहते हैं।

ॐ श्री

जिस लेख में हिंडोल अक्षर न मिला हो, उसके आदि में ॐ, और जिस लेख में हिंडोल अक्षर मिला हो, उसके आदि में श्री लिखते हैं, चाहे गुप्त लेख हो, चाहे वृक्ष लेख हो।

वृक्ष लेख

यह लेख भी बाईं ओर से लिखा जाता है, और हर अक्षर अलग अलग लिखा जाता है। इस लेख में स्वर अक्षरों की पहली पंक्ति और व्यंजन अक्षर क, ख, वाली पंक्ति को दूसरी पंक्ति, इसी प्रकार य, र, वाली पंक्ति को सातवीं पंक्ति मानते हैं। कुछ लिखना होता है, तो हर अक्षर के लिये एक छोटी टेढ़ी पाई के ऊपर एक लम्बी खड़ी पाई इस प्रकार लिखते हैं। जितने नम्बर की पंक्ति का अक्षर हो, उतनी आड़ी रेखाएँ खड़ी पाई के बाएँ ओर और उस पंक्ति के जितने नम्बर का अक्षर हो, उतनी आड़ी रेखाएँ खड़ी पाई के दाहिने ओर लिख देते हैं। यदि स्वर अक्षर का नम्बर १० से अधिक हो, तो दस के बदले एक बिन्दु "·" लिख के जितने नम्बर बचते हैं, उतनी रेखाएँ लिख देते हैं, और गुप्त लेखवाले सब चिह्न

रूप इस लेख में भी काम देते हैं। उन्हें उसी प्रकार अक्षर के नीचे लिखते हैं। समान अक्षर के चिह्न का इस लेख में काम नहीं पड़ता। कभी कभी इस लेख में भी व्यंजन अक्षर हिंडोल कोष्टक के लिखते हैं। लेख के आदि में श्री लिखा रहने से पहचान लेते हैं।

इस लेख में अ ऐसे लिखते हैं

क ऐसे लिखते हैं

हिंडोल कोष्टकवाला क ऐसे लिखते हैं

मात्रा सहित रा ऐसे लिखते हैं

रामचरण ऐसे लिखते हैं

१६ स्वर अक्षर तो मंत्र विम्ब प्रथम वर्गवाले कोष्टक में लिखे ही हैं। उसी में अक्षरों का नम्बर देख लेना चाहिए। शेष व्यंजन ६ पंक्तियों के सम्पूर्ण अक्षर क्ष, त्र, ज्ञ सहित नीचे लिख दिए जाते हैं। इस लेख में जब स्वर अक्षरों को पहली पंक्ति और व्यंजन अक्षर क, ख वाली पहली पंक्ति को दूसरी पंक्ति मानते हैं, तो उस स्थान पर क, ख वाली पंक्ति के १ नम्बर को २ नम्बर मान कर अक्षर लिखना आरम्भ किया जाता है।

सम्पूर्ण व्यंजन अक्षर

२—क, ख, ग, घ, ङ ।
३—च, छ, ज, झ, ञ ।
४—ट, ठ, ड, ढ, ण ।
५—त, थ, द, ध, न ।
६—प, फ, ब, भ, म ।
७—य, र, ल, व, श, ष, स, ह, क्ष, त्र, ज्ञ ।

जफर विद्या

यह प्राचीन प्रसिद्ध विद्या है। इस विद्या द्वारा भूत काल में लोग सहज से सब हाल जान जाते थे। प्रजा का ऊधम मचाना देख कर किसी बादशाह ने इस विद्या की सब पुस्तकें समुद्र में फेंकवा दीं। थोड़ी बहुत बातें जो किसी पुस्तक में लिखी या किसी को याद रह गई थीं, उन्हीं को सब ने जैसे ठीक जाना, बढ़ा लिया। इसी से अब इस विद्या द्वारा प्रश्न का उत्तर कभी शुद्ध और कभी अशुद्ध उतरता है। इस विद्या को भी ज्योतिष की शाखा समझना चाहिए। इस विद्या में संख्यासूचक अक्षरों का काम पड़ता है। उरदू फारसी में इस विद्या की पुस्तकें मिलती हैं। इस स्थान पर दो बातें समझ में आने के लिये लिख देता हूँ।

१—जो कोई प्रश्न करे कि मेरा माल चोरी गया है, चोर पुरुष है या स्त्री, तो उस प्रश्न करनेवाले का नाम और सोम, मंगल जो वार हो, उस वार का नाम लिख ले। फिर उन नामों के अक्षरों के अंकों के जोड़ (मीजान) का बराबर बराबर भाग करे। १ बचे तो जानो चोर पुरुष है, २ बचे तो जानो चोर स्त्री है।

२—यदि कोई प्रश्न करे कि इस बरस बरसात कैसी होगी, तो उस प्रश्न करनेवाले और उस वार के नामों के अंकों के जोड़ का बराबर

बराबर भाग करे। १ बचे तो जाने कि जल कम बरसेगा, २ बचे तो जाने कि खूब बरसेगा।

इति मंत्रबिम्ब प्रथम भाग।

निर्माण तिथि एवं गुप्तसार अफसूँ

दोहा—उर्वी, शतभू, शत ऋचा सेवक का है नाम।
संख्या, पर्वत, खण्ड, भू वर्ष इति का प्रणाम॥

सं० १९७९ वि० (अफसूँ)

---

(१७) समालोचना

बौद्ध-कालीन भारत—लेखक पण्डित जनार्दन भट्ट एम० ए०; प्रकाशक श्रीयुत रामचन्द्र वर्मा, साहित्य-रत्न-माला कार्यालय, काशी। मूल्य ३)

अभी तक इतनी उन्नति होने पर भी कई विषय ऐसे हैं जिनमें हिन्दी साहित्य अधिक अग्रसर नहीं हो सका है। अच्छे से अच्छे पुस्तकालय में जाइए, कहीं भी दर्शन शास्त्र की अच्छी पुस्तकों के दर्शन नहीं होने के। सूचीपत्रों को उलट डालिए, पर विज्ञान के ग्रन्थों के विषय में कुछ भी विशेष ज्ञान प्राप्त नहीं होने का। केवल यही दो विषय नहीं हैं जिनमें हिन्दी साहित्य का भण्डार सूना सा लगता है। और भी अनेक विषय हैं। उनमें एक इतिहास भी है। इतिहास की कितनी पुस्तकें ऐसी हैं जिनकी गणना अन्य भाषाओं में लिखे हुए इस विषय के अच्छे ग्रन्थों से की जा सके? मुझे जहाँ तक पता है, दो चार से अधिक कभी न निकलेंगी। ऐसी दरिद्रावस्था में यदि कोई अच्छा रत्न मिल जाय, तो वह कितना अभिनन्दनीय है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। भट्ट जी की इस पुस्तक को देखकर कुछ ऐसे ही भाव मेरे हृदय में आज उदित हो रहे हैं।

हिन्दी संसार को भट्ट जी का परिचय देने की आवश्यकता नहीं है। उनके प्रबन्ध समय समय पर सामयिक पत्रों में—बहुत करके सरस्वती में—निकल चुके हैं। 'अशोक के धर्म-लेख' नामक इनकी जो पुस्तक पहले ही निकल चुकी है, उसी से इनका एतद्विषयक पाण्डित्य पहले ही प्रकाशित हो चुका है। कितने वर्षों से हम लोग

आशा कर रहे थे। कभी कभी तो कुछ विस्मय सा होने लगता था कि इतनी सामग्री एकत्र करने पर भी भट्ट जी बौद्ध-काल का सविस्तर इतिहास क्यों नहीं लिखते हैं। हिन्दी-जगत में प्रकाशन और प्रकाशकों की जो दशा है, उससे उपादेय पुस्तक के भी छपने में यदि विलम्ब हो, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। अस्तु; किसी न किसी तरह ऐसी पुस्तक हम लोगों के देखने में आई, यही सौभाग्य का विषय समझना चाहिए।

प्रस्तुत पुस्तक में बुद्ध जन्म के समय से गुप्त साम्राज्य के उदय तक के भारत की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। यह दो खण्डों में विभक्त है। पहले खण्ड में बुद्ध जन्म से मौर्य काल के अन्त तक का इतिहास दिया गया है। द्वितीय खण्ड में मौर्य काल के अन्त से अशोक के बाद तक का हाल दिया गया है। पुस्तक के अन्त में चार परिशिष्ट भी दिए गए हैं। ये भी बड़े महत्त्व के हैं। पहले में चारों बौद्ध सभाओं का, दूसरे में बुद्ध के निर्वाण काल का, तीसरे में बौद्ध काल के विश्वविद्यालयों का अच्छा वर्णन दिया गया है। चौथे परिशिष्ट में बौद्ध-कालीन घटनाओं की समय-तालिका दी गई है।

साधारण तरह से समझा जाता है कि राजनीतिक अवस्थाओं का विश्लेषण ही इतिहास का कार्य है। किन्तु यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि अवस्थाओं का विश्लेषण बिना उनके कारणों और कार्यों को ठीक तरह समझे समझाए कभी नहीं हो सकता। अतः इतिहास में धार्मिक, सांपत्तिक आदि सभी दशाओं का समझना केवल उपादेय ही नहीं बल्कि आवश्यक भी है। बड़े आनन्द की बात है कि इस बात को लक्ष्य में रख कर ही भट्टजी ने यह पुस्तक लिखी है। आपका सांपत्तिक तथा साहित्यिक दशाओं का वर्णन अच्छी तरह पढ़ने के योग्य है।

हिन्दी के बहुत से लेखकों को अपने लेखन के विषय में प्रमाण देने की बड़ी अरुचि रहती है। जर्मन तथा अङ्गरेजी के खोज के ग्रन्थों के नीचे की टिप्पणियों में जिस तरह पद पद पर आधार-ग्रन्थों का उल्लेख देखने में आता है, वैसा हिन्दी-ग्रन्थों में बहुत कम दृष्टिगत होता है। शायद इसका कारण है 'मौलिकता' की प्रबल चाह। पर पढ़नेवाले की इससे बड़ी दुर्दशा हो जाती है। यदि वह उस विषय पर और कुछ जानना चाहे तो क्या करे? लेखक के अलौकिक पाण्डित्य पर मुग्ध होकर चुपचाप बैठा रहे। बड़े संतोष की बात है कि भट्टजी को यह मौलिकता का रोग नहीं लगा। आपने स्थल स्थल पर आधारों का निर्देश कर तथा ग्रन्थ के अन्त में एतद्विषयक ग्रन्थों की सूची दे कर पढ़नेवालों का बड़ा उपकार किया है।

यदि यह ग्रन्थ अन्य किसी भाषा में लिखा गया होता, तो शायद इसकी समालोचना बहुत सूक्ष्म दृष्टि से करने की आवश्यकता होती। पर हिन्दी में अभी वह अवस्था नहीं आई है। जिसके एक ही लड़का हो (और वह भी अच्छा) तो वह भला उसका क्या दोष निकाले। कई लड़के हों तो विचार किया जाय कि बड़े की नाक चिपटी है, छोटे की आँख छोटी है। यही दशा इस पुस्तक के सम्बन्ध में हिन्दी साहित्य की है। बौद्ध युग के इतिहास पर इतने काल के बाद किसी तरह यह एक पुस्तक निकली—और अच्छी निकली। अब इस पर यदि हम यह कहने बैठें कि अमुक पुस्तकों से इसमें सामग्री नहीं ली गई, लेखक के विचार कितने स्थलों पर मानने के योग्य नहीं, कितने स्थानों पर भाषा खटकती है इत्यादि, तो वह समुचित प्रतीत न होगा। हमें तो इस बात का बड़ा आनन्द हो रहा है कि प्रकाशक महाशय का भाग्य बड़ा प्रबल है। यदि साहित्य रत्नमाला के लिये उनको ऐसे ही लेखक मिलते गए जैसे अभी तक मिले हैं, तो यह ग्रन्थमाला सचमुच 'रत्नमाला' कहलाने के योग्य होगी।

प्रकाशक की तरह हमें भी आशा है कि "हिन्दी-प्रेमियों में इस ग्रन्थ का समुचित आदर होगा।"

बटुकनाथ शर्म्मा
(साहित्याचार्य्य, एम० ए०)

---

(१८) गोस्वामी तुलसीदास

[लेखक—बाबू श्यामसुंदरदास बी. ए., काशी]

यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास की मृत्यु हुए तीन सौ वर्ष से अधिक हो चुके हैं और यद्यपि उनके हिंदी साहित्य के सर्वोज्ज्वल नक्षत्र होने के कारण उनके ग्रंथों का बहुत अधिक प्रचार और आदर है, फिर भी उनके जीवन के संबंध में बहुत कम तथ्य की बातें अब तक ज्ञात हुई हैं। जहाँ जहाँ उनके विषय में उल्लेख मिलता है, उसमें विस्तार से कोई बात नहीं दी गई है; और जो कुछ लिखा भी गया है, उसकी प्रामाणिकता में बहुत कुछ संदेह किया जाता है। उन्होंने अपने संबंध में अपने ग्रंथों में जो कुछ सूक्ष्म उल्लेख कर दिया है, उसका सामंजस्य अभी तक स्थापित नहीं हो सका है। इस अवस्था में उनकी जीवन संबंधी घटनाओं का यदि कोई प्रामाणिक वर्णन मिल जाय, तो वह बड़े आनंद और महत्व की बात होगी।

ऐसा कहा जाता है कि उनके शिष्य बाबा वेणीमाधवदास थे, जो प्रायः उनके संग रहा करते थे और जिन्होंने उनका एक विस्तृत जीवन-चरित लिखा था। पर अब तक उस जीवनचरित का कहीं पता नहीं लगा था। सन् १९२५ में उन्नाव के वकील पंडित रामकिशोर शुक्ल बी. ए. ने रामचरितमानस को सम्पादित करके नवलकिशोर प्रेस से उसका एक संस्करण प्रकाशित कराया है। इसके आरंभ में उन्होंने बाबा वेणीमाधवदास कृत "मूल गोसाईं-चरित" भी दिया है। वे इसके संबंध में लिखते हैं—"काशी-नागरीप्रचारिणी सभा के विद्वान संपादकों ने "श्रीरामचरितमानस" का शुद्ध संस्करण संपादित करते समय

गोस्वामी जी के जीवनचरित्र की उपलब्धि पर विचार करते हुए लिखा है—'मन से प्रामाणिक वृत्तांत बतानेवाला ग्रंथ बेणीमाधवदास कृत "गोसाँईचरित" है जिसका उल्लेख बाबू शिवसिंह सेंगर ने "शिवसिंहसरोज" में किया है। परन्तु खेद का विषय है कि न तो अब तक वह ग्रंथ ही कहीं मिलता है और न शिवसिंह-सरोजकार ने उसका संक्षिप्त वृत्तांत ही अपने ग्रंथ में लिखा है। बेणीमाधवदास कवि पसका ग्राम निवासी थे और गोसाईं जी के साथ सदा रहते थे।' ऊपर जिस प्रामाणिक ग्रंथ का उल्लेख हुआ है, उसका अन्तिम अध्याय सौभाग्य से, भगवन् की असीम कृपा से हमे प्राप्त हो गया है। इस अध्याय का नाम "मूल गोसाईंचरित" है। इसमें संक्षेप में बाबा बेणीमाधवदास ने नित्य पाठ करने के अभिप्राय से संपूर्ण चरित्र का उल्लेख कर दिया है।"

यह दुःख की बात है कि पंडित रामकिशोर शुक्ल ने यह कहीं नहीं लिखा कि उन्होंने बृहद् गोसाईंचरित भी देखा है या नहीं। "मूल गोसाईंचरित" भी जो उन्हें प्राप्त हुआ है वह कहाँ से मिला, इसका भी उन्होंने कोई उल्लेख नहीं किया है, न यही बताया है कि जो प्रति उन्हें मिली, वह किसी संवत् की तथा किसकी लिखी हुई है और उसका आकार प्रकारादि कैसा है। यदि उन्होंने इन सब बातों की सूचना दे दी होती तो इस चरित के विषय में विचार करने में सुगमता होती। फिर भी यह बड़ी बात है कि उस मूल चरित को उन्होंने ज्यों का त्यों छाप दिया है। इस चरित में जो कुछ बातें लिखी हैं, उन्हीं के आधार पर हमें यह विवेचन करना है कि यह कितना प्रामाणिक है और क्या हम इसके आधार पर गोस्वामी तुलसीदास जी का जीवनचरित तैयार कर सकते हैं। इसमें लिखी हुई घटनाओं आदि पर विचार करने के पहले हम उक्त "मूल चरित" ज्यों का त्यों नीचे दे देते हैं जिसमें वे लोग भी जिन्हें रामचरितमानस के उक्त संस्करण के देखने का अवसर न प्राप्त हुआ, हो उसे पढ़कर हमारी लिखी बातों का तथ्य

निकाल सकें और स्वयं भी इस चरित के संबंध मे विचार कर सकें। इस बात की भी बडी आवश्यकता है, कि इस चरित का विशेष रूप से प्रचार किया जाय जिसमें विद्वानों को उसे जानने तथा उसके संबंध मे विचार करने का अवसर प्राप्त हो। इन भावनाओ से प्रेरित होकर हम पहले वह चरित दे देते हैं। मूल गोसाईंचरित इस प्रकार है—

बाबा वेणीमाधवदास कृत

मूल गोसाईंचरित

सो०—सन्तन कहेउ बुझाय, मूलचरित पुनि भाषिये।
अति संक्षेप सोहाय, कहौं सुनिय नित पाठ हित ॥१॥

चरित गोसाईं उदार, बरनि सकहिं नहिं सहसफनि।
हौं मति-मन्द गँवार, किमि बरनौ तुलसी-सुयश ॥२॥

ऋषि आदि कविश्वर ज्ञाननिधी। अवतरिभ भये जनु आपु बिधी॥
शत कोटि बखानेउ रामकथा। तिहुँ लोक मे बाँटेउ शंभु यथा॥
दश-स्यन्दन वेद दशांगमयं। श्रुति त्रैविधि सीतिउ रानिशयं॥
श्रीराम प्रणव श्रुति तत्त्व पर। निज अंशनि युत नरदेह धरं॥
इमि कीन्ह प्रबन्ध मुनीश यथा। हरि कीन्ह चरित्र पवित्र तथा॥।
हनुमन्त प्रणव-प्रिय-प्राण रसै। परतत्त्व रसै तिमु सीस लसै॥
यहि भाँति परात्पर भाव लिये। शुचि राम परत्त्व बखान किये॥
मुनिराज लखे अदभुत रचना। कपिराज सों कीन्ह इहै जँचना॥
यह गुप्त रहस्य है गोइ धरैं। बिनती हमरी न प्रकाश करैं॥
तब अंजनि-नन्दन शाप दियौ। हँसिकै मुनि धारण सीस कियौ॥

दो०—सहनशीलता मुनि निरखि, पवन-कुमार सुजान।
बहु बिधि मुनिहिं प्रशंसि पुनि, दिये अभय बरदान ॥३॥

कलिकाल में लैहहु जन्म जबै। कलि ते तब त्राण सदा करबै ॥
तेहि शाप के कारण आदि यची। तमपुंज निवारन हेतु रची ॥
उदये हुलसी उद्घाटिहि ते। सुर सन्त सरोरुह से विकसे ॥
सरवार सुदेश के विप्र बड़े। शुचिगोत पराशर टेक कड़े ॥
शुभ थान पतेजि रहे पुरखे। तेहिते कुल नाम पड़्यो सुरखे ॥
यमुना तट दूबन को पुरवा। बसते सब जातिन को कुरवा ॥
सुकृती सतपात्र सुधी सुखिया। रजियापुर राजगुरू मुखिया ॥
तिनके घर द्वादश मास परे। जब कर्क के जीव हिमांशु चरे ॥
कुज सप्तम अष्टम भानु-तनय। अभिजित शनि सुन्दर साँझ समय ॥

दो०—पन्द्रह सै चववन विषै, कालिन्दी के तीर ॥
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी धरेउ शरीर ॥४॥

सुत जन्म बधाव लग्यो बजने। सजने छजने रजने गजने ॥
इक दासि कही तेहि अवसर में। कहि देव बुलावत हैं घर में ॥
शिशु जन्मत रंचहु रोओ नहीं। सो तो बोलेउ राम गिरेउ ज्यों महीं ॥
अब देखिय दन्त बतीसी जमो। नहिं सोलहु पाँति में नेक कमी ॥
जस बालक पाँच को देखिय जू। तस जन्मतु आ निज लेखिय जू ॥
अब बूढ़ि भई भरि जन्म नहीं। शिशु ऐसो मैं देखिउँ तात कहीं ॥
महरी कहती सुनि शंख धुनी। जबहीं सो समय शिशुनार छुनी ॥
जो लुगाइ हुतीं कपतीं बकतीं। कोउ राकस जामेउ कहि कहतीं ॥
महराज चलिय अब वेगि घरैं। समुझाय प्रसूति को ताप हरैं ॥

दो०—उठे तुरत भृगुवंशमणि, सुनत चेरि के बैन।
ठाढ़ प्रसूती द्वार भे, पूरित जल सों नैन ॥५॥

छंद—पूरित सलिल दृग निरखि शिशु परिताप युत मानस भये।
मन महँ पुराकृत पाप को परिनाम गुनि बाहिर गये ॥
तब जुरे सब हित मित्र बान्धव गणक आदि प्रसिद्ध जे।
लागे विचारन का करिअ नवजात शिशु कहँ कहहिं ते ॥६॥

दो०—पंचन यह निर्णय किये, तीन दिवस पश्चात।
जिअत रहै शिशु तब करिअ, लौकिक वैदिक बात ॥७॥

दशमी पर लागेउ ग्यारस ज्यों। घड़ि आठक राति गई जब त्यों॥
हुलसी प्रिय दासि सों लागि कहै। सखि प्राण-पखेरू उड़ान चहै॥
अब ह्वाँ शिशु लै गवनहु हरिपुर। बसते जहँ तोरिउ सास-ससुर॥
तहँ जोइबि पालबि मोर लला। हरिजू करिहैं सखि तोर भला॥
नहिं तो ध्रुव जानहु मोरे मुये। शिशु फेंकि पँवारहिंगे भकुये॥
सखि जान न पावै कोऊ बतियाँ। चलि जाइहु मग रतियाँ रतियाँ॥
तेहि गोद लियो शिशु ढारस दै। निज भूषण दै दियो ताहि पठै॥
चुपचाप चली सो गई शिशु लै। हुलसी उर सूनु-वियोग फबै॥
गोहराइ रमेश महेश विधी। बिनती करि राखवि मोर निधी॥

दो०—ब्रह्ममुहूर्त्त एकादशी, हुलसी तजेउ शरीर।
होत प्रात अन्त्येष्टि हित, लैगे यमुना तीर ॥८॥

घड़ि पाँचक बार चढ़े मुनियाँ। निज सास के पायँ गही चुनियाँ॥
सब हाल-हवाल बताय चली। सुनि सास कही बहु कीन्ह भली॥
घर माहिं कलोर को दूध पिया। बिनु माय को है शिशु लेसि जिया॥
तहँ पालन सो लगि नेह भरै। जेहिते शिशु रीझइ सोइ करै॥
यहि भाँति सों पैंसठ मास गये। शिशु बोलन डोलन योग भये॥
चुनियाँ सुरलोक सिधार गई। डस्यो पन्नग ज्यों सो कोरार गई॥
तब राजगुरू को कहाव गयो। सुनिकै तिनहूँ दुख मानि कह्यो॥
हम का करिबै अस बालक लै। जेहि पालै जो तासु करै सोइ छै॥
जन्मेउ सुत मोर अभागो नहीं। सो जिये वा मरै मोहिं शोच नहीं॥

दो०—वेणी पूरब जन्मकर, कर्मविपाक प्रचंड।
बिना भोगाए टरत नहिं, यह सिद्धान्त अखंड ॥९॥

छंद—सिद्धान्त अटल अखंड भरि ब्रह्मंड व्यापित सत यथा।
जहँ मुनिवरन की यह दशा तहँ पामरन की का कथा॥

निज छति विचारि न रारि कोऊ दया दग पाछे दियो ।
डोलत सो बालक द्वार द्वार विलोकि तेहि विहरत हियो ॥१०॥

सो०—बालक दशा निहारि, गौरा माई जग-जननि ।
द्विज-तिय रूप सँवारि, नितहिं पवाआवहि अशन ॥११॥

दुइ वत्सर बीतेउ याहि रसे । पुर लोगन कौतुक देखि कसे ॥
जिन जोह-जसूस पै आय जकै । परिचय द्विज नारि न पाय थकै ॥
चर-नारि हती तहँ सो परखी । जब माय खवाय लला टरखी ॥
परि पायँ करी हठ जान न दे । जगदम्ब अदृश्य भई तब ते ॥
शिव जानि प्रिया व्रत हेतु हियो । जन लौकिक सुलभ उपाय कियो ॥
प्रिय शिष्य अनन्तानन्द हते । नरहरियानन्द सुनाम छते ॥
बसै रामसुसैल कुटी करिकै । तल्लीन दशा अति प्रिय हरि कै ॥
तिन कहँ भव दर्शन आपु दिये । उपदेशहुँ दै कृतकृत्य किये ॥
प्रिय मानस-रामचरित्र कहे । पठये जहँ तहँ द्विजपुत्र रहे ॥

दो०—लै बालक गवनहु अवध, विधिवत मंत्र सुनाय ।
मम भाषित रघुपति कथा, ताहि प्रबोधहु जाय ॥१२॥

जब उघरहिं अन्तर्दृगनि, तब सो कहिहि बनाय ।
लरिकाईं को पैरिबो, आगे होव सहाय ॥१३॥

सो०—शम्भु वचन गम्भीर, सुनि मुनि अति पुलकित भये ।
सुमिरि राम रघुबीर, तुरत चले हरिपुर तके ॥१४॥

गुरु हेरि के बालक गोद लिये । द्विजपुत्र अनाथ सनाथ किये ॥
कह्यो रामबोला जनि साच करै । पलिहैं पासिहैं सब भाँति हरै ॥
सो तो जानेव दीन-दयालु हरी । मम हेतु सुसन्त को रूप धरी ॥
पुरलोगन केर रजाय लिये । सह बालक सन्त पयान किये ॥
पन्द्रह सै इकसठ माघ सुदी । तिथि पंचमि औ भृगुवार उदी ॥
सरयू तट विप्रन यज्ञ किये । द्विजबालक कहँ उपवीत दिये ॥

सिखये बिनु आपुइ सो वरुआ। द्विजमंत्र सविति सुउच्चरुआ॥
विस्मययुत पंडित लोग भये। कहे देखत बालक विज्ञ ठये॥

दो०— नरहरि स्वामी तब किये, संस्कार विधि पाँच।
राममंत्र दिये जेहि छुटै, चौरासी को नाच ॥१५॥

दस मास रहे मुनिराज तहाँ। हनुमान सुटीला विराज जहाँ॥
निज शिष्यहि विद्या पढ़ाय रहे। अरु पानिनि सूत्र घोपार्य रहे॥
लघु बालक धारनशक्ति जगी। अनुरक्ति सभक्ति दिखान लगी॥
हरषे गुणग्राम विचार हिये। पद चापत आशिष भूरि दिये॥
जब ते जन्मेउ तब ते अब लौं। निज दीन दशा कहिगो गुरु सों॥
ठक से रहिगे सुनि बाल कथा। करुणा उर में उपजाइ व्यथा॥
मुनि धीर भरे दृग नीर रहे। गुरु शिष्य दशा कवि कौन कहे॥
समुझाय बुझाय लगाय हिये। कहि भावि भलाइ प्रशांत किये॥
हरिप्रिय ऋतु लाग हेमन्त जबै। सिख संग लै कीन्ह पयान सबै॥

दो०—कहत कथा इतिहास बहु, आये शूकरखेत।
संगम सरयू घाघरा, सन्त जनन सुख देत ॥१६॥

तहँवाँ मुनि पाँचइ वर्ष बसे। तप में जप में सब भाँति रसे॥
जब शिष्य सुबोध भयो पढ़िकै। मति युक्ति प्रवीन भई गढ़िकै॥
सुधि, आइ महेश सिखावन की। परतत्त्व प्रबन्ध सुनावन की॥
सब मानस-राम-चरित्र कहे। सुनिकै मुनि बालक तत्त्व गहे॥
पुनि-पुनि मुनि ताहि सुनावत भे। अति गूढ़ कथा समुझावत भे॥
यहि भाँति प्रबोधि मुनीश भले। वसुपर्व लगे सह शिष्य चले॥
विश्राम अनेक किये मग में। जल-अन्न को खेल मच्यो जग में॥
कतहूँ सुकृतिन उपदेश करैं। कबहूँ दुखिया दुखदाप हरैं॥

दो०—विचरत विहरत मुदित मन, आये काशी धाम।
परम गुरू सुस्थान पर, जाय कीन्ह विश्राम ॥१७॥

सुठि घाट मनोहर पंच पगा। गँगिया कर कौतुक-केलि मगा॥
पुनि सिद्ध सुप्रष्ठ प्रतिष्ठित सो। बहुकाल यतीन्द्र रहे जु नमो॥
तहँवाँ हते शेष सनातन जू। वपुवृद्ध वरंच युवा मन जू॥
निगमागम पारग ज्योति फबै। मुनि सिद्ध तपोधन आन सबै॥
तिन रीझ गए बटु पै जय ही। गुरु स्वामि सों सुन्दर बात कही॥
निज शिष्यहिं देइय मोहिं मुनी। तिसु वृत्ति दुनी नहिं ध्यान धुनी॥
हौं ताहि पढ़ाउब वेद चहूँ। अरु आगम दर्शन पात छहूँ॥
इतिहास पुराणरु काव्यकला। अनुभूत अलभ्य प्रतीक फला॥
विद्वान महान बनाउब जू। मुनि आपु महासुख पाउब जू॥

दो०—आचारज विनतौ सुनत, पुलकित भे मुनिधीर।
बटु बुलाय सौंपत भये, पावन गंगा तीर॥१८॥
कछु दिन रहिगे यति प्रवर, पढ़न लग्यो बटुमास।
चित्रकूट कहँ तब गये, लखि सब भाँति सुपास॥१९॥

बटु पन्द्रह वर्ष तहाँ रहिकै। पढ़ि शास्त्र सबै मथिकै गहिकै॥
करिकै गुरु-सेवा सदय तन से। गत देह क्रिया करि सौ मन से॥
चले जन्मथली को विषाद भरे। पहुँचे रजियापुर के बगरे॥
निज भौन विलोकेउ ढूह-ढहा। कोउ जीवन जोग न लोग रहा॥
इक भाट बखानेउ ग्राम कथा। द्विजवंश को नाश भयो जु यथा॥
कह्यौ जा दिन नाइ से राज-गुरू। तब त्याग की बोलेउ बात करू॥
तहँ बैठु रह्यो तप-तेज-धनी। तिन शाप दियो गहि नागफनी॥
षट मास के भीतर राजगुरू। दस वर्ष के भीतर वंश मरू॥
सुनिकै तुलसी मन शोक छये। करि श्राद्ध यथाविधि पिंड दये॥

दो०—पुर लोगन अनुरोध ते, दियो भवन बनवाय।
रहन लगे अरु कहन भे, रघुपति कथा सुहाय॥२०॥

यमुना पर तीर मों तारिपतो। भरद्वाज सुगोत को विप्र हतो॥
कातिकी दुतिया कर न्हान लगे। सकुटुम्ब सो आयउ संग सगे॥

करि मज्जन दान गए तहँवाँ। हुलसी-सुत बाँच कथा जहँवाँ॥
छवि व्यास विलोकि प्रसन्न भये। सब लोगन बूझि स्वठाम गये॥
पुनि माधव मास में आय रहै। कर जोरि कै सुन्दर बात कहै॥
महराति जवै निगिचाय रही। सपने जगदम्ब चेताय रही॥
शुभ राउर नाँव बताय रही! सब ठाँव-ठिकान जताय रही॥
हौं हेरत हेरत आयों इतै। मोहिं राखिय हौं अब जाऊँ कितै॥
दुहिता मम व्याहिय देवि कहै। कहि कै अस सो पद कंज गहै॥

दो०—सुनत विनय सोचन लगे, पुनि बोले सकुचाय।
व्याह करैबो ना चहौं, अनत पधारिय पाय॥२१॥

द्विज मानै नहीं धरना धरिकै। नहिं खाय पिये रसना करिकै॥
दुसरे दिन जय स्वीकार कियो। तब विप्र हठी जल अन्न लियो॥
घर जाय सोधाय के लग्न धरो। उपरोहित भेजि प्रशस्त करो॥
इतत ते पुरलोगन योग दिये। सब साज समान बरात किये॥
पन्द्रह सै पार तिरासि विषै। शुभ जेठ सुदी गुरु तेरस पै॥
आधिराति लगै जु फिरी भँवरी। दुलहा दुलही की पड़ी पँवरी॥
ललना मिलि कोहबर माहिं रसीं। वरनायक पंडित सो बिहसीं॥
तिसरे दिन मॉडवचार भयो। शुचि भक्ति सोदान-दहेज दयो॥

दो०—विदा करा दुलही चले, पंडितराज महान।
आये निज पुर अरु किये, लौकिक चार विधान॥२२॥

पुर नारि जुरीं गुरु भौन गईं। दुलही मुख देखि निहाल भईं॥
हुलसी-सुत देखेउ नारि-छटा। मुख-इन्दु ते घूँघट घोर हटा॥
मन प्राण-प्रिया पर वारि दये। जस कौशिक मेनका देखि भये॥
दिन राति सदा रँग राते रहैं। सुख पाते रहैं ललचाते रहैं॥
शर वर्ष पुररसर चाव चये। पल ज्यों रसकेलि में बीत गये॥
नहिं जान दें आपु न जाय कहीं। पल एक प्रिया बिनु चैन नहीं॥
दुखिया जननी मुख देखन को। पितु ग्राम सुआसिनि पेखन को॥

सह बन्धु गई चुपके सो सती। जरखासन ग्राम हुते जु पती॥
जब साँझ समय निज गेह गये। घर सून निहारि ससोच भये॥
तब दासि जनायउ सौं कै कै। निज बन्धु के संग गईं मैकै॥
सुनते उठि कै ससुराल चले। अति प्रेम प्रगाढ़ विशेष पगे॥
कौनिउ विधि ते सरि पार किये। पहुँचे सब सोवत द्वार दिये॥

छंद—वे द्वार सोवहिं लोग नींद तुराइ गोहरावन लगे।
स्वर चीन्हि द्वार कपाट खोली झमकि भामिनि सगनगे॥
बोली निहँसि बानी विमल उपदेश सानी कामिनी।
चस बस चले प्रेमान्ध ज्यों नहिं सुधि अँधेरी यामिनी॥२३॥

दो०—हाड़-मास को देह मम, तापर जितनी प्रीति।
तिहु आधो जो रामप्रति, अवसि मिटिहिं भवभीत॥२४॥

सो०—लाग वचन जिमि बान, तुरत फिरे निरसैं न छिन।
सोचेउ निज कल्यान, तब चित चढ़ेउ जो गुरु कहेउ॥२५॥

दो०—"नरहरि कवन कामिनी, रहिये इनते दूर।
जो चाहिय कल्यान निज, राम दरस भरि र"॥२६॥

सो०—लखि रख तिय अकुलाय, बोली वचन सकोप तब।
त्याग न उचित कहाय, बिनु तिय सुरस खरिया रचे॥२७॥

उठि दौरि मनावन धार गयो। पिछुआये रह्यौ जब भोर भयो॥
नहिं फेरे फिरे फिरि आयो घरे। भगिनी निज मूर्च्छित देख्यो परे॥
मुर्च्छा जु हटी उठि बोली सती। पिय को उपदेशन आइ हुती॥
पिय भोर पयान कियो बन को। हौं प्रान पठाउँ तजों तनु को॥
कहिकै अस सो निज देह तजी। सुरलोक गई पति धर्मध्वजी॥
शत पन्द्रह युक्त नवासि सरै। शुभपाढ़ बदी दसमीहुँ परै॥
बुध वासर धन्य सो धन्य घरी। उपदेसि सती तनु त्याग करी॥
भयो सोर कहैं कोउ सिद्ध मुनी। परमारथनिन्दक तत्व गुनी॥
द्विजगेह में शारद देह धरी। रति रंग रमा रस राग हरी॥

दो०—कोउ कहं तिय की मुकति ते, बोलेउ श्रीभगवान ।
मोह विदारेउ भक्त कर, साहिब शीलनिधान ॥२८॥

हुलसी-सुत तीरथराज गये । अरु मंजि त्रिवेनि कृतार्थ भये ॥
गृहिवेष विसर्जन कीन्ह तहाँ । मुनिवेष सँवारि चले फफहाँ ॥
गढ़ हेलि रु धेनुमती तमसा । पहुँचे रघुवीरपुरी सहसा ॥
तहँवाँ चौमासक सौं बसिकै । प्रिय सन्त अनन्त विभू रसिकै ॥
चले बेगि पुरी कहँ धाम महा । विश्राम पचीसक बीच रहा ॥
तिनमाँ दुइ ठाम प्रधान गुनो । वरदान रु शाप की बात सुनो ॥
घड़ि चारि दुबौलि में वास किये । हरिराम कुमारहिं शाप दिये ॥
सो प्रसिद्ध सुप्रेत भयो तेहिते । हरिदर्शन आपु लही जेहिते ॥
पुनि चारु कुँवरि वरदान दियो । जिन सन्त सुसेवा लियोरु कियो ॥

दो०—जगन्नाथ सुखधाम में, कछुक दिना करि वास ॥
लिखे वाल्मीकी स्वकर, जब तब लहि अवकास ॥ २९ ॥

रामेश्वर कहँ कीन्ह पयाना । तहँते द्वारावति जग जाना ॥
बहुरि तहाँ ते चलि हरषाई । बदरी धामहि पहुँचे जाई ॥
नारायण ऋषि व्यास सोहाये । दरस दिये मानस गुन गाये ॥
तहँ ते अति दुर्गम पथ लयऊ । मान सरोवर कहँ चलि गयऊ ॥
जिय को लोभ तजै जो कोई । सो तहँ जाई कृतारथ होई ॥
तहँ करि दिव्य सन्त सत्संगा । जाते होवै भवरस भंगा ॥
दिव्य सहाय पाय मुनिराई । जात रुपाचल देखेउ जाई ॥
नीलाचल कर दर्शन कीन्हे । परम सुजान भुशुंडिहि चीन्हे ॥
लौटि सरोवर पै पुनि आये । गिरि कैलास प्रदच्छिन लाये ॥

दो०—इमि करि तीर्थाटन सफल, निवसे भववन आय ।
चौदह बरिस रु मास दस, सतरह दिवस बिताय ॥३०॥

टिकिके तहँ चातुर्मास किये । नित रामकथा कहि हर्ष हिये ॥
वनवासि सुसन्त सुनै नित सो । सुनि होहिं अनन्दित ते चित सों ॥

धन माँ इक पिप्पल रूख हतो। तिसु ऊपर प्रेत निवास हतो ॥
जल शौच गिरावहिं तासु तरे। सोइ पानिय प्रेत पियास हरे ॥
जब जानेउ सो कि अहैं मुनि ये। जिन बालपने मोहिं शाप दिये ॥
तब एक दिना सो प्रतच्छ कह्यो। कहिये सो करौं जस भाव अह्यो ॥
तुलसी-सुत बोलेउ मोरे मना। रघुनन्दन दर्शन को चहना ॥
सुनि प्रेत कह्यौ जु कथा सुनिहैं। नित आवत अंजनिपूत अजै ॥
सब ते प्रथमै सो तो आवहिं जू। सब लोगन पाछे सो जावहिं जू ॥

सो०—वेप अमंगल धारि, कुष्ठी को वपु जानि यहि।
अवसर नीक विचारि, चरण गहिय हठ ठानि यहि ॥३१॥

छंद—हठ ठानि तेहि पहिचानि मुनिवर विनय बहु बिधि भाषेऊ।
पद गहि न छाँड़िउ पवन-सुत कह कहहु जो अभिलाषेऊ ॥
रघुवीर दर्शन मोहि कराइय मुनि कहेउ गद्गद वचन।
तुम जाइ सेवहु चित्रकूट तहाँ दरस पैहहु चखन ॥३२॥

दो०—श्री हनुमन्त प्रसंग यह, विमल चरित विस्तार।
लहेउ गोसाईं दरस रस, विदित सकल संसार ॥३३॥

चित चेति चले चितकूट चितय। मन माहिं मनोरथ को उपचय ॥
जब सोचहिं आपन मंद कृती। पग पाछ पड़े न रहे जु धृती ॥
सुधि आवत राम स्वभाव जबै। तब धावत मारग आतुर ह्वै ॥
इहि भाँति गोसाईं तहाँ पहुँचे। किय आसन राम सुघाटहि पै ॥
इक बार प्रदच्छिन देन गये। तहँ देखत रूप अनूप भये ॥
युग राजकुमार सु अश्व चढ़े। मृगया बन खेलन जात कढ़े।
छवि सो लखि कै मन मोहेउ पै। अस को तनुधारि न जानि सकै ॥
हनुमन्त बतायउ भेद सबै। पछिताइ रहे ललचाइल वै ॥
तब धीरज दीन्हेउ वायुतनय। पुनि होइहि दरसन प्रात समय ॥

दो०—सुखद अमावस मौनिया, बुध सोरह सै सात।
जा बैठे तिसु घाट पै, बिरही होतहि प्रात ॥३४॥

सो०—प्रकटे राम सुजान, कहेउ देहु याको मताय।
शुक वपु धरि हनुमान, पढ़ेउ चेतावनि दोहरा ॥३५॥

दो०—चित्रकूट के घाट पर, भइ सन्तन की भीर।
तुलसिदास चन्दन घिसें, तिलक देत रघुबीर ॥३६॥

छंद—रघुबीर छबि निरखन लगे बिसरी सबै सुधि देह की।
को घिसै चन्दन दृगन ते बहि चली सरित सनेह की॥
प्रभु कहेउ पुनि सो नाहिं चेतेउ स्वकर चन्दन लै लिये।
दै तिलक रुचिर ललाट पै निज रूप अन्तर्हित किये ॥३७॥

दो०—विरह व्यथा तलफत पड़े, मगन ध्यान इकतार।
रैन अगायउ वायुसुत, दीन्ही दशा सुधार ॥३८॥

शुक पाठ पढ़ावत नारि नरा। करतल पर लै शुक को पिंजरा॥
तुलसी सुत भक्ति महा महिमा। तत्कालहिं छाय रही महि माँ॥
दिन एक प्रवच्छिन कामद वै। पहुँचे सौमित्र पहाड़िहिं पै॥
तहँ श्वेतक सर्प पड़यो मग मे। सित गात मनोहर या जग मे॥
तिसु ओर बिलोकि गोसाँइ कहै। चन्द्रोपम सुंदर नाग अहै॥
हरि सृष्टि विचित्र कहै न बनै। निगमागम शारद शेष भनै॥
ऋषि दृष्टि पड़ै तिसु पाप गयो। तन पन्नग-ग्लानि ललात भयो॥
मोहिं छुइकै तारिय नाथ अबै। छुअतेहि गयो सो भुजग अँथै॥
योगभ्रि मुनी तहँ छीव भये। निज पूर्व कथा कहि वास लये॥

दो०—यह प्रभाव मुनिनाथ कर, सुनि गुनि सन्त सुजान।
आवन लागे दरस हित, भीर भयो ऋषि थान ॥३९॥

बड़ि भीर निहारि गुफा मे दुके। वहिरन्तर हानि विचारि लुके॥
मुनि आवहिं योगि तपी रु यती। बिनु दर्शन जाहिं निरास अती॥
दरियानँद स्वामिहुँ आय रहे। निज आसन टेकि जमाय रहे॥
लघुशका के हेतु गोसाँइ कढे। कर जोरि सो स्वामि भये जु ठढे॥
कहे नाथ है होत अनीति बड़ी। छमिये कहिवो मम बात कड़ी॥

लघुशंका लगे बहिरात हैं जू। सुनि साधु गिरा छिपि जात हैं जू॥
दुख पावत सज्जन हैं तेहि ते। विनती हौं करौं सुनिये यहि ते॥
हौं देव मचान बँधाय अबै। तेहि ऊपर आसन नाथ फबै॥
करि दर्शन होव निहाल सबै। सुठि सन्त समागम होइ जबै॥

दो०—विनती दरियानन्द की, मानि सजाय मचान।
बैठत दिन भर लहत सुख, साधक सिद्ध सुजान॥४०॥

नित नव सत्संग उमाह बढ़ै। शुचि सन्त हृदय रसरंग चढ़ै॥
नित नित्य विहारहुँ देखत हैं। मृगया कर कौतुक पेखत हैं॥
वृन्दावन ते हरिवंश हितू। प्रियदास नवल निज शिष्य भृतू॥
पठये तिन आय जोहार किये। गुरुदत्त सुपोथि सप्रेम दिये॥
यमुनाष्टक राधा-सुधानिधि जू। अरु राधिकातंत्र महा विधि जू॥
अरु पाति दये हित-हाथ लिखी। सोरह सै नव जन्माष्टमि की॥
तेहि माहिं लिख्यो विनती लहुरी। सोइ बात सुभ्रागर सो कहुरी॥
रजनी महरास की आवत जू। चित मोर सदय ललचावत जू॥
रसिकै रस मों तनु-त्याग चहौं। मोहि आसिष देइय कुंज लहौं॥

सो०—सुनि विनती मुनिनाथ, एवमस्तु इति भाषेउ।
तनु तजि भये सनाथ, नित्य निकुंज प्रवेश करि॥४१॥

दो०—संडीला ते आय कै, बस स्वामी नँदलाल।
पढ़े रामरक्षा विभूति, जो भक्तन को ढाल॥४२॥

षट मास रहै सत्संग लहै। चलती विरियाँ कछु विह चहै॥
दियो सालग्राम की मूर्ति भली। निज हस्त लिखित कवच औ कमली॥
इमि यादव माधव वेणि उभय। चितसख करुणेश आनंद सदय॥
तपसी समुरारि उधार यती। विरही भगवन्त सभाग्यवती॥
विभवानँद देव दिनेश मिले। अरु दक्षिण देश के स्वामि पिले॥
सब रंग रँगे सत्संग पगे। अहमादि कुनींद सुपुप्त जगे॥
कहे धन्य गोसाँई जु जन्म लये। लहि दर्शन हौं कृतकृत्य भये॥

दृग नीर ढरै नहिं बोल सरै । सब जाहिं सप्रेम प्रमोद भरै ॥
वसु संवत साधु समागम मों । कटिगो नहिं जानि पर्‌यो किमि धों ॥

दो०—सोरह सै सोरह लगै, कामद गिरि ढिग वास ।
शुभ एकान्त प्रदेश महँ, आये सूर सुदास ॥४३॥
पठये गोकुलनाथ जी, कृष्ण रंग में बोरि ।
दृग फेरत चित चातुरी, लीन्ह गोसाईं छोरि ॥४४॥

कवि सूर दिखायउ सागर को । शुचि प्रेम कथा नट नागर की ॥
पद द्वय पुनि गाय सुनाय रहे । पदपंकज पै सिर नाय कहे ॥
अस आसिप देइय श्याम ढरैं । यहि कीरति मोरि दिगन्त चरै ॥
सुनि कोमल बैन सुहादि दिये । पद पोथि उठाइ लगाये हिये ॥
कहे श्याम सदा रस चाखत हैं । रुचि सेवक की हरि राखत हैं ॥
तनिको नहिं संशय है यहि माँ । श्रुति शेप बखानत हैं महिमा ॥
दिन सात रहे सत्संग पगै । पदकंज गहे जब जान लगै ॥
गहि बाँह गोसाईं प्रबोध किये । पुनि गोकुलनाथ को पत्र दिये ॥
लै पाति गये जब सूर कवी । उर में मधराय के श्याम छवी ॥

दो०—तब आयो मेवाड़ ते, विप्र नाम सुखपाल ।
मीरा बाई पत्रिका, लायो प्रेम प्रवाल ॥४५॥
पढ़ि पाती उत्तर लिखे, गीत कवित्त बनाय ।
सब तजि हरि भजिबो भलो, कहि दिय विप्र पठाय ॥४६॥

लड़के इक बालक आन लग्यो । सुठि सुन्दर कंठ सों गान लग्यो ॥
तिसु गान पै रीझि गोसाईं गये । लिखि दीन्ह तबै पद चारि नये ॥
करि कंठ सुनायउ दूजे दिना । अरि जाय सो नूतन गीत बिना ॥
मिसु याहि बनावन गीत लगै । उर भीतर सुन्दर भाव जगै ॥
जब सोरह से बसु बीस चढ्यो । पद जोरि सबै शुचि ग्रन्थ गढ्यो ॥
तिसु रामगितावलि नाम धर्‌यो । अरु कृष्ण-गितावलि राँचि सर्‌यो ॥
दोउ ग्रन्थ सुधारि लिखै रुचि सों । हनुमन्तहिं दीन सुनाय जिसों ॥

तब मारुति है कै प्रसन्न कह्यौ। करि ध्यान अवधपुर जाइ रह्यौ॥
इमि इष्ट को आयसु पाइ चले। विरमे सुठि तीरथराज थले॥
दो०—तेहि अवसर उत्तम परब, लागो मकर नहान।
योगी तपी यती सती, जुरे सयान अजान॥४७॥
तेहि पर्व ते पाछे गये दिन है। बट छाँह तरे जु लख्यो मुनि द्वै॥
तपपुंज दोऊ मुख कांति तपै। छवि छाय छपाकर छंद छपै॥
करि दंडप्रणाम सुदूरहिं ते। करजोरि कै ठाढ़ भये तहिं ते॥
मुनि सैन सों एक हँकारि लियो। अपने ढिग आसन चारु दियो॥
तेहि टारि कै भूमि में बैठि गये। परिचय निज दै परिचाय लये॥
सोइ रामकथा तहँ होत रह्यो। गुरु शूकरखेत में जौन कह्यो॥
विस्मययुत बूझेउ शुभ्र मता। कहि जागवलिक मुनि दीन्ह यता॥
हर रचि भवानिहिं दीन्ह सोई। पुनि दीन्ह भुशुंडिहिं तत्त गोई॥
हौं जाइ भुशुंडि ते ताहि लहेउँ। भरद्वाज मुनी प्रति आइ कहेउँ॥
दो०—यहि विधि मुनि परितोष लहि, पद गहिपाय प्रसाद।
सुनै युगल मुनिवर्य कर, तहाँ विमल संवाद॥४८॥
तेहि ठाँव गये जब दूजे दिना। थल सून निहारु मुनीस बिना॥
बट छाँह न सो नहिं पर्णकुटी। मन विस्मय बाढ़ेउ मर्म पुटी॥
उर राखि उभय मुनि शील चले। हरि प्रेरित काशि की ओर ढले॥
कछु दूरि गये सुधि आइ जबै। मन सोचत का करिये जु अबै॥
जो भया सो भया अब याहि सधै। हर दर्शन कै चलिहौं अवधै॥
मन ठीक किये मग आगु बढ़े। चलि कै मुनि सुरसरि तीर कढ़े॥
तब तीरहिं तीर चले चित दे। भइ साँझ जहाँ सो तहाँ टिकिगे॥
दिग वारि पुरा बिच सीतामढ़ी। तहँ आसन डारत वृत्ति चढ़ी॥
नहि भूख न नींद विछिप्त दशा। उर पूरब जन्म प्रसंग बसा॥
दो०—सीतावटतर तीन दिन, बसि सुकवित्त बनाय।
बंदि छोड़ावत बिंघ नृप, पहुँचे काशी जाय॥ ४९॥

भगत शिरोमणि घाट पै, विप्र-गेह करि वास ।
राम विमल यश कहि चले, उपज्यो हृदय हुलास ॥ ५० ॥

दिन में जितनी रचना रचते । निसि माहिं सुसंचित ना बचते ॥
यह लोपक्रिया प्रति द्यौस सरै । करिये सो कहा नहिं बूझि परै ॥
अठयें दिन शम्भु दिये सपना । निज बोलि में काव्य करौ अपना ॥
उचटी निंदिया उठि बैठु मुनी । उर गूँजि रह्यो सपने की धुनी ॥
प्रगटे शिव संग भवानि लिये । मुनि आठहु अंग प्रणाम किये ॥
शिव भाषेउ भाषा में काव्य रचो । सुर-ब्रानि के पीछे न तात पचो ॥
सब कर हित होइ सोई करिये । अरु पूर्व प्रथा मत आचरिये ॥
तुम जाइ अवधपुर वास करो । तहँई निज काव्य प्रकाश करो ॥
मम पुण्य प्रसाद सों काव्य-कला । होइहै सम साम ऋचा सफला ॥

सो०—कहि अस शम्भु भवानि, अन्तर्धान भये तुरत ।
आपन भाग्य बखानि, चले गोसाईं अवधपुर ॥ ५१ ॥

दो०—जेहि दिन साहि सभान में, उदय लह्यो सन्मान ।
तेहि दिन पहुँचे अवध में, श्री गोसाइं भगवान ॥ ५२ ॥

सरयू करि मज्जन गव दिन मे । विचरे पुलि नारन बीथिन में ॥
एक सन्त मिले कहनो सो लगे । थल रम्य लखैं मदबीरि लगे ॥
लै संग सो ठाम दिखायो भले । वट की बिटपावलि पुण्य थले ॥
तिन माँ वट एक विशाल यही । तिसु मूल में वेदिका सोहि रही ॥
तिसु ऊपर बैठु सिंघासन से । इक सिद्ध प्रसिद्ध हुतासन से ॥
थल देखि लोभायो गोसाइं मना । बसिये यहि ठाँव कुटीर घना ॥
जब सिद्ध के सन्निधि मों गुदरे । तजि आसन सो जय जय उचरे ॥
सो कह्यो गुरु मोर निदेश दियो । तेहि कारन हौं यह वास लियो ॥
गुरु मोर बतायउ मर्म सबै । सो तो देखत हौं परतच्छ अबै ॥

कुं०—मम गुरु कहेउ कि करहि जिन सिद्ध पुष्ट थल वास ।
कछु दिन बीते कहहिंगे हरियश तुलसीदास ॥

हरियश तुलसीदास कहहिंगे यहि थल आई।
आदि कवी अवतार वायुनन्दन बल पाई॥
राजराज वट रोपि दियो मरजाद समूचम।
बसि यहँ ठाहर ठाटु मानि अति हित शासन मम॥ ५३ ॥
सो०—जब ऐहैं यहि ठाम, तुलसी सुत तिसु हेतु हित।
सौंपि कुटी आराम, तनु तजि ऐहहु मम निकट ॥५४॥
उपदेश गुरू मोहिं नीक लग्यो। बहु जन्म पुरातन पुण्य जग्यो॥
बसिकै रसिकै तपिकै चउरी। हौं जोहत बाट रह्यौं रउरी॥
अब राजिय गाजिय नाथ यहाँ। हौं जात्र बसे गुरु मोर जहाँ॥
कहिके अस वेदिका ते उतस्यो। सिर नाइ सिधारेउ दूरि परो॥
तहँ आसन मारिकै ध्यान धस्यो। तिसु योग हुतासन गात जस्यो॥
यह कौतुक देखि गोसाइँ कहैं। धनुधारि! तेरी बलिहारि अहैं॥
निवसे तहँ सौख्य सुपास लहैं। दृढ़ संयम जो मम योग गहै॥
पय पान करैं सोउ एक समय। रघुबीर भरोस न काहुक भय॥
युग वत्सर बीते न वृत्ति डग्यो। इकतीस को संवत आई लग्यो॥
दो०—रामजन्म विधि वार सब, जस त्रेता महँ भास।
तस यकतीसा महँ जुरे, योग लग्न ग्रह रास॥ ५५ ॥
नौमी मंगलवार शुभ, प्रात समय हनुमान।
प्रगटि प्रथम अभिषेक किय, करन जगत कल्यान॥५६॥
हर, गौरी, गनपति, गिरा, नारद, शेष सुजान।
मंगलमय आशिष दिये, रवि, कवि, गुरू विज्ञान॥ ५७॥
सो०—यहि विधि भा आरम्भ, रामचरितमानस विमल।
सुनत मिटत मद दम्भ, कामादिक संशय सकल॥ ५८ ॥
दुइ वत्सर सात के मास परे। दिन छब्बिस माँझ सो पूर करे॥
तैंतीस को संवत औ मगसर। सुभ द्यौस सुराम विवाहहि पर॥
सुठि सत्त जहाज तयार भयो। भवसागर पार उतारन को॥

पाखंड प्रपंच घहावन को। शुचि सात्विक धर्म चलावन को ॥
कलि पाप कलाप नशावन को। हरि भक्ति छटा दरसावन को ॥
मत वाद विवाद मिटावन को। अरु प्रेम को पाठ पढ़ावन को ॥
सन्तन चित चाव चढ़ावन को। सज्जन उर मोद बढ़ावन को ॥
हरिरस हर बस समुझावन को। श्रुति सम्मत मार्ग सुझावन को ॥
युत सप्त सोपान समाप्त भयो। सदग्रन्थ बन्यो सुप्रबन्ध नयो ॥

दो०—महिसुत वासर मध्य दिन, शुभ मिति वत्सर फूल।
सुर समूह जय जय किये, हर्षित बर्षे फूल ॥ ५९ ॥
जेहि छिन यह आरम्भ भो, तेहि छिन पूरेउ पूर।
निर्मल मानव लेखनी, खींचि लियो अति दूर ॥ ६० ॥
पाँच पात गनपति लिखे, दिव्य लेखनी चाल।
सत, शिव, नाग, अदृश्य, दिशप, लोक गयउ तत्काल ॥ ६१ ॥
सब के मानस मे बसेउ, मानस रामचरित्र।
बन्दन ऋषि-कवि पद कमल, मन क्रम बचन पवित्र ॥ ६२ ॥
बन्दौं तुलसी के चरण, जिन कीन्हों जग काज।
कलि समुद्र बूड़त लख्यो, प्रगटेउ सप्त जहाज ॥ ६३ ॥
परम मधुर पावन करनि, चार पदारथ दानि।
तुलसीकृत रघुपति कथा, कै सुरसरि रसखानि ॥ ६४ ॥

सो०—प्रगटे श्री हनुमान, अथ सो इति लौं सब सुनै।
दिये सुभग बरदान, कीरति त्रिभुवन बश करी ॥ ६५ ॥

मिथिला के सुसन्त सुजान हते। मिथिलाधिप भाव पगे रहते ॥
शुचि नाम रुपारुण स्वामि जुतो। तेहि अवसर औध मे आयो हुतो ॥
प्रथमै यह मानस तेई सुनै। तिनहीं अधिकारी गोसाईं गुनै ॥
स्वामि नंद सुलाल को शिष्य पुनी। तिसु नाम दलाल सुदास गुनी ॥
लिखि कै सोइ पोथि स्वठाम गयो। गुरु के ढिग जाय सुनाय दयो ॥
यमुना तट पै त्रय वत्सर लौं। रसखानहिं जाइ सुनावत भो ॥

तब ते यहु संव्यक पात लिये । कछु लोगन औ निज हाथ श्रपे ॥
मुक्तामणि दास जु आयो हतो । हरि शयन को गीत सुनायो हतो ॥
तिसु भावहि पै मुनि रीभि गये । पल मों पल भाँजत सिद्धि दये ॥

दो०—तब हरि अनुशासन लहै, पहुँचे काशी जाय ।
विश्वनाथ जगदम्ब प्रति, पोथी दियो सुनाय ॥ ६६ ॥

छंद—पोथी पाठ समाप्त कै के धरे, शिवलिंग ढिग रात में ।
मूरख पंडित सिद्ध तापस जुरे, जय पट खुलेउ प्रात में ॥
देखिन तिरपित दृष्टि ते सब जने, कीन्ही सही शंकरम् ।
दिव्याक्षर सों लिखो पढ़े धुनि सुने, सत्यं शिवं सुन्दरम् ॥६७॥

शिव की नगरी रस रंग भरी । यह लीला जु पाटि गई सगरी ॥
हरषे नर नारि जोहारि किये । जय जय धुनि बोलि थलैयाँ लिये ॥
पै पंडित लोगन सोच भयो । सब मान महातम जीव गयो ॥
पढ़िहैं यह पोथि प्रसादमयी । तब पूछिहैं कौन हमें मनयी ॥
दल बाँधि ते निन्दत वागत भे । सुर थानि सराहत पागत भे ॥
कोव ग्रन्थ चोरानन हेतु रचे । फरफन्द अनेक प्रपंच पचे ॥
निधुआ सिखुआ युग चोर गये । रखवार विलोकि निहाल भये ॥
तेहि पूछे गोसाईं ते कौन धुही । युग श्यामल गौर धरे धनुही ॥
सुनि बैन भरै जल नैन कहै । तुम धन्य हते हरि दर्श लहै ॥

दो०—तजि कुकरम तस्कर तरै, दिय सब वस्तु लुटाय ।
जाय धरे टोडर सदन, पोथो जतन कराय ॥६८॥

पुनि दूसर पात लिखै रुचि सों । तेहिते लिपि पै लिपि होन लग्यो ॥
दिन दून प्रचार बढ्यो लखि कै । सब पंडित हारे हिया भँखि कै ॥
तब मिश्र बटेसर तान्त्रिक हीं । दुख दाह सुधीगन रोय कही ॥
तिन मारन केर प्रयोग कियो । हठि भैरव प्रेरि पठाय दियो ॥
हनुमन्त से रक्षक देखि डरे । चलिदे सुबटेसर प्रान हरे ॥
सब हारि चले दल को मजि कै । मधुसूदन सरस्वति के मठ पै ॥

सुख मानि गये तेहि ठाम बसै । रघुवीर गुणावलि माहिं रसै ।
कलि आयउ राति कृपान लिये । मुनि कहँ बहु भाँति से त्रास दिये ।
सो कह्यौ जल बोरहु पोथि निजै । न तो दादिहौं वाढ़िहौं चेतु अबै ॥
कहिके अस सो जु सिधारो जबै । मुनि ध्यान धरेउ हरि हेतु तबै ॥
हनुमन्त कहेउ कलि ना मनिहै । मम बरजे सो बैर महा ठनिहै ॥
लिखिकै विनयावलि देहु मोही । तब दंड दियाउब तास ओही ॥

दो०—विदित राम विनयावली, मुनि तब निर्मित कीन्ह ।
सुनि तेहि साखी युत प्रभू, मुनिहि अभय कर दीन्ह ॥७३॥

मिथिलापुर हेतु पयान किये । सुकृती जन को सुख शान्ति दिये ॥
भृगु आश्रम में दिन चारि रहे । करहीन बुआ कर पाप दहे ॥
दिन एक बसे मुनि हंसपुरा । परसी को सुहाग दिये बहुरा ॥
गऊघाट में राउ गँभीर घरे । दुइ वासर लों तहँवाँ ठहरे ॥
ब्रह्मेश सुदर्शन कैके चले । पुनि कांत ब्रह्मपुर माँ निकले ॥
सँवरू-सुत माँगरु व्याघ्र हतो । दुहि दूध दियो सुर साधु रतो ॥
वर दीन तजे चोरहाई सबैं । निर्वंश न होबहुगे कबहूँ ॥
तब बेलापतार में आय रहे । तहँ दास धनी निज कष्ट कहे ॥

छंद—कहे कष्ट आपन कालिह जाइहि प्रान मम पातक घयों ।
मूसहिं गवायों भोग कहि कहि रात हरि सौंहैं कियों ॥
रघुनाथसिंह आनेउ दगा करि कोप सो बोलेउ सुने ।
नहिं राहिं ठाकुर साधु दे मम तोपि वध निश्चय गुने ॥७४॥

सो०—मुनिवर धीरज दीन्ह, कियों रसोई साधु तब ।
सन्मुख भोजन कीन्ह, ठाकुर लखि इमि ऋषि कहेउ ॥७५॥

दो०—तुलसी भूठे भगत को, पति राखत भगवान ।
जैसे मूरख उपरोहितहिं, देत दान जजमान ॥७६॥

निज गेह पवित्र करावन को । लै गो मुनि को नर नायक सो ॥
तहँ भक्त सुगोविंद मिश्र मिले । जिसु दृष्टि ते लोह घना पिघिले ॥

मुनि गाँव के नाँव में फेर करे। रघुनाथपुरा तिसु नाम धरे॥
तहँ ते चलिकै विचरे विचरे। ऋषि हरिहरखेत में जा पधरे॥
पुनि संगम मंजि चले सपदी। नियराये विदेहपुरी छपदी॥
धरि बालिका रूप विदेह-लली। बहुराय कै खीर खवाय चली॥
जब जानेउ मर्म कह्यो कहिये। मन ही मन सोचि कृपा रहिये॥
द्विज लोगन हाज्ञा के घेरि रहे। अरु आपन घोर विपत्ति कहे॥
छत सूबा नवाब बड़ो रगरी। सो तो बारह गाँव की वृत्ति हरी॥

दो०—दया लागि कर्तव्य गुनि, सुमिरे वायुकुमार।
दंडित करि बहुरायऊ, सुखयुत द्विज परिवार॥७७॥
मिथिला ते काशी गये चालिस संवत लाग।
दोहावलि संग्रह किये, सहित विमल अनुराग॥७८॥
लिखे बाल्मीकी बहुरि, इकतालिस के माँहि।
मगसर सुदि सतिमी रवौ, पाठ करन हित ताहि॥७९॥
माधव सित सिय जन्म तिथि, ब्यालिस संवत बीच।
सत्सैया बरणे लगै, प्रेम वारि ते सींच॥८०॥

सो०—उतरु सनीचरि मीन, मरी परी काशीपुरी।
लोगन है अति दीन, जाइ पुकारे ऋषि निकट॥८१॥
लागिय नाथ गोहार अपर बल कछु न बिसाता।
राखें हरिके दास कि सिरजनहार विधाता॥८२॥

दो०—करुणा मय मुनि सुनि व्यथा, तंत्र कवित्त बनाय।
करुणानिधि सों विनय करि, दीन्ही मरी भगाय॥८३॥

कवि केशवदास बड़े रसिया। घनश्याम सुकुल नभ के बसिया॥
कवि जानि के दर्शन हेतु गये। रहि बाहिर सूचन भेजि दिये॥
सुनिकै जु गोसाइँ कहै इतनो। कवि प्राकृत केशव आवन दो॥
फिरिगे झट केशव सो सुनिकै। निज तुच्छता आपुहु ते गुनिकै॥
जब सेवक टेरेउ गे कहिकै। हौं भेंटिहौं काल्हि विनय गहिकै॥

घनश्याम रहै घासिराम रहै। बलभद्र रहै बिसराम लहै ॥
रचि राम सुचन्द्रिका रातिहि में। जुरै केशव जू असि घातिहि में ॥
सत्संग जम्यो रस रंग मच्यो। दोउ प्राकृत दिव्य बिभूति रच्यो ॥
मिटि केशव को संकोच गयो। उर भीतर प्रीति की रीति रयो ॥

दो०—आदिल शाही राज के, भाजक दान बनेत।
दत्तात्रेय सुविप्रवर, आये ऋपय निकेत ॥८४॥
करि पूजा आशिप लहै, माँगे पुण्य प्रसाद।
लिखित वाल्मीकि स्वकर, दियें सहित अह्लाद ॥८५॥
अमरनाथ योगी तिया, वैरागी हरि लीन।
ताते कोपि तिनहिं रहित, कंठी माला कीन ॥८६॥
मच्यो कोलाहल साधु सव; आये मुनिवर पास।
फेरि मिल्यो सो आसननि, ऋपय कृपा अनयास ॥८७॥

दो०—आयो सिद्ध अघोरिया, अलख जगावत द्वार।
छिन महँ सिद्धाई हरी, उपदेशेउ श्रुति सार ॥ ८८ ॥

निमिपार को विप्र सुधर्मरता। बनखंडि सुनाम विमोह गता ॥
सब तीरथ लुरहिं चाहु थपै। तिसु हेतु सदाशिव मंत्र जपै ॥
इक प्रेत घना ढिग ठाढ़ भयो। बहु द्रव्य गड़ो सो दिखाई दयो ॥
सो कह्यो धन लै शुभ काज सरो। यहि योनि ते मोर उवार करो ॥
मन हर्षित विप्र कह्यो मोहि काँ। चौधाम घुमाय सुतीरथ माँ ॥
सब काशि गुसाईं के तीर चलो। तिस दर्शन होई तुम्हारो भलो ॥
सुख मानि कै तै सोई प्रेत कियो। नभ माँझ असी पर छेंक छियो ॥
जन सोर मच्यो बहु लोग जुरै। सब कौतुक देखहिं अंग फुरै ॥
निज आश्रम ते कढ़ि आये मुनी। नभ ते भयो जय जयकार धुनी ॥

दो०—दिव्य रूप धरि यान चढ़ि, प्रेत गयो हरिधाम।
तुलसी दरस प्रताप ते, सोक भयो विधि वाम ॥८९॥
बनखंडी महि पै गिरयो, पग छुइ कियो प्रणाम।

मुनि सन सब व्यवरा कह्यो, बसेउ रसेउ तेहि ठाम ॥९०॥
तासु विनय सुनि मुनि चले, तीरथ थापन काज।
पहुँचे अवधहिं पाँच दिन, तहाँ टिके ऋषिराज ॥९१॥

दै रामगीतावलि गायक को। जे गावहिं यश रघुनायक को॥
मन बोध तिवारिहिं औध छटा। सब कंचन मय वन भूमि अटा॥
दिखरा के चले रथनाही टिके। पुनि शूकरखेत में जाय थिके॥
सियावार सुगाँव में वाम लिये। तहँ सीता सुकूप को पाय पिये॥
पहुँचे लखनैपुर मोद भरे। अरु धेनुमती • तट पै उतरे॥
कहुँ दीनन को प्रतिपाल करैं। कहुँ साधुन के मन मोद भरैं॥
कहुँ लखनलाल को चरित चर्चें। कहुँ प्रेम मगन ह्वै आपु नचैं॥
कहुँ रामायन कल गोन सचैं। उत्साह कोलाहल भूरि मचैं॥
कहुँ आरत जन को ताप हरैं। कहुँ अज्ञानिन उर ज्ञान धरैं॥

दो०—निर्धन भाट दमोदरहिं, आशिष दै कवि कीन।
लहेउ विपुल धन मान बहु, भा कविकला प्रवीन ॥९२॥
तहँ ते मलिहावाद मैं, आय सन्त सिरताज।
रामायण निज कृत दिये, व्रजवल्लभ भटराज ॥९३॥
पुनि अनन्य माधव मिले, कोटरा ग्रामहिं जाय।
माता प्रति शिक्षा सुने, भक्ति दिये बतलाय ॥९४॥

पुनि जाय विठूर में रैनि बसे। सरि मज्जन पाँक में जाइ धसे॥
गहि बाँह निकारेउ जन्हुसुता। तन तायो जरा न रही जु युता॥
तहँ ते चलि आय सँडीले परे। गउरीशंकर गृह माथ धरे॥
कहे या घर में लीन्हे जन्म परा। मनसूरा स्वयं श्रीकृष्ण सखा॥
कछु काल गये सोइ जन्म धरयो। वंशीधर ठाकुर नाम परयो॥
कवि भो मुनिवर उपदेश कियो। पद रास सुने तनु त्याग दियो॥
तेहि व्योम विमान पै आत लख्यो। हलवाई सुसिद्ध प्रवीन भख्यो॥
सत्संगिन देखि निहाल भये। उपदेश सनातन पूर लये॥

दो०—संडोले तें मुनि चले, मग ठाकुर छितिपाल।
नमन कियो नहिं मद मनो, तुरत भयो कंगाल ॥९५॥
सो०—विप्रन किय अपमान, तातें ते निर्धन भये।
कैथन किय सन्मान, सुखी भये धन वंश लहि ॥९६॥
दो०—जुरे जुलाहे भेंट धरि, लहे विपुल धन धान्य।
पहुँचे नैमिष वन मुनी, सर्व तंत्र सम्मान्य ॥९७॥
सोधि सकल तीरथ थपे, किय त्रय मास निवास।
मिले विद्वानो के मुकुल, सम्बत लगु उनचास ॥९८॥

खैराबाद को सिद्ध प्रबीन घरे। मुनि आपुइ योग तें जाइ परे॥
करि ताहि निहाल चले मिसरिष। सँग में नव खंडि दुचारिक सिष॥
पुनि नाव चढ़े सुख सों विचरे। पुर राम सुनै तुरतै उतरे॥
नृप सेवक टंटा वेसाहि रहे। सब माल मता तजि राह गहे॥
सिंहराम सुन्यो पग दौरि गह्यो। करिके जु विनय पद टेकि रह्यो॥
तब लौटि परे निसु धाम बसे। हनुमन्तहिं थापि तहाँ विलसे॥
वंशीवट नाम धर्यो मटरय। मगसर सुदि पंचमी रास रचय॥
वृन्दावन में तहँ ते जु गये। सुठि राम सुघाट पै वास लये॥
बड़ धूम मचो शुचि सन्त घुरे। मुनि दर्शन को नर नारि जुरे॥

दो०—स्वामी नाभा ढिग गये, तें किय बहु सम्मान।
उच्चासन पधराइ पुनि, पूजे सहित विधान ॥९९॥
विप्र सन्त नाभा सहित, हरि दर्शन के हेत।
गये गोसाईं मुदित मन, मोहन मदन निकेत ॥१००॥
राम उपासक जानि प्रभु, तुरत धरे धनुबान।
दर्शन दिये सनाथ किय, भक्त बछल भगवान ॥१०१॥

बरसाने में लीला सो व्यापि गई। मुनि आसन पै बड़ि भीर भई॥
कछु कृष्ण उपासक द्वेष भरे। धनुबान धरे पर मोद सरे॥
तिनको समुझाये सुतत्त्व महा। जन को प्रण राम न राख्यो कहा॥

शुभ दक्षिण देश से जात हतो। हरि मूरति अवधहिं थापन को ॥
विश्राम भयो यमुनातट पै। लखि मूरति मोहे विप्र उदै ॥
सो चहो हरि विग्रह बाई थपै। विनती किय जाइ गोसाइहिं पै ॥
न उठाये उठे जब सो प्रतिमा। तब थापित कीन्ह तहँ जिजिमाँ ॥
तिसु नाम कौसिल्या नन्दन जू। मुनिराज धरै जग चन्दन जू ॥
नँददास कनौजिया प्रेम मढ़े। जिन शेष सनातन तीर पढ़े ॥
शिक्षा गुरु बन्धु भये तेहिते। अति प्रेम सों आय मिले यहि ते ॥

दो०—हित सुत गोपीनाथ प्रति, महिमा अवध बखानि।
जेहि नहि ठाँव-ठिकान कहुँ, तिनहिं बसावत आनि ॥१०२॥

फेरि अमनिया दिये पुनि, सखरा ताहि बताय।
हलवाई बनिकन सदन, बालकृष्ण दिखराय ॥१०३॥

सो०—इमि लीला दरसाय, भक्तन उर आनन्द भरि।
चित्रकूट महँ जाय, किये कछुक दिन वास तहँ ॥ ०४॥

सतकाम सुविप्र गोसाईं लगे। दीक्षाहित आयो सुवृत्ति जगे ॥
लखि कामविकार न शिष्य किये। टिकिगो तहँ सो हठ ठानि हिये ॥
जब रात मे रानि कदम्ब लता। आइ तासु विलोकन सुन्दरता ॥
तिन दीपक बाति बढ़ाय लियो। लखिके मुनि सुन्दर सीख दियो ॥
सो विप्र लजाइ कै पाँय परयो। करिकै मुनि छोह विकार हरयो ॥
पुनि विप्र दरिद्र महा जलपा। मंदाकिनि डूबन हेतु चला ॥
तिसु प्राण बचावन हेतु ऋषय। सुठि दारिद मोच शिला प्रगटय ॥
पुनि साहि खवास पठायउ जू। मुनिराजहिं दिल्ली बुलायउ जू ॥

दो०—चले यमुन तट नृप तिलक, साधु किये सरनाम।
राधा वल्लभ भक्ति दिय, रीझे श्यामा श्याम ॥१०५॥

सो०—उड़छे केशवदास, प्रेत ह्वे घेरे मुनिहिं।
उधरे विनहिं प्रयास, चढ़ि विमान स्वर्गहिं गयो ॥१०६॥

घरवारि के ठाकुर की दुहिता। जिसु सुन्दरता पै जग मुहिता॥
इक नारिहि ते तिसु ब्याह भयो। जब जानेउ दारुण दाह भयो॥
वर की जननी जनमावत ही। सो प्रसिद्ध कियो तेहि पुत्र कही॥
अनुकूलहिं साज समान कियो। जे जानत भे विधि पूजि दियो॥
यहि कारन धोखा भयो बहुतै। अब रोअत मींजत हाथ सबै॥
तिन घेरे दया लगि सन्त हिये। तिसु हेतु नवाह्निक पाठ किये॥
विश्राम लगायो सो जानिय जू। तिसु शब्द प्रथम यहँ आनिय जू॥
हिय,सत,अरु कीन्हरु श्याम लगा। औ राम शैल पुनि हारि पगा॥
कह मारुत-सुत, जहँ तहँ, पुरयं। इति पाठ नवाह्निक ठाम अयं॥

दो०—नारी ते नर होइ गयो, करतहि पाठ विराम।
पुलकित जय तुलसी कहै, जय जय सीताराम॥१०७॥
तहँ ते पँचयें दिन मुनी, पहुँचे दिल्ली जाय।
खबरि पाय तुरतहिं नृपति, लिय दरबार बुलाय॥१०८॥
दिल्लीपति विनती करी, दिखरावहु करमात।
मुकरि गये बन्दी किये, कीन्हे कपि उत्पात॥१०९॥
बेगम को पट फारेऊ, नगन भईं सब धाम।
हाहाकार मच्यो महल, पटको नृपहिं धड़ाम॥११०॥
मुनिहि मुक्त ततछन किये, छमाऽपराध कराय।
बिदा कीन्ह सन्मान युत, पीनस पै पधराय॥१११॥

चलि दिल्ली ते आये महाबन में। निशि बास किये जु अहीरन में॥
इक ग्वार भगीरथ पै ढुरिगे। तेहि सिद्ध सुसन्त बनावत भे॥
दसयें दिन औधहिं आय रहे। भरि पाख तहाँ सुसुताय रहे॥
हरिदास सुभक्त सुगीत रचो। तेहि माँ कछु शब्द अशुद्ध भयो॥
सुधराये मुनी पै न बोध भयो। तिसु कीर्त्तन में अवरोध भयो॥
सपने मुनी तें रघुबीर कह्यो। नहिं शुद्ध अशुद्ध सुभाव गह्यो॥
तब जाइ मुनि तिसु भाव भरो। जस गावत हौ तस गाया करो॥

सुनि बालचरित्र अनन्दित है। मुनि तुष्ट किये सुपटम्बर दै ॥

दो०—देव मुरारी भेंट मिलि, सहित मलूकादास।
पहुँचे काशी में ऋपय, किये अखंड निवास ॥११२॥

शुचि माघ में गंग नहाय हते। सरि भीतर मंत्र महा जपते ॥
तनु वृद्ध सो काँपत रोम अड़े। गनिका रहि देखत तीर खड़े ॥
कढ़िके मुनि सींचेउ वस्त्र धरे। दुइ बुँद सोई गनिका पै परे ॥
वेश्या मन में निर्वेद जगो। यहु दृश्य निरय दिखरान लगो ॥
सब पाप प्रपंच से दूर भगी। उपदेश ले हरिगुन गान लगी ॥
हरिदत्त सु विप्र दरिद्र महा। तिस गंग के पार में वास रहा ॥
मुनि के ढिग आय विपत्ति कही। जस दीन दशा घर केर रही ॥
ऋषि अस्तुति गंग बनाय करी। सुरसरि दै भूमि विपत्ति हरी ॥

दो०—निन्दक मुनि अरु भक्तिपथ, भुलई साहु कलार।
निधन भयउ टिकठी धरे, लैगे फूँकनहार ॥११३॥
तास तिया गेवत चली, मुनि ढिग नायउ सीस।
सदा सोहागिन रहहु तुम, मुनिवर दीन्ह असीस ॥११४॥
बिलखि कही सो निज दशा, शव मुनि लीन्ह मँगाय।
चरणामृत मुख देइके, तुरतै दिये जिआय ॥११५॥

तेहि वासर ते मुनि नेम लिये। अरु बाहर बैठब त्याग किये।
रहे तीन कुमार बड़े सुकृती। मुनि चरनन मे तिनकी भगती ॥
ऋपि केश रहो मनिकर्निका पै। विश्वनाथ के मन्दिर शांति पदै ॥
अनपूर्णा में दाता दीन रहे। रहनी गहनी सम साम गहे ॥
मुनि दर्शन को नित आवत जू। चरणोदक लै घर जावत जू॥
पहिचानि सप्रीति मुनी तिनकी। शुचि टेक विवेक समीचिन की ॥
तिनके हितही बहिरायँ मुनी। दैके दरशन भितरायँ पुनी ॥
सब दर्शक वृन्द चवाव करें। मुनि पै पक्षपात को दोष धरें ॥
दिन एक परीक्षा लीन्ह मुनी। बहिराये नहीं साइ भाव गुनी ॥

तनु सोनित सा छिन त्याग किये । चरणोदक जीवन दान दिये ॥

दो०—सोरह सौ उनहत्तरो, माधव सित तिथि धीर ।
पूरन आयू पाइकै, टोडर तजै शरीर ॥११६॥
मीत विरह में तीन दिन, दुखित भये मुनि धीर ।
समुझि समुझि गुन मीत के, भरयो विलोचन नीर॥११७॥
पाँच मास बीते परे, तेरस सुदी कुआर ।
युग सुत टोडर बीच मुनि, बाँट दिये घर बार ॥११८॥
नख-शिख कर्त्ता आशु कवि, भीषमसिंह कनगोय ।
आयो मुनि-दर्शन कियो, त्यागेउ तनु हरि जोय ॥११९॥
गंग कहेउ हाथी कवन, माला जपेउ सुजान ।
कठमलिया वंचक भगत, कहि सो गयो रिसान ॥१२०॥
क्षमा किये नहिं शाप दिय, रँगे शान्ति रस रंग ।
मारग में हाथी कियो, झपटि गंगतनु भंग ॥१२१॥
कवि रहीम बरवै रचै, पठये मुनिवर पास ।
लखि तेइ सुन्दर छन्द में, रचना कियेउ प्रकास ॥१२२॥
मिथिला में रचना किये, नहछू मंगल दोय ।
पुनि प्रांचे मंत्रित किये, सुख पावें सब लोय ॥१२३॥
बाहु पीर व्याकुल भये, बाहुक रचे सुधीर ।
पुनि विराग, संदीपनी, रामाज्ञा शकुनीर ॥१२४॥
पूर्व रचित लघु ग्रन्थननि, दुहराये मुनि धीर ।
लिखवाये सब आन ते, भो अति खीन शरीर ॥१२५॥
जहाँगीर आयो वहाँ, सत्तर सम्वत बीत ।
धन धरती दीबो चहै, गहै न मुनि विपरीत ॥१२६॥
बिरवल की चर्चा चली, जो पटु वागविलास ।
बुद्धि पाइ नहिं हरि भजे, मुनि किय खेद प्रकास ॥१२७॥

अवधपुरी को चोहड़ा, अवधवासि प्रिय जानि।
हृदय लगाये प्रेमवश, रामरूप तेहि मानि ॥१२८॥
सिद्ध वृन्द गिरनार के, नभ ते उतरे आय।
करि दर्शन पुलकित भये, प्रश्न किये सतिभाय ॥१२९॥
सो०—तुमहिं न व्यापै काम, अति कराल कारन कवन।
कहिय तात सुखधाम, योग प्रभाव कि भक्ति बल॥१३०॥
दो०—योग न भक्ति न ज्ञान बल, केवल नाम अधार।
मुनि उत्तर सुनि मुदित मन, सिद्ध गये गिरनार ॥१३१॥
बैठि रहे मुनि घाट पर, जुरै लोग बहुताय।
आयो भाट सुचन्द्रमणि, विनय कियो परि पाय ॥१३२॥

कवित्त

पन छोड़क भोग विषय अरुमान अब जो रह्यो सो न खसाइय जू।
अब लौं सब इन्द्रिन लोग हँस्यो अब वो जनि नाथ हँसाइय जू॥
मद मोह महा खल काम अनी मम मानस ते निकसाइय जू।
रघुनन्दन के पद के सदके तुलसी मोहि काशि बसाइय जू ॥१३३॥

दो०—विनय सुनत पुलकित भये, कहि ऋषिराज महान।
बसहु सुखेन इतै सदा, करहु राम गुन गान ॥१३४॥
हत्यारा ढिग आयऊ, विप्र चन्द तिसु नाम।
दूर ठाढ़ बोलत भयो, राम राम पुनि राम ॥१३५॥
इष्ट नाम सुनि मगन भे, तुरत लिये उर लाय।
आदर युत भोजन दिये, हरषि कहे ऋषिराय ॥१३६॥
तुलसी जाके मुखनि ते, धोखेहु निकसे राम।
ताके पग की पैतरी, मेरे तन को चाम ॥१३७॥
समाचार व्याप्यो तुरत, वीथिन वीथिन साँझ।
ज्ञानी ध्यानी विप्र भट, सुधी जुरै मठ साँझ ॥१३८॥

फँसे घातक शुद्ध भो, कहिये सन्त महान।
कहे जु नाम प्रताप से, बाँचहु वेद पुरान ॥१३९॥
कह्यो लिखो तो है सही, होत न पै विश्वास।
मन माने जाते कहिय, सोइ कर्त्तव्य प्रकास ॥१४०॥
कहे जो शिव को नादिया, गहै तास कर ग्रास।
तब सो निश्चय उपजही, सब के मन विश्वास ॥१४१॥
सुनि प्रसाद ऐसहि भयो, चहुँ दिशि जय जयकार।
निन्दक माँगे छमा सब, पग परि बारम्बार ॥१४२॥
राम नाम दिन भर रटै, लोभ विवश मुनि थान।
साँझ समय तिस विप्र को, द्रब्य देव हनुमान ॥१४३॥
राम दरस हित कमजमय, हठेउ कहेव मुनिराय।
तरु ते कूदि त्रिशूल पै, दरस लेहु किन जाय ॥१४४॥
गाड़ि शूल अरु विटप चढ़ि, हिम्मत हारेव पात।
लखेउ पछाहीं वीर इक, अश्व चढ़े मग जात ॥१४५॥
पूछेव मर्म कहेउ कथा, सो चढ़ि विटप तुरन्त।
कूदेउ उर विश्वास धरि, दरस दीन भगवन्त ॥१४६॥
अन्त समय हनुमत दिये, तत्त्व ज्ञान को बोध।
राम नाम ही बीज है, सृष्टि वृत्तमय गोध ॥१४७॥
पर प्रस्थान की शुभ घड़ी, आयो निकट विचारि।
कहेउ प्रचारि मुनीश तब, आपन दशा निहारि ॥१४८॥
रामचन्द्र यश बरनि कै, भयो चहत अब मौन।
तुलसी के मुख दीजिये, अब ही तुलसी सौन ॥१४९॥
सम्वत सोरह सौ असी, असी गंग के तीर।
श्रावण श्यामा तीज शनि, तुलसी तज्यो शरीर ॥१५०॥
मूल गोसाईं चरित नित, पाठ करै जो कोय।
गौरी शिव हनुमत कृपा, राम-परायन होय ॥१५१॥

सोरह सै सत्तासि सित, नवमी कातिक मास।
बिरच्या यहि नित पाठ हित, वेणीमाधवदास ॥१५२॥

(क) यह मूल गोसाईं-चरित है। अब हमको इसमें दी हुई घटनाओं के संबंध में विचार करना है। सबसे पहले इस चरित में दिए हुए संवतों, तिथियों आदि के संबंध में विचार करना चाहिए।

(१) गोस्वामी जी की जन्म-तिथि के विषय में इस चरित में लिखा है—

यमुना तट दूबन को पुरवा। बसते सब जातिन को कुरवा ॥
सुकृती सतपात्र सुधी सुखिया। रजियापुर राजगुरू मुखिया ॥
तिन के घर द्वादश मास परे। जब कर्क में जीव हिमांशु चरे ॥
कुज सप्तम अष्टम भानु-तनय। अभिजित शनि सुंदर साँझ समय ॥

पंद्रह सै चववन विषै, कालिंदी के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी धरेउ शरीर ॥

अर्थात् विक्रम संवत् १५५४ की श्रावण शुक्ला सप्तमी शनिवार को संध्या समय यमुना के तट पर तुलसीदासजी ने जन्म लिया। उस समय कर्क के बृहस्पति और चन्द्रमा, सप्तम मंगल और अष्टम शनि थे, और अभिजित नक्षत्र (या मुहूर्त) था। संवत् १५५४ में दो श्रावण मास थे; अधिक श्रावण मास की शुक्ला सप्तमी गुरुवार को पड़ी थी और शुद्ध श्रावण मास की शुक्रवार को। तुलसीदासजी का जन्म संध्या समय हुआ था। उस समय अभिजित मुहूर्त तो हो नहीं सकता। अधिक श्रावण मास की शुक्ला सप्तमी को संध्या समय चित्रा नक्षत्र था और शुद्ध श्रावण मास की शुक्ला सप्तमी को आरंभ में ५ घंटा ४५ मिनिट स्वाती नक्षत्र और उसके अनंतर विशाखा नक्षत्र था। अतएव अभिजित नक्षत्र भी नहीं हो सकता। हाँ अभिजित का अर्थ यदि 'सुंदर' माना जाय तो दूसरी बात है। पर आगे 'सुंदर साँझ समय' पाठ है; इसलिये यह अर्थ मानना ठीक नहीं होगा। इस गणना के

अनुसार संवत् १५५४ की श्रावण शुक्ला सप्तमी शनिवार को नहीं पड़ती; अतएव यह तिथि प्रामाणिक सिद्ध नहीं होती।

(२) मूलचरित में लिखा है कि गोस्वामी जी का यज्ञोपवीत संस्कार इस तिथि को हुआ—

पंद्रह सै इकसठ माघ सुदी। तिथि पंचमी और भृगुवार उदी॥
सरयू तट विप्रन यज्ञ किये। द्विज बालक कहँ उपवीत दिये।

अर्थात् संवत् १५६१ की माघ सुदी पंचमी (श्री पंचमी) शुक्रवार को इनका यज्ञोपवीत-संस्कार हुआ। गणना से यह तिथि ठीक ठहरती है। इस दिन शुक्रवार था। अँग्रेजी गणना के हिसाब से यह दिन १४ जनवरी सन् १५०५ को पड़ता है।

(३) गोस्वामी जी के विवाह की तिथि इस प्रकार दी है—

पंद्रह सै पार तिरासि विषै। शुभ जेठ सुदी गुरु तेरस पै।
अधिराति लगै जु फिरी भँवरी। दुलहा दुलही की पड़ी पँवरी॥

अर्थात् संवत् १५८३ की जेठ सुदी १३ गुरुवार आधी रात के समय इनका विवाह-संस्कार हुआ। गणना से इस तिथि को गुरुवार था। अँग्रेजी गणना के हिसाब से यह तिथि २४ मई सन् १५२६ को पड़ती है। इस हिसाब से विवाह के समय गोस्वामीजी की अवस्था २८ वर्ष और १० महीने की थी।

(४) स्त्री को छोड़ने तथा उसकी मृत्यु की तिथि इस प्रकार दी है—

उठि दौरि मनावन सार गयो। पिछुआये रह्यौ जब भोर भयो॥
नहिं फेरे फिरे फिरि आयो घरे। भगिनी निज मूर्छित देख्यो परे॥
मुर्च्छा जु हटी उठि बोली सती। पिय को उपदेशन आई हती॥
पिय मोर पयान कियो वन को। हौं प्रान पठाउँ तजौं तनु को॥
कहिकै अस सो निज देह तजी। सुर लोक गई पति-धर्म-ध्वजी॥
शत पन्द्रह युक्त नवासि सरै। सुअषाढ़ वदी दसमीहुँ परै॥
बुध वासर धन्य सो धन्य घरी। उपदेसि सती तनु त्याग करी॥

अर्थात् संवत् १५८९ की आषाढ़ वदी १० बुधवार को गोस्वामी जी की पत्नी ने अपना शरीर छोड़ा। गणना से यह तिथि भी ठीक उतरती है। अँग्रेजी हिसाब से इस दिन सन् १५३२ ई० की २९ मई थी।

(५) राम-दर्शन की तिथि इस प्रकार दी है—

सुखद अमावस मौनिया बुध सोरह सै सात।
जा बैठे तिसु घाट पै, विरही होतहि प्रात॥
प्रकटे राम सुजान, कहेउ देहु बाग्य मलय॥
शुक वपु धरि हनुमान, पढ़ेउ चेतावनि दोहरा॥
चित्रकूट के घाट पर, भइ संतन की भीर।
तुलसिदास चंदन घिसें, तिलक देत रघुबीर॥

अर्थात् संवत १६०७ मौनी अमावस (माघ कृष्णा अमावस्या) बुधवार को श्री रामजी के दर्शन हुए। संवत् १६०७ की माघ कृष्णा अमावस्या मंगलवार को पड़ी थी और वह २१ घंटा १० मिनट तक रही। यदि इसका पर्व काल दूसरे दिन बुधवार को माना गया हो, तो यह तिथि ठीक है; नहीं तो इसमें भी वार का अंतर पड़ता है।

(६) सूरदास जी के मिलने की तिथि इस प्रकार लिखी है—

सोरह सै सोरह लगै, कामद गिरि ढिग वास।
शुभ एकांत प्रदेश महँ, आये सूर सुदास॥
पठये गोकुलनाथ जी, कृष्ण रँग में बोरि।
दृग फेरत चित चातुरो, लीन्ह गोसाईं छोरि॥
कवि सूर दिखायउ सागर को।
शुचि प्रेम कथा नटनागर को॥

इस घटना के उल्लेख में केवल संवत् १६१६ दिया है और किसी मास, तिथि आदि का उल्लेख नहीं है। इसलिये गणना करके इसकी जाँच नहीं की जा सकती। पर इस कथन में दो बातें महत्व की हैं—

एक तो गोकुलनाथ जी के भेजे हुए सूरदास का आना, और दूसरे उन का सूर-सागर गोस्वामी जी को दिखाना।

वल्लभाचार्यजी के परम धाम सिधारने का संवत् १५८७ बताया जाता है; अतएव इसके अनंतर विट्ठलनाथ की गद्दी पर बैठे होंगे। विट्ठलनाथ जी के पुत्र गिरधरजी ने संवत् १६४२ में श्रीनाथजी की गद्दी की टिकैती पाई थी। गोकुलनाथजी विट्ठलनाथ के छोटे पुत्र थे; अतएव गोकुलनाथ जी का संवत् १६१६ के लगभग तक वर्तमान रहना संभव है। गोकुलनाथजी ने 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' में विट्ठलनाथ जी के रहते सूरदास के परमधाम सिधारने की बात लिखी है। अतएव सूरदासजी की मृत्यु १६४२ के पूर्व हुई होगी। भारतेंदु हरिश्चन्द्रजी ने विट्ठलनाथ का जन्म संवत् १५७२ में और मृत्यु संवत् १६४२ में बताई है। डाक्टर ग्रियर्सन के अनुसार सूरदास का जन्म संवत् १५४० में और मृत्यु संवत् १६२० में हुई। मिश्रबन्धुओं ने भी सूरदास का जन्म संवत् १५४० में और मृत्यु संवत् १६२० के लगभग बताई है। डाक्टर ग्रियर्सन तथा मिश्रबन्धुओं के दिए हुए संवतों के आधार पर सूरदासजी का गोस्वामी तुलसीदास से मिलना ठीक जान पड़ता है। गोस्वामी तुलसीदास जी की विनयपत्रिका में सूरदास जी के कई पदों का ज्यों का त्यों—केवल नाममात्र के परिवर्तन के साथ—मिलना भी कम से कम इस बात को अवश्य सिद्ध करता है कि गोस्वामी जी ने सूरसागर देखा था। संवत् १६६६ की लिखी "विनयावली" में ये पद नहीं मिलते। पर वह प्रति खंडित है; अतएव यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि ये पद स्वयं गोस्वामीजी ने चुनकर अपनी विनयपत्रिका में रख लिए, अथवा किसी अन्य भक्त की कृपा से उसमें सम्मिलित हो गए। सूरदासजी का समय अभी ठीक ठीक निश्चित नहीं हुआ है। अतएव इस संबंध में निश्चयपूर्वक कुछ कहना ठीक नहीं होगा। मूल गोसाईं चरित में यह भी लिखा है कि सूरदासजी सात दिन तक गोस्वामी

तुलसीदास के पास रहे और उसके अंत में उनका पत्र लेकर लौट गए।

तब आयो मेवाड़ तें विप्र नाम सुखपाल।
मीराबाई पत्रिका लायो प्रेम प्रवाल॥
पढ़ि पाती उत्तर लिख्यो, गीत कवित्त बनाय।
सब तजि हरि भजिबो भलो, कहि दिय विप्र पठाय॥

इससे यह सिद्ध होता है कि मीराबाई संवत् १६१६ तक जीवित रहीं। मीराबाई के संवतों के संबंध में भी बड़ा मतभेद है। पर इन घटनाओं को यदि ठीक मान लिया जाय, तो मीराबाई का संवत् १६१६ के पीछे तक जीवित रहना मानना पड़ेगा। मुंशी देवीप्रसाद ने मीराबाई का जो जीवनचरित्र लिखा है, उसमें उनका जन्म संवत् १५७३ और देहांत संवत् १६०३ में लिखा है। यदि देहांत का यह संवत् ठीक है, तो संवत् १६१६ में मीराबाई का गोस्वामी तुलसीदास के पास पत्र भेजना असंभव है। पर मूल 'गोसाईं' चरित्र' में मेवाड़ से पत्र लेकर आनेवाले ब्राह्मण का नाम तक देना और यह कहना कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'पढ़ि पाती उत्तर लिख्यो गीत कवित्त बनाय' मीराबाई और गोस्वामी जी के पत्र-व्यवहार की प्रामाणिकता को कुछ तो अवश्य पुष्ट करता है।

(७) रामगीतावली और कृष्ण गीतावली के संबंध में मूल चरित में यह लिखा है—

तड़के इक बालक आन लग्यो। सुठि सुंदर कंठ सों गान लग्यो॥
तिसु गान पै रीझि गोसाईं नये। लिखि दीन्ह तबै पद चारि नये॥
करि कंठ सुनायउ दूजे दिना। अरि जाय सो नूतन गीत बिना॥
मिसु याहि बनावन गीत लगै। उर भीतर सुंदर भाव जगै॥
जब सोरह सै बसु बीस चढ़्यो। पद जोरि सबै शुचि ग्रंथ गढ़्यो॥
तिसु रामगितावलि नाम धरो। अरु कृष्णागितावलि राँचि सरो॥
दोउ ग्रंथ सुधारि लिखे रुचि सों। हनुमंतहिं दीन सुनाय जिसों॥

इससे यह बात निकलती है कि संवत् १६२८ में रामगीतावली

और कृष्णगीतावली ग्रंथ समाप्त हुए। इन दोनों ग्रंथों के पदों की रचना क्रमशः हुई और पीछे से वे सब पद ग्रंथ रूप में संगृहीत हुए।

(८) रामचरितमानस की रचना के संबंध में मूल चरित में यह लिखा है—

युग वत्सर बीते न वृत्ति डग्यो। इकतीस को संवत आइ लग्यो॥

राम जन्म तिथि वार सब, जस त्रेता महँ भास।
तस इकतीसा महँ जुरे, जोग लगन ग्रह रास॥
नौमी मंगलवार शुभ, प्रात समय हनुमान।
प्रगटि प्रथम अभिषेक किय, करन जगत कल्यान॥
हरगौरी गनपति गिरा, नारद शेष सुजान।
मंगलमय आशिष दिये, रवि कवि गुरु निर्वान॥
यहि विधि भा आरंभ, राम चरितमानस विमल।
सुनत मिटत मद दंभ, कामादिक संशय सकल॥

दुइ बरसर सात के मास परे। दिन छब्बिस माँझ सो पूर करे॥
तैंतीस को संवत् औ मगसिर। शुभ चौस सुराम विवाहहिं पर॥
शुठि सप्त जहाज तयार भयो। भव सागर पार उतारन को॥

महिसुत बासर मध्य दिन शुभ मितितत्सत कूल।
सुर समूह जय जय किये, हर्षित बरपे फूल॥

इससे यह विदित होता है कि रामचरितमानस की रचना रामनौमी मंगलवार संवत् १६३१ को, जब कि सब ग्रह आदि वैसे ही थे जैसे कि त्रेता में रामजन्म के समय थे, आरंभ हुई; और २ वर्ष ७ महीने, २६ दिन में संवत् १६३३ के मार्गशीर्ष मास की उस तिथि को जब कि राम-विवाह हुआ था, यह ग्रंथ समाप्त हुआ। रामचरितमानस में गोसाईं तुलसीदासजी ने उस ग्रंथ की रचना के संबंध में यह लिखा है—

संवत् सोरह सै इकतीसा। करउँ कथा हरि-पद धरि सोसा॥
नौमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा॥

अतएव मूल चरित तथा रामचरितमानस दोनो के अनुसार इस ग्रंथ की रचना संवत् १६३१, चैत्र शुक्ला नवमी मंगलवार को आरंभ हुई। ज्योतिष की गणना के अनुसार संवत् १६३१ के चैत्र शुक्ल पक्ष में मंगलवार को अष्टमी आठ घड़ी (अर्थात् ३ घंटा १० मिनट) रही। इसके उपरांत नवमी लगी और वह बुधवार को २ घंटा १० मिनट तक रही। यदि उदया तिथि का हिसाब माना जाय तो मंगलवार को अष्टमी थी; और यदि वास्तविक गणना पर ध्यान दिया जाय तो ९ बजे के लगभग नवमी लग गई थी। मूल चरित का कथन यदि अप्रामाणिक माना जाय, तो भी रामचरितमानस का स्पष्ट कथन असंदिग्ध है और वह अप्रामाणिक नहीं हो सकता। मूल चरित में रामचरितमानस की समाप्ति का दिन संवत् १६३३ के मार्गशीर्ष मास का राम-विवाह का दिन बताया है जिस दिन मंगलवार था। राम-विवाह की तिथि मार्गशीर्ष मास के शुक्ल पक्ष की पंचमी मानी जाती है। संवत् १६३३ मे इस दिन रविवार था। पर मूल चरित में इस तिथि का मंगलवार को होना लिखा है। इसके अतिरिक्त संवत् १६३३ मे दो ज्येष्ठ मास पड़े थे। इनको यदि दो मास माना जाय, तो ७ महीने २६ दिन कार्तिक शुक्ला ५ को पूरे होंगे। पर वह दिन न राम विवाह का दिन था और न उस दिन मंगलवार था। अतएव इस तिथि के ठीक होने में संदेह है।

(९) मूलचरित में दोहावली के संग्रह का संवत् यह दिया है—

मिथिला ते काशी गए चालिस संवत् लाग।
दोहावलि संग्रह किए, सहित विमल अनुराग॥

इसमें कोई तिथि या दिन नहीं है; अतएव इसकी जाँच नहीं की जा सकती।

(१०) मूल चरित में लिखा है—

लिखे वाल्मीकी बहुरि, इकतालिस के माँहि ।
मगसुर सुदि सतिमी रवौ, पाठ करन हित ताहि ।।

अर्थात् संवत् १६४१ मार्गशीर्ष सुदी सप्तमी रविवार को पाठ करने के लिये वाल्मीकीय रामायण लिखी। इस संवत् में मार्गशीर्ष सुदी सप्तमी रविवार को पड़ती है।

काशी के सरस्वती-भवन में गोस्वामी जी के हाथ की लिखी वाल्मीकीय रामायण उत्तर कांड सुरक्षित है। उसके अन्त में यह लिखा है—

'इत्यार्षे रामायणे वाल्मीकीये चतुर्विंशतिसाहस्र्यां संहितायां उत्तरकांडे स्वर्गारोहणकं नाम सर्गः ।। शुभमस्तु। समाप्तं चेदं महाकाव्यं श्रीरामायणमिति संवत् १६४१ समये मार्ग सुदि ७ रवौ लि० तुलसी-दासेन।"

अतएव यह स्पष्ट है कि वाल्मीकीय रामायण की जो प्रतिलिपि गोसाईं जी ने संवत् १६४१ में की थी, उसी का उत्तरकांड सरस्वती भवन में रक्षित है।

(११) तुलसीसतसई के संबंध में मूल चरित्र में यह लिखा है—

माधव सित सिय जन्म तिथि, ब्यालिस संवत बीच ।
सतसैया बरनै लगै, प्रेम वारि ते सींचि ।।

सतसई का निर्माण-काल उस पुस्तक में यह दिया है—

अहि-रसना थन-धेनु रस गनपति द्विज गुरुवार ।
माधव सित सिय जनन तिथि, सतसैया अवतार ।।

अतएव मूल चरित तथा सतसई के अनुसार उसकी रचना संवत् १६४२ वैशाख सुदी ९ गुरुवार को हुई। पर इस संवत् में वैशाख सुदी ९ गुरुवार को नहीं पड़ती। वह मंगलवार को सात घड़ी के उपरांत आरंभ होती और बुधवार को एक घड़ी बीतने पर समाप्त होती है। इस गणना में भी एक वार का अंतर पड़ता है।

(१२) गोस्वामी जी के मित्र टोडर की मृत्यु का संवत् मूल चरित में इस प्रकार दिया है—

सोरह सौ उनहत्तरौ माधव सित तिथि धीर।
पूरन आयु पाइ कै टोडर तजै शरीर॥
मीत विरह में तीन दिन दुखित भये मुनि धीर।
समुझि समुझि गुन मीत के, भर्यो विलोचन नीर॥
पाँच मास बीते परे, तेरस सुदी कुआर।
युग सुत टोडर बीच मुनि बाँट दिये घर वार॥

अर्थात् संवत् १६६९ के वैशाख मास के शुक्ल पक्ष में टोडर की मृत्यु हुई। धीर तिथि से क्या तात्पर्य है, यह समझ में नहीं आता। टोडर की मृत्यु से पाँच महीने बीतने पर कुँआर सुदी तेरस को गोस्वामीजी ने उसके उत्तराधिकारियों में बँटवारा कर दिया। यह गणना ठीक है। इस बँटवारे का पंचनामा गोस्वामीजी के हाथ का लिखा हुआ महाराज काशिराज के यहाँ सुरक्षित है। उसमें लिखा है—

"संवत् १६६९ समए कुआर सुदि तेरसि वार शुभदिने लिखतं पत्र अनंदराम तथा कन्हइया। अंस बिभाग पुर्बक आगे के आग्य दुनहु जने मागा जे आग्य भै शे प्रमान माना दुनहु जने विदित तफसील अंश टोडर मल्ल के माह जे विभाग पदुहोत रा...॥

(१३) संवत् १६६९ की अन्य घटनाओं का वर्णन मूल चरित में इस प्रकार दिया है—

कवि रहीम बरवै रचे, पठये मुनिवर पास।
लखि तेइ सुंदर छन्द में, रचना कियेउ प्रकास॥
मिथिला में रचना किये, नहछू मंगल दोय।
पुनि प्राचे मंत्रित किये, सुख पावें सब लोय॥
बाहु पीर व्याकुल भये, बाहुक रचे सुधीर।
पुनि विराग संदीपनी, रामाज्ञा शकुनीर॥

पूर्व रचित लघु ग्रंथननि दुहराये मुनि धीर।
लिखवाये सब आन ते, भो अति छीन शरीर ॥
जहाँगीर आयो तहाँ सत्तर संवत् बीत।
धन धरती दीन्यो चहै, गहै न मुनि विपरीत ॥

इससे स्पष्ट है कि रहीम की बरवै-रचना को देखकर गोस्वामी जी ने बरवै रामायण की रचना की; तथा नहछू, जानकी मंगल, पार्वती मंगल लिखे जिनकी रचना मिथिला में हुई थी। बाहुक, वैराग्य संदीपनी, रामाज्ञा शकुनावली आदि जो पूर्व रचित लघु ग्रंथ थे, उनको दुहराकर दूसरे से लिखवाया और संवत् १६७० बीतने पर जहाँगीर उनसे मिलने आया। पार्वती मंगल की रचना का समय उस ग्रंथ में यह दिया है—

जय संवत् फागुन, सुदी पाँचै गुरु दिनु।
अस्विनि विरचेउ मंगल, सुनि सुख छिनु छिनु ॥

अर्थात् जय संवत् की फागुन सुदी ५ गुरुवार को अश्विनी नक्षत्र में इस ग्रंथ की रचना हुई। जय संवत् विक्रम संवत् १६४३ में पड़ता है और फागुन सुदी ५ भी गुरुवार को पड़ती है। उस दिन २० घड़ी रेवती नक्षत्र था और उसके अनंतर अश्विनी नक्षत्र लगा था। पर इस ग्रंथ की रचना मिथिला में हुई थी और गोस्वामीजी "मिथिला ते काशी गये चालिस संवत लाग"। अतएव संवत् १६४३ में उनका काशी में रहना संभावित है। संभव है कि वे पुनः मिथिला गए हों। संवत् १६७० बीतने पर जहाँगीर बादशाह उनसे मिलने आया था। जहाँगीर का जन्म संवत् १६२६ में हुआ था। वह संवत् १६६२ में गद्दी पर बैठा और संवत् १६८४ में उसका देहांत हुआ। अतएव यदि वह संवत् १६७० में गोस्वामी तुलसीदास से मिलने आया होगा, तो उस समय उसे गद्दी पर बैठे आठ वर्ष हो चुके होंगे। जहाँगीर ने जो अपनी दिनचर्या लिखी है, उसमें कहीं तुलसीदासजी से भेंट होने का उल्लेख नहीं है।

(१४) गोस्वामीजी के परलोक-वास का संवत् मूल चरित में इस प्रकार दिया है—

संवत सोरह सै असी, असी गंग के तीर।
श्रावण श्यामा तीज शनि, तुलसी तज्यो शरीर ॥

अर्थात् संवत् सोलह सौ अस्सी की श्रावण वदी तीज शनिवार को उन्होंने (काशी में) अस्सी घाट पर अपना शरीर छोड़ा। अब तक उनकी मृत्यु के संबंध में यह दोहा प्रसिद्ध चला आता है—

संवत सोरह सै असी असी गंग के तीर।
श्रावण शुकला सप्तमी तुलसी तज्यो शरीर ॥

मूलचरित में इनका जन्म श्रावण शुक्ला सप्तमी शनिवार को होना लिखा है। संभव है कि "श्रावण शुक्ला सप्तमी" ये शब्द भ्रम से जन्म-तिथि के स्थान पर मरण-तिथि के साथ लग गए हों। यह बात प्रसिद्ध है कि गोसाईं जी के एक परम मित्र टोडर थे, जिनकी मृत्यु पर उन्होंने अपना हार्दिक शोक कई दोहों में प्रकट किया था तथा जिनके पुत्रों का झगड़ा गोस्वामीजी ने स्वयं पंच बनकर निबेड़ा था। मूल चरित में यह भी लिखा है कि जिस समय गोस्वामीजी काशी के लोगों के व्यवहार से तंग आकर मिथिला को चले जाने के लिये काशी से चल पड़े थे, उस समय यही टोडर उन्हें मनाकर लाए थे।

सुनि टोडर आय कियों बिनती। मुनि मानिय सेवक की मिनती ॥
प्रिय घाट असी पर भौन नयो। बनिकै सह घाट तयार भयो ॥
बसिकै सुरसों सुख देइय जू। पद कंज सदा हम सेइय जू ॥
सुनि मानि गये तेहि ठाम बसै। रघुबीर गुणावली माँहि रसै ॥

इन टोडर के वंशज अब तक वर्तमान हैं और काशी में अस्सी घाट के निकट भदैनी महल्ले में उनका एक मकान अब तक है। इस घराने के लोग गोस्वामीजी की मरण तिथि अब तक बराबर श्रावण श्यामा तीज को प्रति वर्ष एक सीधा गोस्वामीजी के नाम पर देते हैं। यह

थान अब तक बराबर होती चली आती है। पर ज्योतिषिक गणना के हिसाब से संवत् १६८० की श्रावण श्यामा तीज शनिवार को नहीं पड़ती, वरन् शुक्रवार को पड़ती है; और उस दिन यह तिथि २० घंटा ४० मिनट तक रही।

ऊपर हमने मूल चरित से १४ सवतों और तिथियों आदि को लेकर विवेचन किया है। इनमें से ६ तिथियाँ (संख्या २, ३, ४, ५, १०, १२,) तो सर्वथा ठीक उतरती हैं। रामचरितमानस (संख्या ८) के आरंभ होने की तिथि तो ठीक मिलती है, पर समाप्त होने की नहीं मिलती। चार (संख्या ६, ७, ९, १३) के सम्बन्ध में कुछ ठीक ठीक निश्चय नहीं किया जा सकता। शेष तीन (१, ११, १४) में एक एक दिन का अंतर पड़ता है। सारांश यह कि १४ तिथियों में से केवल तीन में एक दिन का अंतर है, शेष ग्यारह ठीक हैं, पर तीनों में से दो बड़ी ही महत्वपूर्ण है, अर्थात् जन्म और मरण की तिथि। इनमें केवल एक एक दिन का अंतर है। मरण तिथि श्रावण कृष्णा तीज थी, इसके अच्छे प्रमाण हैं, दिन चाहे जो रहा हो। सतसई निर्माण थी तिथि इतनी महत्वपूर्ण नहीं है। जन्म तिथि के सम्बन्ध में बड़ा मत-भेद है। पण्डित रामगुलाम द्विवेदी ने सुनी सुनाई बातों के आधार पर इनका जन्म संवत् १५८९ में माना है। डाक्टर गियर्सन ने इसे ही स्वीकार किया है। शिवसिंहसरोज में लिखा है कि गोस्वामी जी १५८३ के लगभग उत्पन्न हुए। श्रीयुत इन्दुदेवनारायणजी संवत् १९६९ की ज्येष्ठ संख्या की "मर्यादा" पत्रिका में लिखते हैं—

"श्रीगोस्वामी की शिष्य-परपरा की चौथी पुश्त में काशीनिवासी विद्वद्वर श्री शिवलालजी पाठक हुए, जिन्होंने वाल्मीकीय रामायण पर संस्कृत भाष्य तथा व्याकरणादि विषय पर भी अनेक ग्रन्थ निर्माण किए हैं। उन्होंने रामचरितमानस पर भी मानसमयंक नामक तिलक रचा है। उसमें लिखा है—

मत (४) ऊपर शर (५) जानिये, शर (५) पर दीन्हे एक (१)।
तुलसी प्रगटे रामवत, रामजन्म की टेक ॥
सुने गुरू ते बीच शर (५), संत बीच मन (४०) गान ॥
प्रगटे सतहत्तर परे, ताते कहे चिरान ॥

अर्थात् १५ ५४ सं० में गोस्वामी जी प्रगट हुए और पाँच वर्ष की अवस्था में गुरु से कथा सुनी। पुनः चालीस वर्ष की अवस्था में सन्तों से भी वही कथा सुनी और उन्होंने सतहत्तरवें वर्ष के बाद अठहत्तरवें वर्ष में रामचरितमानस की रचना आरंभ किया। उनकी अठहत्तर वर्ष की अवस्था संवत् १६३१ में थी और १६८० संवत् में वे परमधाम सिधारे। इस प्रकार १५५४ में ७७ जोड़ने से १६३१ संवत् हुआ। संवत् १५५४ का साल मिला कर अठहत्तर वर्ष की अवस्था गोस्वामीजी की थी जब मानस आरंभ हुआ; और १२७ वर्ष की दीर्घ आयु भोगकर गोस्वामीजी परम धाम सिधारे।"

१२७ वर्ष की अवस्था होना कोई असम्भव बात नहीं है, पर साधारणतः इतनी बड़ी आयु इस युग में देखने में नहीं आती। दूसरे उनका साहित्यिक जीवन संवत् १६२८ में आरंभ होता है जब कि उनकी अवस्था ७४ वर्ष की हो चुकी थी। पर ऊपर जो कुछ विवेचन किया गया है, उससे सारांश यही निकलता है कि ये सब संवत् तिथि आदि बनावटी नहीं हैं। जहाँ कहीं अन्तर देख पड़ता है, उसका कारण या तो गणना में भेद हो सकता है अथवा जीवनचरित लेखक को भ्रम हो सकता है। साधारण अन्तर के आधार पर, और वह भी केवल तीन संवतों में, समस्त कथन को असत्य मानना अनुचित होगा।

(ख) बाबा बेनीमाधवदास ने अपने ग्रन्थ के निर्माण का संवत् इस प्रकार दिया है—

सोरह सै सत्तासि सित, नवमी कातिक मास।
विरच्यो यहि नित पाठ हित, बेणीमाधवदास॥

इसमे वार नहीं दिया है, इससे इसकी जाँच नही की जा सकती। इस दिन बुधवार था। इससे यह विदित होता है कि गोस्वामी जी के परमधाम सिधारने के सात वर्ष पीछे इस मूल चरित की रचना हुई और यह केवल नित्य के पाठ के लिये लिखा गया था। बृहत् चरित्र कितना बड़ा है और उसमें क्या क्या लिखा है, इसका अभी पता नहीं चला है। इस मूल चरित में १ कवित्त, १ कुंडलिया, ८ छंद, ९ चौपाई, १९ सोरठा १२१ दोहा, १ रोला, और ४३१ तोटक हैं। रचना क्रम मे अधिकतर नव-पदियों का प्रयोग है, पर कहीं कहीं अष्टपदी और दस पदियों का भी प्रयोग किया गया है। कविता साधारणत. अच्छी और गाने योग्य है। बैसवारी शब्दों का अधिक प्रयोग है। अनुप्रास का प्रयोग भी अच्छा हुआ है; जैसे—(१) चित चेति चले चितकूट चितय, मन माँहि मनोरथ उपचय। (२) द्विजगेह में शारद देह धरी। रति रंग रमारस राग हरी। (३) छवि पाय छपाकर छंद छपै इत्यादि। अवधी भाषा में यह ग्रन्थ लिखा गया है। जोइय, पालव, मोर, लला, तोर, बतियाँ, गोहराइ, चलोरि आदि शब्दों का प्रयोग अधिकता से है। कहीं कहीं बड़े अनूठे शब्द आए हैं। जैसे—'सुलतान बड़ो रगरी' यहाँ रगरी का अर्थ रगड़ा करनेवाला, लड़ाका, झगड़ालू है।

(ग) गोस्वामी जी ने अपने सम्बन्ध में जो जो बातें विनयपत्रिका, कवितावली आदि में लिखी हैं, उन सब का सामञ्जस्य मूलचरित में दिए हुए वर्णन से पूर्णतया हो जाता है। उस सम्बन्ध में किसी प्रकार की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

(घ) गोस्वामी जी ने अपने गुरु का नाम स्पष्ट रूप से कहीं नहीं दिया है। केवल रामचरितमानस मे 'नर-रूप हरि' ये शब्द आए हैं जिससे यह अनुमान किया जाता है कि यहाँ उन्होंने अपने गुरु नरहरिदास का परोक्ष रूप से उल्लेख किया है। मूल चरित में उनके गुरु का नाम स्पष्ट

नरहर्यानन्द लिखा है। श्रीयुत बालकराम विनायक इस सम्बन्ध में विवेचन करते हुए नवलकिशोर प्रेस द्वारा प्रकाशित रामायण की प्रस्तावना में यह लिखते हैं—

"श्रीनरहर्य्यानन्द जी श्रीअनन्तानन्द स्वामी के एक सुयोग्य और प्रिय शिष्य थे, जैसा कि श्री गोसाईं-चरितकार बाबा बेनीमाधवदास जी लिखते हैं—'प्रिय शिष्य अनन्तानन्द हते। नरहर्य्यानन्द सुनाम छते।' यही नरहर्य्यानन्द जिनको नरहरिदास भी कहते हैं, गोस्वामी तुलसीदास जी के गुरु थे तथा उनके दादा गुरु श्रीअनन्तानन्दजी श्रीमद्यतीन्द्र रामानन्द स्वामी के द्वादश शिष्यों में मुख्य थे। बाबा बेनीमाधमदासजी की लिखी परंपरा की पुष्टि नाभा स्वामी भी करते हैं—यथा, योगानन्द गणेश करमचन्द अल्हू पैहारी। सारी रामदास श्रीरंग अवधि गुण महिमा भारी। तिनके नरहरि उदित मुदित महामंगल तन। रघुवर यदुवर गाय विमल कीरति संच्यो धन। हरिभक्त सिंधु बेला रचे पानिपद्मक सिर दिये। श्रीअनन्तानन्द पद परसि के लोकपाल से ते भये। अर्थात् श्रीनरहरिदास जी श्रीअनन्तानन्द के अष्ट शिष्यों में से थे। 'रघुवर-यदुवर गाय विमल कीरत्ति संच्यो धन' से स्पष्ट है कि वे श्रीराम-कृष्ण की कथा कहने के लिये प्रसिद्ध थे।......गोस्वामीजी की इस प्रकार स्पष्ट गुरुपरंपरा लिखनेवाले ये दोनों लब्धप्रतिष्ठ महात्मा बाबा बेणी-माधवदास एवम् श्री नाभा स्वामी उनके सम सामयिक थे। अतः उनका गोस्वामीजी के संबंध में कुछ लिखना परम प्रामाणिक एवं सर्वमान्य है।......श्रीअयोध्याजी के प्रसिद्ध रामायणी बाबा रामबालकदासजी ने अपने संपादित श्रीरामचरितमानस में यही परंपरा दी है—

श्रीरामनंदजी
|
श्रीअनंतानंदजी

श्री नाहर्य्यानंद जी	श्रीकृष्णदासजी पैहारी
गो॰ तुलसीदास जी	श्री अग्रस्वामीजी
	श्रीनाभा स्वामीजी

(ङ) इस मूलचरित के अनुसार गोस्वामी जी के बनाए चौदह ग्रंथ होते हैं, जो इस क्रम से बने—

(१) रामगीतावली—संवत् १८२८.

(२) कृष्णगीतावली—संवत् १६२८.

(३) रामचरितमानस—संवत् १६३१.

(४) दोहावली—संवत् १६४०.

(५) सतसई—संवत् १६४२.

(६) रामलला नहछू—संवत् १६४३.

(७) जानकी मंगल—संवत् १६४३.

(८) पार्वती मंगल—संवत् १६४३.

(९) हनुमानबाहुक—संवत् १६६९-१६७१. इस समय काशी में प्लेग था और मीन के शनिश्चर थे जो ज्योतिष के हिसाब से १६६९ से १६७१ तक रहे।

(१०) वैराग्य संदीपनी संवत्—१६७२.

(११) रामाज्ञा—संवत् १६७२.

बरवै रामायण, कवितावली तथा विनय पत्रिका का संवत् नहीं दिया है। बरवै के संबंध में यह ज्ञात होता है कि रहीम की कविता देखकर इसके लिखने की उनको इच्छा हुई। यह घटना संवत् १६६९ के लगभग की जान पड़ती है। विनयपत्रिका के संबंध में लिखा है कि काशी में

कलि से दुखी होकर उन्होंने यह विनय लिखी थी। यह घटना रामचरितमानस के बन चुकने से पीछे की है; अतएव इसका समय १६३३ से १६४० के बीच में रखा जा सकता है। कवितावली के बनने का कोई समय नहीं दिया है और न इसका कहीं उल्लेख है। एक स्थान पर लिखा है —

सीता वट तर तीन दिन, बसि सु कवित्त बनाय।

यदि इससे कवितावली का तात्पर्य माना जाय, तो यह रचना संवत् १६२८ और १६३१ के बीच की ठहरती है।

(च) अब तक यह अनुमान किया जाता था कि गोस्वामी जी की मृत्यु प्लेग के कारण हुई। परंतु मूलचरित से यह विदित नहीं होता। हनुमानबाहुक के एक कवित्त में यह लिखा है—

खाये हुती तुलसी कुरोगे राँड़ राकसिनि,
केसरी-किशोर राखे बीर बरिनाई है॥

इससे इस बात की पुष्टि होती है कि वे प्लेग से पीड़ित अवश्य हुए थे, पर हनुमानजी की कृपा से बच गए।

ऊपर जिन बातों का उल्लेख किया गया है, और जो कुछ विवेचन किया गया है, उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि बाबा वेणीमाधवदास का लिखा गोस्वामी तुलसीदासजी का चरित बहुत कुछ प्रामाणिक है और इसके आधार पर गोस्वामी तुलसीदासजी की एक अच्छी जीवनी तैयार की जा सकती है।

मुझे आशा है कि हिंदी साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान इन सब बातों पर विचार करेंगे, और इस 'मूल चरित' के संबंध में कोई निश्चित सिद्धांत स्थिर करेंगे जिसमें इस विषय का निर्णय हो जाय।

---

(१६) रामपुरा के चंद्रावत और उनके शिलालेख

[लेखक—श्रीयुत पं० शोभालाल शास्त्री, उदयपुर ।]

रामपुरा नामक कसबा इन्दौर राज्य में नीमच से करीब ४० मील पूर्व २४°२८′ उत्तर अक्षांश और ७५°७०′ पूर्व अक्षांश पर अवस्थित है कहते हैं कि चन्द्रावत शिवसिंहजी ने, जो १४ वीं शताब्दी में आँतरी में राज्य करते थे, रामा नामी एक भील को मारकर इस प्रदेश को अपने हस्तगत किया था और वहाँ नया नगर बसा कर उसे अपनी राजधानी बनाया; और रामा भील की वीरता को चिरस्मरणीय बनाने के लिये इस नगर का नाम रामपुरा रक्खा। यहाँ के प्राचीन राजभवनों, तालावों, बावलियों तथा अन्य इमारतों के देखने से विदित होता है कि यह नगर किसी समय परम रमणीय और समृद्धिशाली रहा होगा। अकबर के सेनापति आसफ खाँ ने सन् १५६७ के लगभग जब रामपुरा पर आक्रमण किया था, उस समय इसको "समृद्धिशाली नगर" कहकर वर्णन किया है* ।

इस प्रदेश के प्राचीन इतिहास के विषय में यद्यपि अब तक स्पष्ट रूप से पता नहीं चला है, तथापि स्थान स्थान पर जो प्राचीन भग्नावशेष उपलब्ध हुए हैं, उनसे अनुमान होता है कि सातवीं शताब्दी से लेकर

---

* उस समय रामपुरे में राव दुर्गभाणजी राज्य करते थे। इनके समय में इस नगर की बहुत ही उन्नति हुई थी। उस समय के रामपुरा के विषय में यह दोहा प्रसिद्ध है जिससे वहाँ के सौन्दर्य का अनुमान हो सकता है—

रामपुरो दुरगभाण को, देखत भाँगै भूख।
घर घर नारी पदमणी, घर घर चंदण रूख।

नवीं शताब्दी तक बौद्ध लोगों ने, जो उस समय हीन दशा में थे, यहाँ अन्तिम आश्रय लिया था। इस जिले में धामनेर तथा पोलाडूँगर नामक स्थानों में तथा आस पास के अन्य स्थानों में उन लोगों के बनाए हुए गुफा मन्दिर आज भी अवस्थित हैं। नवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक इस प्रदेश पर परमार राजपूतों का अधिकार रहा। ओरी नामक गाँव से परमारों का एक शिलालेख भी मिला है। चौदहवीं शताब्दी से यह प्रदेश शीशोदिया क्षत्रियों की चन्द्रावत नामक शाखा के रावों के हस्तगत हुआ ❀। कहा जाता है कि ये लोग मालवा के बादशाहों के अधीन थे।

❀ सीसोदियों की चन्द्रावत नामक शाखा का प्रादुर्भाव किन महाराणा से हुआ, इस विषय में अनेक मत हैं। इन्दौर स्टेट गजेटियर के कर्ता ने एक स्थान पर लिखा है कि यह शाखा चन्द्र से, जो उदयपुर के राणा साहब के द्वितीय पुत्र थे, निकली है। अन्य स्थान पर वही लिखते हैं कि यह शाखा चन्द्र से निकली है जो जयसिंह के द्वितीय पुत्र थे, और जयसिंह के लिये लिखा है कि अलाउद्दीन के आक्रमण के समय (सन् १२०३) चित्तौड़ के शासनकर्ता महाराणा लक्ष्मणसिंह के पूर्व पुरुष थे। एक ही ग्रन्थकर्ता का एक ही बात को दो स्थानों पर भिन्न भिन्न प्रकार से लिखना उस बात की सत्यता के विषय में सन्देह उत्पन्न करता है। इस विषय में मैंने रामपुरा के वर्तमान राव साहब सुम्मानसिंहजी से स्वयं बातचीत की; और उनकी ख्यात देखी तो उसमें लिखा है—सुचंद रावल के पुत्र चाँदाजी, उनके पुत्र बीरमाण जी, उनके आसपूरणजी और उनके चंद्राजी हुए, जिनके वंशज चन्द्रावत कहलाए। मेवाड़ के राजवंश में सुचंद नाम के किसी रावल का होना नहीं पाया जाता। संभव है कि नाम में कुछ परिवर्तन हो गया हो। बीकानेर दरबार के पुस्तकालय में फुटकर बातों के संग्रह की एक पुस्तक है जिसमें मुहणोत नैणसी की ख्यात का एक भाग भी है। उसमें चन्द्रावत शाखा के प्रवर्तक चन्द्राजी को राणा भावणसी (भुवनसिंह) का पुत्र लिखा है। संभव है कि भुवनसिंह का ही रूप बिगड़ कर सुचंद बन गया हो; क्योंकि "व" के स्थान में "च" पढ़ा जाना साधारण बात है; और "न" के आगे की खड़ी लकीर में कुछ टेढ़ापन आ जाने पर उसे "न्द" पढ़ लेना भी संभव है। इस अनुमान से यही सिद्ध होता है कि चंद्रावत शाखा के मूल पुरुष चन्द्रा

सन् १५१९ में मेवाड़ के महाराणा संग्रामसिंहजी (साँगाजी) ने मालवा के मुहम्मद खिलजी (द्वितीय) को पराजित कर बहुत सा प्रदेश अपने अधीन किया। उसमें रामपुरा भी सम्मिलित था। महाराणा उदयसिंहजी के समय सन् १५६७ में जब अकबर ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया था, तब उसने अपने सेनापति आसफ खाँ को रामपुरे की ओर भेजा था। उसने रामपुरा हस्तगत किया और तब से वह मुगल राज्य के अधीन रहा।

जी राणा भुवनसिंहजी के द्वितीय पुत्र थे। रामपुरा की ख्यात में चन्द्राजी प्रथम के बाद क्रमशः वीरमाणजी, आसपूरणजी और चन्द्राजी (द्वितीय) का नाम है और चंद्राजी द्वितीय को चंद्रावत शाखा का प्रवर्तक लिखा है। इनके बाद क्रमशः हालूजी तथा छाजूजी का होना और छाजूजी के कुँवर आलूजी का चित्तौड़ से निर्वासित किया जाना वर्णित है।

इनके निर्वासन की कथा इस प्रकार है—

एक बार कुँवर आलूजी चित्तौड़ के किले पर सूरजकुण्ड तालाब की पाल पर घोड़ा दौड़ा रहे थे। घोड़े के अचानक उछलने से कुँवर आलूजी की पगड़ी अपने स्थान से [illegible] गई जिससे क्रुद्ध होकर आलूजी ने नीचे उतर कर म्यान से तलवार निकाल घोड़े को वहीं समाप्त कर दिया। रामपुरा की ख्यात में इस घटना की मिती सं० १३०७ चैत सुदी १२ लिखी है। जब यह समाचार दरबार को विदित हुआ, तो इन्होंने यह कह कर कि "घोड़ा क्षत्रिय के लिये पिता के समान है, इन्होंने घोड़े पर तलवार चलाई है, सो ये पितृघाती के समान हैं; इनका मुख देखना उचित नहीं है।" इनके निर्वासन की आज्ञा दे दी। ये चित्तौड़ से निकल कर कई स्थानों में घूमते रहे। अन्त में इनके पुत्र शिवसिंहजी ने आँतरी पर अपना अधिकार किया। (आँतरी इन्दौर राज्य में परगना नारायण गढ़ जिला रामपुरा भानपुरा में एक छोटा सा गाँव है। कहते हैं कि शिवसिंहजी को यह गाँव तथा आस पास का देश मालवा के दिलावर खाँ गोरी ने, जो उस समय वहाँ का हाकिम था, जागीर में दिया था।) आनंद का किला मेरियों से छीना और रामा नामक भील को मारकर उसके अधिकार की भूमि हस्तगत कर वहाँ पर रामा भील के नाम से रामपुरा नामक नगर बसाया और उसे अपनी राजधानी बनाया।

मेवाड़ के महाराणा संग्रामसिंहजी (द्वितीय) ने फिर इसे अपने कब्जे में कर लिया। महाराणा संग्रामसिंहजी (द्वितीय) के पिता अमरसिंहजी (द्वितीय) की बहिन का विवाह जयपुर के महाराज सवाई जयसिंहजी के साथ इस शर्त पर हुआ था कि अन्य कुमारों के वर्त्तमान होने पर भी उदयपुर की राजकुमारी के जो कुँवर हो, वही राज्य का अधिकारी हो। इस विवाह से कुँवर माधोसिंह का जन्म हुआ था। माधोसिंह के पहले महाराज जयसिंहजी के ईश्वरीसिंहजी नामक एक पुत्र वर्तमान थे। माधोसिंह जी प्राय: अपने ननिहाल उदयपुर ही में रहते थे। महाराणा संग्रामसिंहजी द्वितीय ने खर्च के लिये इन्हें रामपुरा का परगना दिया था, और रामपुरा के राव को हिंगलाजगढ़ तथा अन्य गाँव जागीर में दिए थे। सन् १७४३ में महाराज जयसिंह का देहान्त होने पर माधोसिंहजी की अनुपस्थिति में ईश्वरीसिंहजी सिंहासनारूढ़ हुए। माधोसिंहजी ने उन्हें गद्दी से उतारने के लिये हुलकर की सहायता ली और ईश्वरीसिंहजी ने सेंधिया की। अन्त में ईश्वरीसिंहजी ने घबराकर आत्म-हत्या कर ली। माधोसिंहजी को जयपुर का सिंहासन प्राप्त हुआ। यद्यपि यह आकस्मिक घटना थी, हुलकर को इसके लिये कुछ प्रयत्न नहीं करना पड़ा था, तथापि उसने माधोसिंहजी से फौज का खर्च माँगा। उस समय उनमें इतनी शक्ति नहीं थी कि हुलकर से इनकार कर सकते। लाचार होकर राज्य का बहुत सा अंश उन्हें हुलकर के हवाले करना पड़ा जिसमें रामपुरा भी सम्मिलित था।

रामपुरा माधोसिंहजी को खर्च के लिये दिया गया था और उन्हें इसे हुलकर को दे देने का अधिकार नहीं था। रामपुरा के असली स्वामी चन्द्रावत सरदारों को यह सहन न हो सका। उन्होंने इसे फिर से प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करना प्रारंभ किया और लालसोट की लड़ाई के बाद सन् १७४७ में अपने हस्तगत कर भी लिया, परन्तु दूसरे ही वर्ष सिन्धिया ने फिर उस पर अपना अधिकार कर लिया।

सन् १८०४ से लेकर कुछ समय तक यह प्रदेश हुल्कर तथा अँग्रेजी फौज के युद्ध का क्षेत्र बना रहा। अन्त में यशवन्तराव हुलकर का इस प्रदेश पर अधिकार हो गया; परन्तु चंद्रावतों ने अपनी भूमि पुनः प्राप्त करने के वास्ते प्रयत्न बराबर जारी रक्खा, जिससे तंग आकर अन्त में सन् १८५२ में तुकोजीराव हुलकर ने रामपुरा दस हजार रुपए वार्षिक आय के अन्य ग्रामों सहित चन्द्रावतों को वापस देकर उन्हें शान्त किया, जो अब भी उनके अधीन है।

रामपुरा के वर्तमान राव खुम्माणसिंहजी हैं। ये बड़े ही उदार-हृदय और सरल प्रकृति के सरदार हैं। अपने पूर्व पुरुषों के वीरतापूर्ण कार्यों का अभिमान आज भी इनके हृदय में वर्तमान है। राव दुर्गभाणजी के बनाए हुए दुर्ग सागर नामक तालाब के किनारे इनके सुन्दर प्राचीन महल बने हुए हैं। रामपुरा कसबे पर यद्यपि इस समय इन्दौर का अधिकार है, तथापि यहाँ के लोग अब भी इनको अपना शासक ही समझते हैं और बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं।

शिलालेखों की प्राप्ति

सन् १९२३ में मुझे रामपुरा जाने का अवसर प्राप्त हुआ था। उस समय वहाँ के विशाल प्राचीन राजमहलों, सुन्दर जलाशयों तथा पुरातन भग्नावशेषों को देखकर मेरे हृदय में अनेकानेक भाव उत्पन्न होने लगे, जिन्हें इस समय क्रमशः लेखबद्ध करना असंभव है। उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानों प्रत्येक इमारत और उसका प्रत्येक पत्थर, जिन्होंने कई शताब्दियों के सुख और दुःख अनुभव किए हैं, अपनी घटनापूर्ण जीवनी लेकर उपस्थित है; परन्तु मुझ में उसे समझने की शक्ति का अभाव देखकर निराश हो रहे हैं। उनका इतिहास जानने के वास्ते मेरा चित्त आतुर होने लगा। मैं वहाँ के प्राचीन स्थानों और खँडहरों में घूम घूम कर उनका सूक्ष्म निरीक्षण करने लगा; और ईश्वर की कृपा से

उन्हीं स्थानों में मुझे एक एक करके चार शिलालेख प्राप्त हुए जिनसे मेरी जिज्ञासा कई अंशों में शान्त हुई।

उन्हीं शिलालेखों को समुचित टिप्पणी के साथ आज मैं पाठकों के सम्मुख उपस्थित करता हूँ।

पहला शिलालेख

इनमें सब से प्राचीन लेख राव चंद्रभाणजी के समय सं० १६६५ का है। यह रामपुरा कसबे के पश्चिम की ओर वादीपुरा महल्ले में पाथू शाह की बावड़ी में दाहिनी ओर की दीवार में लगा हुआ है। इसकी लम्बाई तीन फुट दो इंच और चौड़ाई एक फुट ग्यारह इंच है। लिपि आधुनिक देव नागरी है। इसके ऊपर की ओर दाहिने कोने का बहुत सा अंश पानी पड़ने से और खार से गल कर नष्ट हो गया है। इसी तरह नीचे की पंक्तियों में भी बहुत हानि पहुँची है। वहाँ का अंश इतना भुरभुरा हो गया है कि हाथ लगाने से पपड़ियाँ उखड़ आती हैं। प्रत्येक पंक्ति के पहले दो खड़ी रेखाएँ हैं। इसमें कुल ३१ पंक्तियाँ हैं। लेख की भाषा संस्कृत है और सारा लेख पद्यमय है। लेख के ऊपर की ओर जो खाली स्थान छोड़ा गया है, उस पर संवत् १६६५ पढ़ा जाता है। आगे कुछ और लिखा था, परन्तु वह अंश टूट जाने के कारण पढ़ने में नहीं आता।

इस के प्रथम श्लोक में गणेश और सरस्वती की स्तुति की गई है और जीवा के पुत्र की कीर्ति वर्णन करने की प्रतिज्ञा है।

दूसरे श्लोक के प्रारम्भ का अंश टूट गया है; परन्तु अवशिष्ट अंश से प्रतीत होता है कि इस में जैन तीर्थंकरों से पदार्थ (जीवा के पुत्र) की रक्षा के लिये प्रार्थना की गई है।

तीसरे और चौथे श्लोक का अभिप्राय यह है कि वैश्यों की साढ़े

बारह जातियों में श्रेष्ठ गोत्र* सब में उत्तम है, जिस में पदार्थ उत्पन्न हुआ था।

पाँचवें श्लोक से पंद्रहवें श्लोक तक पदार्थ और उस के छोटे भाई पाथू के वंश का वर्णन है जो इस प्रकार है—

"नाथू नामक एक धनवान् व्यक्ति था। उसका पुत्र सुहृय हुआ जिसने आमंद दुर्ग के राजा के पास रह कर धर्म, अर्थ और काम का सेवन किया था।" जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है, आनंद का किला शिवसिंहजी ने मोरियों से लिया था। आमंद के बाद यद्यपि रामपुरा चंद्रावतों की राजधानी बन चुका था, तथापि रामपुरा के रावों को उसी तरह प्राचीन राजधानी के नाम से "आमन्द दुर्गाधिपति" भी कहते थे, जिस तरह चित्तौड़ के बाद उदयपुर मेवाड़ की राजधानी बन जाने पर भी प्राचीन शिलालेखों आदि में उनको चित्रकूटाधिप कहा है†। अनुमान होता है उपरि-लिखित आमन्द दुर्गाधिपति राव अचलजी के पिता थे‡; क्योंकि आगे के श्लोक में उल्लेख है कि अचलजी ने योग को (जो सुहृय का छोटा भाई था) अधिकारी बनाया।

नवें श्लोक में लिखा है कि गुर्जर देश (गुजरात) का मुसलमान बादशाह जब भाग रहा था, तब योग को मेवाड़ की सन्धि पर पाकर उसका भय मिट गया, और उसने प्रताप को अपना रक्षक बनाया।

---

* इस गोत्र के लोग इस समय "सेठी" नाम से प्रसिद्ध हैं जो श्रेष्ठ का [illegible] बिगड़ा हुआ रूप है।

† वर्षे वह्नि वियन्मुनीन्दुगणिते माद्रे द्वितीयातिथौ
शुक्लायां कलधौतधोरणितुलां श्रीचित्रकूटाधिपः।
श्रीमत्कर्णमहेश्वरात्मज जगत्सिंहः क्षमारक्षिणे
मेवाड़े परमेश्वरस्यनिकटे सोऽयं द्विजायं व्यधात् ॥

महाराणा श्रीजगत्सिंहजी के समय की सं० १७०३ की अप्रकाशित प्रशस्ति।

‡ रामपुरा की ख्यात में अचल जी के पिता का नाम रायमलजी लिखा है।

यह गुजरात का बादशाह कदाचित् बहादुर शाह हो। बहादुर शाह ईसवी सन् १५३४ में चित्तौड़ के किले को विजय कर ही चुका था कि दिल्ली के बादशाह हुमायूँ ने सहसा उस पर आक्रमण किया। बहादुरशाह की छावनी को मुसलमानों ने चारों ओर से घेर लिया। यद्यपि उस की सेना में सुशिक्षित पोर्चुगीजों (पुर्तगाल के लोगों) की अधीनता में बड़ी बड़ी तोपें थीं जिनके कारण मुगल सेना उनके पास न पहुँच सकी, परन्तु फिर भी चारों ओर से घिर जाने के कारण भोजनसामग्री नहीं पहुँच सकती थी; इसलिये थोड़े ही दिनों के बाद बहादुर शाह को केवल पाँच साथियों के साथ छावनी से निकल कर भागना पड़ा। हुमायूँ ने उसका माँडू, चम्पानेर, अहमदाबाद और खंभात तक पीछा किया। संभव है कि जब यह हुमायूँ से भयभीत होकर भग रहा था, उस समय रामपुरा के राव प्रतापजी ने उसकी सहायता की हो। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, महाराणा श्रीसंग्रामसिंह जी के समय ही से रामपुरा पर फिर मेवाड़ का अधिकार हो गया था; और जब अकबर ने चित्तौड़ का किला लिया, तब तक इस पर मेवाड़ का ही अधिकार रहा। मेवाड़ के अधीन रह कर भी राव प्रतापजी चित्तौड़ के भयंकर शत्रु को सहायता दें, जब कि बूँदी के हाड़ा देवलिया के बाघसिंह जी जालौर के सोनगरा और आबू के देवड़ा तक चित्तौड़ की रक्षा के लिये अपने प्राण-विसर्जन करने को तैयार थे, यह समझ में नहीं आता। परन्तु क्षत्रियों में शरणागत की रक्षा का भाव बड़ा प्रबल होता है; और जब कोई उनकी शरण में आ जाता है, तब चाहे वह उनका घोर शत्रु ही क्यों न हो और भविष्य में उस से कितनी ही भयङ्कर हानि की संभावना क्यों न हो, वे उसकी सहायता करने में जरा भी आगा पीछा नहीं करते। इतिहास में इसके अनेक दृष्टान्त वर्तमान हैं। संभव है कि प्रताप जी ने भी इसी शरणागत-वत्सलता के भाव से प्रेरित होकर बहादुर शाह को सहायता दी हो।

दसवें श्लोक के प्रारम्भ का कुछ अंश टूट गया है; परन्तु अवशिष्ट भाग से इसका यह अभिप्राय मालूम होता है कि नाथू का दूसरा पुत्र योग था।

ग्यारहवें श्लोक मे उसके गुणो का वर्णन है और उसके एक चैत्यालय (जैन मन्दिर) बनवाने का उल्लेख है।

१२ से १४ श्लोक तक उस (योग) के पुत्र जीवा के दान का और चैत्यालय मे कुछ बनाने का उल्लेख है।

पंद्रहवें श्लोक में उसके पदार्थ और पाथू नाम के दो पुत्रो की दीर्घ आयु के लिये प्रार्थना की गई है।

१६ से ३२ श्लोक तक रामपुरा के राव प्रताप के पुत्र दुर्गभाण का वर्णन है ※। उसका सार यह है कि इनके राज्य में लोग बड़े ही पुण्यात्मा और सुखी थे। इन्होने कई यज्ञ और दान किए। बीसवें श्लोक में लिखा है कि दुर्ग नरेश ने मनोहर नगर (रामपुरा) में सुन्दर तालाब बनवाया। यह तालाब रामपुरा के दक्षिणोत्तर कोण मे अब भी वर्तमान है † और दुर्ग सागर नाम से विख्यात है। इसी के तट पर

※ लेख नं० २ में दुर्गभाण जी को अचल जी का पुत्र लिखा है और इस लेख में उन्हें प्रताप जी का पुत्र लिखा गया है। यह परस्पर विरोधी प्रतीत होता है; परन्तु रामपुरा की ख्यात देखने से यह विरोध निवृत्त हो जाता है। ख्यात से विदित होता है कि दुर्गभाणजी प्रतापजी के पुत्र (जैसा कि लेख नं० १ एक में लिखा है) और अचलजी के पौत्र थे। भोपाल की लड़ाई में राव अचलजी अपने पुत्र प्रतापजी सहित काम आए और अचलजी के बाद राव दुर्गभाण जी रामपुरा के उत्तराधिकारी हुए। राव प्रतापजी कुँवर-पन में हो लड़ाई में मारे गए थे; अतः रामपुरा की गद्दी उन्होंने प्राप्त नहीं की। राव अचलजी के बाद राव दुर्गभाण जी गद्दी पर बैठे, इसलिये उन्हें लेख नं० २ में अचल जी पुत्र लिखा है।

† मूल में "निज स्वामिपुरे" पाठ है जिसका अर्थ "स्वयं जिसका स्वामी है, ऐसे पुर में" भी होता है और "अपने स्वामी के पुर में" भी होता है। रामपुरे में इनका बनाया तालाब वर्तमान है; अत यहाँ पहला अर्थ ही लिया गया है। यह भी संभव है कि इन्होंने चित्तोड़ में अथवा अन्यत्र कहीं तालाब बनवाया हो।

रामपुरा के चन्द्रावत नरेशों के रमणीय प्राचीन प्रासाद बने हुए हैं जिन में अब उनके वंशज रहते हैं।

श्लोक २२ और २३ में लिखा है कि दुर्गभाण ने उज्जयिनी (उज्जैन) में पूर्व की ओर बहुत सा धन व्यय करके पिंगलिका नामक नदी को बाँध कर एक तालाब बनवाया, और रानी, राजकुमार तथा अनेक ब्राह्मणों के साथ वहाँ जाकर पिशाच मोक्ष नामक स्थान में सुवर्ण की तुला की और बहुत सा अन्न दान दिया।

२४ वें श्लोक में लिखा है कि दुर्गभाण ने दक्षिण दिशा में सौहिल्लक को जीतकर तथा उसके सेनापतियों को मार कर दिल्ली के बादशाह को कीर्तिशाली बनाया। सौहिल्लक से यहाँ अभिप्राय सुहेल खाँ से है जो अहमदनगर की सेना का अध्यक्ष था। सन् १५९७ में अकबर ने खानखानाँ को दक्षिण विजय करने के लिये भेजा। गोदावरी के तट पर सूपा के पास आष्टी नामक स्थान पर उसका सुहेलखाँ के साथ घोर युद्ध हुआ जिसमें खानखानाँ की विजय हुई*। इस युद्ध में दुर्गभाण जी भी उपस्थित होंगे और उन्हीं की वीरता से यह विजय हुई होगी, ऐसा ऊपर के लेख से प्रतीत होता है।

२५ वें श्लोक में लिखा है कि गुजरात का बादशाह मुदफ्फर अपनी विजय निश्चित समझता था, परन्तु ज्यों ही उसने दुर्गभाण की सेना का हाथियों से सुसज्जित अग्र भाग देखा, त्यों ही वह भाग गया।

२६ वें श्लोक में रामपुरा में १००० गोदान करने का और २७ वें श्लोक में मधुपुरी (मथुरा) में सूर्य ग्रहण के अवसर पर ब्राह्मणों को तेरह महादान देने का वर्णन है।

२९ से ३१ श्लोक तक का अभिप्राय यह है कि परोपकारी और उदार पदार्थ (योग का पौत्र और जीवा का पुत्र) दुर्गभाण के

---

* विन्सेन्ट स्मिथ कृत अकबर दी ग्रेट मुगल, पृ. २७०.

सन्मान का पात्र था। दुर्गभानु ने अपने सम्पूर्ण वैभव का अधिकार पदार्थ को दे रक्खा था और दिल्ली के बादशाह से बड़ा भारी सन्मान प्राप्त कर उससे प्राप्त किए हुए अनेक देशों का उपभोग करता था। राव दुर्गभानु जी बादशाह के पक्ष में रहकर बड़ी बड़ी लड़ाइयाँ लड़े थे। मालूम होता है कि अकबर ने उन्हें बड़ी इज्जत और जागीर भी दी थी।

३२ वें श्लोक में पदार्थ की प्रशंसा है; और ३३ वें श्लोक में लिखा है कि दुर्गभानुजी के पुत्र चन्द्रभानुजी ने पदार्थ को सम्पूर्ण राज्य के कार्य भार उठाने योग्य समझ कर सब मंत्रियों में मुख्य (दीवान) बनाया।

३४ से ३६ श्लोक तक दुर्गभानुजी के पुत्र चंद्रभानुजी की प्रशंसा है और उन्होंने जो म्लेच्छाधिप (मुसलमान बादशाह) पर विजय प्राप्त की थी और उसका नक्कारा तथा घोड़े छीन लिए थे, उसका वर्णन है; और लिखा है कि जिस दक्षिण दिशा में सूर्य का भी तेज मन्द हो जाता है, उसी दिशा में चन्द्र (चन्द्रमा और चन्द्रभानु) ने अपने प्रताप से शत्रुओं को जीत लिया। इससे प्रतीत होता है कि जिस म्लेच्छाधिप को चन्द्रभानुजी ने जीता था, वह दक्षिण का था। अनुमान होता है कि सन् १६०० में जब अकबर स्वयं दक्षिण विजय के लिये सेना लेकर गया था, तब उसके साथ राव चंद्रभाणजी भी रहे हों; और जिस म्लेच्छाधिप का ऊपर वर्णन हुआ है, वह खानदेश का बादशाह हो।

३७ से ४६ तक के श्लोकों का अभिप्राय यह है कि चन्द्रभाणजी से उत्तम अधिकार प्राप्त कर पदार्थ ने बहुत सा दान किया। तीर्थंकरों की भक्ति की, देवालय बनवाया और मन्दिर की प्रतिष्ठा के समय जो संघ एकत्र हुआ, उसका भोजन वस्त्र आदि से सत्कार किया। फिर उत्तम रथ में बैठकर दान देता हुआ दुर्ग सागर पर गया। वहाँ जलयात्रा कर उसने सौभाग्यवती स्त्रियों को वस्त्र दिए और लोगों को सुपारियाँ बाँट कर फिर अपने घर लौट आया। चार दिन तक चारों वर्णों को बिना रोक टोक के भोजन कराया, उत्तम मण्डप बना कर

होम किया और फिर संघ का विसर्जन किया। जीवा के (दूसरे) पुत्र* ने नगर से पश्चिम की ओर एक सुन्दर बावड़ी बनवाई जिसमें मनोहर झरोखे, पतली गलियाँ, विशाल दरीखाने (दीवानखाने) और मकान बने हुए थे। विक्रम संवत् (··········) वैशाख सुदी १२ गुरुवार को प्रतिष्ठा की गई। वेद के ज्ञाता ब्राह्मणों का सुवर्ण, गौ, वस्त्र आदि से सत्कार किया गया। जेता के पुत्र रामदास ने यह बावड़ी बनाई। भारद्वाज गोत्रीय दशपुरज्ञाति † ब्राह्मण केशव के पुत्र शंकर ने यह प्रशस्ति बनाई।

---

* मूल लेख में यही लिखा है कि जीवा के पुत्र ने बावड़ी बनवाई। उसमें नाम नहीं लिखा है, परन्तु बावड़ी पाथू शाह के नाम से विख्यात है; इससे अनुमान होता है कि यह जीवा के दूसरे पुत्र पाथू शाह की बनाई हुई होगी। इस अनुमान की पुष्टि एक और बात से भी होती है। श्लोक ४३ में लिखा है—'पूर्णीकृत्य सुदीर्घिकां च वितरन् वित्तं पदार्थाधिकं।' जिसका अभिप्राय यह है—पदार्थ से भी अधिक धन का दान करते हुए बावड़ी की समाप्ति की। इससे स्पष्ट है कि यह जीवा का पुत्र पदार्थ से भिन्न पाथू शाह ही है।

† इस समय भी रामपुरे में इस जाति के ब्राह्मणों के कई घर हैं। ये लोग "दशोरा" कहलाते हैं जो दशपुरज्ञाति का ही अपभ्रंश है। यह गुजरात के नागर ब्राह्मणों की एक शाखा है, जो दशपुर (मंदसौर) में जाकर रहने के कारण दशोरा कहलाने लग गई है। इस जाति में बहुत प्राचीन काल से शिक्षा का अच्छा प्रचार रहा है। कई बड़े बड़े विद्वान् और राजमान्य पुरुष इस जाति में हुए हैं। प्रसिद्ध विद्वान् केशव भट्ट उपनाम झोटिंग भट्ट, जिनकी गणना भारत के ९९ महावादियों में थी और मेवाड़ के महाराणा श्री लाखाजी की सभा में जिनका बड़ा आदर था, इसी जाति में उत्पन्न हुए थे। चित्तौड़ पर श्री समिद्धेश्वर के जीर्णोद्धार की ललित रचनामय विशाल प्रशस्ति बनानेवाले एकनाथ भट्ट भी दशोरा ही थे। महाराणा कुंभा ने सुप्रसिद्ध जयस्तंभ बना कर, महाराणा श्री रायमलजी ने एकलिंगजी के विशाल मन्दिर का जीर्णोद्धार करवा कर तथा उनकी महारानी जी शृंगार देवी ने घोसुंडी गाँव में बावड़ी बना कर अपने नाम को चिरस्मरणीय बनाने के हेतु सुन्दर अलंकार युक्त कविताओं में जिनसे प्रशस्तियाँ बनवा कर उक्त स्थानों में लगवाई थीं उन महेश भट्ट को भी इसी जाति ने जन्म दिया था। इनके अतिरिक्त महायाज्ञिक सोमनाथ भट्ट, मीमांसा

अन्त में उल्लेख है कि बौद्ध धर्म* के किसी वेत्ता ने यह प्रशस्ति लिखी। लेखक का नाम टूट गया है।

लेख नंबर १ में रामपुरा के रावों की जो वंशावली आई है, वह इस प्रकार है—

अचल
|
प्रताप
|
दुर्गभानु
|
चन्द्रभानु

बावड़ी बनानेवाले पाथू शाह की वंशावली यों है—

नाथू
├── सुहय
└── योग (राव अचल जी और प्रतापजी दोनों के समय में अधिकारारूढ़ रहा।)
    |
    जीवा
    ├── पदाथ (दुर्गभाणजी और चंद्रभाणजी के समय में मंत्री था।)
    └── पाथू (बावड़ी बनवानेवाला)

दूसरा शिलालेख

यह लेख भी राव चन्द्रभाणजी के समय का है। रामपुरा में एक प्राचीन कालीन भैरव का मन्दिर है। उसके पास ही एक विशाल

और साहित्य के असाधारण विद्वान् अत्रि, प्रौढ़ नैयायिक नरहरि भट्ट और पुरुषोत्तम भट्ट आदि इसी ज्ञाति में हो चुके हैं जिनकी विद्वत्ता से प्रसन्न होकर मेवाड़ के महाराणाओं ने कई ग्राम इन लोगों को दान दिए थे जो अब तक इनके वंशजों के अधिकार में हैं।

* इससे प्रतीत होता है कि उस समय तक भी बौद्ध यहाँ [illegible] वर्तमान थे।

मठ का भग्नावशेष है। उसी मठ में यह लेख दीवार के सहारे पड़ा था। अक्षरोंवाला भाग दीवार की तरफ था। किसी अन्य स्थान से लाकर यह यहाँ रखा गया है, ऐसा प्रतीत होता था। यह लेख असल में रामपुरा से दक्षिण में सास बहू की बावड़ियों में से सास की बावड़ी का मालूम होता है। दूसरी बावड़ी जो बहू की है, उसमें लेख नम्बर तीन लगाया गया है। इससे स्पष्ट है कि यह बावड़ी प्रभावती बाई की पुत्रवधू यमुना बाई की बनाई हुई है। सास की बावड़ी में इस समय लेख नहीं है। यह लेख एक फुट और १०३ इंच लम्बे और एक फुट ९१ इंच चौड़े काले पत्थर पर खुदा हुआ है। कुछ अक्षरों को छोड़कर शेष ठीक दशा में हैं। इसमें कुल पैंतीस पंक्तियाँ हैं। भाषा गद्यमय प्रचलित देशी है। रामपुरा के राव चंद्रभाण जी की स्त्री प्रभावती बाई ने जो माधोवाव नामक बावड़ी, प्रासाद (बड़ा मंदिर) बाग तथा देवल (छोटा मंदिर) का जीर्णोद्धार कराया था, उसी का इसमें वर्णन है।

प्रथम पंक्ति में "गणपतिकुलदेव्योः प्रसादात्" लिखा है। आगे का अंश टूट गया है। पंक्ति २—३ में १५४७ का अंक, उत्तरायण ग्रीष्म ऋतु, वैशाख मास, शुद्ध पक्ष, षष्ठी तिथि तथा पुष्य नक्षत्र का उल्लेख है जो जीर्णोद्धार की प्रतिष्ठा के समय के सूचक हैं। यह तो स्पष्ट है कि यहाँ पर १५४७ का अंक विक्रम संवत् का बोधक नहीं है; कारण कि एक तो लेख नं० १ से वि० सं० १६६५ में राव चन्द्र-भाणजी का वर्तमान होना सिद्ध है। उन्हीं चन्द्रभाणजी का वि० सं० १५४७ में भी वर्तमान होना असंगत प्रतीत होता है। दूसरे, लेख लिखे जाने के समय दिल्ली में सलेम शाहजी (सलीम उपनाम जहाँगीर) का राज्य करना और मेवाड़ में कर्णसिंहजी का राज्य करना लिखा है जो विक्रम संवत् १५४७ में बिलकुल असंभव है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह अंक शक संवत् का सूचक है। शक संवत् और विक्रम संवत् में १३५ वर्ष का अन्तर है। इस हिसाब से यह लेख १५४७ + १३५ =

१६८२ विक्रम संवत् का होता है। उस समय दिल्ली में जहाँगीर का और मेवाड़ में कर्णसिंहजी का राज्य होना भी यथार्थ है; क्योंकि जहाँगीर का राज्य काल वि० सं० १६६२ से १६८५ तक और महाराणा कर्णसिंहजी का राज्य काल वि० सं० १६७७ से १६८५ तक है। अतः १६८२ में दोनों के वर्तमान होने का उल्लेख सही है। प्रथम पंक्ति के जो अक्षर आते रहे हैं, उनमें वि० संवत् का अंक और "शाके" यह शब्द होगा, ऐसा अनुमान होता है।

पंक्ति ४ से ७ तक महाराज राव श्रीअचला जी, उनके पुत्र दुर्गभाणजी तथा उनके पुत्र चंद्रभाण जी का उल्लेख है जिनकी स्त्री प्रभावती बाई थीं। प्रभावती बाई के पिता के वंश का वर्णन इस प्रकार है कि मालवा के चौहान महाराज राव श्रीआनोजी हुए। उनके पुत्र राव चाँऊजी, उनके पुत्र राव लालो जी, उनके दो पुत्र जैतजी और अचलो जी, अचलोजी के दो पुत्र शेरखान जी और चंदोजी, और चंदोजी की पुत्री प्रभावती बाई थी। इसके बाद प्रभावती बाई के दो पुत्र कुँवर हरिसिंह जी और कुँवर रणछोड़दासजी तथा उन (प्रभावती बाई) के भाई चौहान श्याम जी और चतरभुजजी का नाम है। पंक्ति ११ से १५ तक रामपुरा में माधो वाव, बाग, देवल और प्रासाद के जीर्णोद्धार करने का, उन स्थानों पर उद्यापन करने का और उस अवसर पर बहूजी श्री खींचण अगरा बाईजी, आमंदगढ़ के शीशोदिया चन्द्रावत राव सुजाणसिंहजी तथा उनके पुत्र कुँवर हरिसिंहजी और उनके पुत्र कुँवर सबलसिंहजी तथा अमरसिंहजी के उपस्थित होने का वर्णन है। बहूजी खींचण अगरा बाईजी कौन थीं, इस विषय में दो विचार हो सकते हैं। एक तो यह कि ये प्रभावती बाई की सास अर्थात् राव चन्द्रभाणजी की माता और दुर्गभाणजी की पत्नी हों; दूसरा यह कि ये आमंद के राव सुजाणसिंहजी की माता हों। इन दोनों विचारों में दूसरा ही अधिक ठीक प्रतीत होता है; कारण कि यदि ये रामपुरा के

राव दुर्गभाणजी की स्त्री होतीं, तो इनके वास्ते "वहूजी" का शब्द न लिखा जाकर "मा जी" का शब्द लिखा जाता, जैसा कि लेख नम्बर ३ (जो आगे प्रकाशित है) में लिखा गया है। राजपूताने में, और खास कर मेवाड़ में राजवंश की छोटी शाखाओं की स्त्रियाँ ही वहूजी कहलाती हैं। चन्द्रावतों के पाटवी रामपुरावाले थे और आमन्द इनके छुटभइयों की जागीर में होना पाया जाता है। उद्यापन के अवसर पर आमन्द के राव सुजाणसिंहजी और उनके पुत्र कुँवर हरिसिंहजी तथा दो पौत्र कुँवर सबलसिंहजी और कुँवर अमरसिंहजी का उपस्थित होना ऊपर लिखा जा चुका है। सुजाणसिंहजी के नाम के पूर्व ही इनका नाम आया है; इससे इनका आमंद के सुजाणसिंहजी की माता होना निश्चित है।

पंक्ति १५ से २२ तक दिल्ली में पातशाह सलेमशाहजी का राज्य होना, चितौड़ के राज्य पर महाराणा अमरसिंहजी के पुत्र करणसिंह जी का उदयपुर में रह कर राज्य करना और रामपुरे में राव श्री चन्द्रभाणजी का राज्य करना वर्णित है; और लिखा है कि राव चन्द्रभाणजी की रानी चौहाण प्रभावती बाईजी ने बावड़ी, प्रासाद और बाग का जीर्णोद्धार किया जो पंचोली भूधर के पुत्र लखाजी के पुत्र गोरधनदास के हवाले में था *। जीर्णोद्धार के कार्य में धर्म उद्यापन सहित १००००) दस हजार मुदफ्फरी † खर्च हुए। जीर्णोद्धार का कार्य नैणवाहा गोत्र

---

* हवाला का अर्थ ऐसी जमीन है जिस पर हाकिमों का अधिकार नहीं होता और जमीन का स्वामी बगीचे के तौर पर उसमें खेती करवाता है। यह पंचोली गोरधनदास का हवाला होगा, जिसे लेकर प्रभावती बाई ने जीर्णोद्धार कराया होगा।

† यहाँ मुदफ्फरी से अभिप्राय उस चाँदी के सिक्के से है जिसे गुजरात के बादशाह मुजफ्फर प्रथम उपनाम जफर खाँ ने चलाया था। गुजरात के पास होने के कारण यह सिक्का मेवाड़ और उसके आस पास में भी चलने लगा।

के सूत्रधार अमरा के पुत्र सारंग ने किया, और शिलालेख भंडारी गोत्र के पंचोली गोरधदास ने लिखा।

इसके बाद पंक्ति २३ से २५ तक

आपदर्थे धनंरक्षेत् श्रीमतां कुत आपदः ।
कदाचित् कुपितो दैवः संचितंहि विनश्यति ॥

यह श्लोक अशुद्ध रूप में लिखा है। अन्त में गोरधन, लखमण, माधौ पंचोली, सुतरेवा सूत्रधार, सारंग और महेश के नाम लिखे हैं।

इस लेख के अनुसार प्रभावती बाई का वंश क्रम इस प्रकार है—

(मालवा के चौहान)
राव आनोजी
राव चाऊँजी
राव लापोजी
राव जैतसी — राव अचलोजी
(राव अचलोजी के पुत्र) शेरखानजी — चंदोजी
(चंदोजी की संतान) श्यामजी — चतुर्भुजजी — प्रभावती बाई

(रामपुरा के चंद्रावत)
राव अचलोजी
राव दुर्गभाणजी
चंद्रभाणजी

प्रभावती बाई + चंद्रभाणजी
हरिसिंहजी — रणछोड़दासजी

तीसरा शिलालेख

रामपुरा गाँव से दक्षिण में करीब आध मील की दूरी पर दो सुन्दर बावड़ियाँ बनी हुई हैं जो सास बहू की बावड़ियों के नाम से विख्यात हैं। इनके पास दो शिवालय भी बने हुए हैं जो इस समय बिगड़ी हुई दशा में हैं। इनमें से एक बावड़ी में एक शिलालेख सीढ़ियों पर पड़ा

हुआ मुझे मिला। इसका असली स्थान बावडी में उतरते समय दाहिनी ओर एक ताक में था, परन्तु ढीला होजाने के कारण वहाँ से नीचे गिर पड़ा जिससे अक्षरों को भी कुछ नुकसान पहुँचा है। मैंने इसे फिर अपने स्थान पर लगा देने के लिये इन्दौर राज्य के अधिकारियों से प्रार्थना भी की थी; परन्तु जब मैं दोबारा रामपुरे गया, तब उसे वहीं पड़ा हुआ पाया।

इसकी लम्बाई २ फुट ३ इंच और चौड़ाई २ फुट है और कुल २९ पंक्तियाँ हैं। इसका प्रारंभ से लेकर १५ वीं पंक्ति के प्रारंभ तक का भाग गद्यमय और संस्कृत मिश्रित स्थानीय भाषा में है और शेष अंश संस्कृत पद्यों में है।

लेख का वास्तविक भाग द्वितीय पंक्ति से प्रारम्भ होता है। प्रथम पंक्ति पीछे से लिखी हुई है जिसमें यह लिखा है—"बावड़ी के काम में उद्यापन सहित २५०००) रुपए लगे हैं पौराणिक।" यहाँ पौराणिक शब्द से किसी खास सिक्के से अभिप्राय होगा, ऐसा प्रतीत होता है। ऊपर लेख नं० १ में जीर्णोद्धार के कार्य में १००००) दस हजार रुपए मुदफ्फरी खर्च होने का जिक्र है जिससे अभिप्राय गुजरात के प्रथम मुसलमान बादशाह मुजफ्फर प्रथम उपनाम जफर खाँ के चलाए हुए सिक्के से है। इस सिक्के के चलने से पूर्व इस प्रदेश में जो सिक्का चलता रहा होगा, उसका नाम कदाचित् पौराणिक हो। बाद में दोनों प्रकार के सिक्कों का प्रचार साथ ही साथ रहा हो। इससे शक सं० १५४७ वि० स० १६८२ के लेख में मुदफ्फरी से और स० १६१५ के लेख में पौराणिक से हिसाब लिखा गया है। मेवाड़ में उदयपुरी और चित्तौड़ी रुपए बहुत समय से प्रचलित हैं। महाराणा भीमसिंह जी के समय से चाँदोड़ी रुपए का चलन प्रारम्भ हुआ और यही चलनी (Current) सिक्का माना जाने लगा। चित्तौड़ी और उदयपुरी रुपयों का जो लेन देन होता है, उसमें "उदयपुरी अथवा चित्तौड़ी जूनी

पंक्ति १४ में यह उल्लेख है कि रामपुरा से दक्षिण में बावड़ी, बाग और महारुद्र का प्रासाद बनवाया। बावड़ी का जल निर्मल है।

पंक्ति १५ से २७ तक प्रशस्ति का संस्कृत पद्यमय भाग है। इसमें ७ श्लोक हैं। प्रथम श्लोक में यह उल्लेख है कि विक्रम संवत् १७१५ माघ सुदी ५ शुक्रवार को हरिसिंह जी की भार्या ने शिवालय, बाग और बावड़ी की प्रतिष्ठा की। दूसरे श्लोक में अतुल बलशाली राव श्री रामसिंह जी, उनके पुत्र कल्याण जी (कला जी) और उनके पुत्र यशवन्त जी का वर्णन है। तीसरे श्लोक का कुछ अंश टूट गया है, परन्तु उसका ऐसा भाव मालूम होता है कि भगवान् की सेवा में तत्पर कछवाही कृष्णावती ने जिनको उत्पन्न किया, उन (यमुना बाई) ने सुन्दर सीढ़ियोंवाली यह बावड़ी बनाई। चतुर्थ श्लोक में लिखा है कि २५०००) पचीस हजार रुपए लगा कर प्रासाद, बावड़ी और बगीचा पुण्य-वृद्धि के लिये बनाया। पाँचवें और छठे श्लोक में जब तक पृथ्वी, स्वर्गंगा और सूर्य रहें, तब तक रामपुरा में·· ·· सिंह नृपति के विजयी होने की प्रार्थना की गई है। राजा के नाम में सिंह शब्द के पूर्व का भाग टूट गया है। परन्तु ऊपर के लेख से स्पष्ट है कि उस समय वहाँ राव अमरसिंह वर्तमान थे, इसलिये उन्हीं की विजय के लिये यह प्रार्थना की गई है। ७ वाँ श्लोक प्रशस्ति के रचयिता के विषय में है। इसमें का भी कुछ अंश नष्ट हो गया है, परन्तु जो कुछ अवशिष्ट है, उससे यह अभिप्राय निकलता है कि —"शंकर भट्ट नामक विद्वान् हुए; उनके पुत्र कल्याण हुए, उनके पुत्र हरिकृष्ण ने—" इसके आगे का भाग नष्ट हो गया है जिसमें "यह प्रशस्ति बनाई" ऐसा उल्लेख होगा, यह अनुमान होता है। यद्यपि इस लेख में हरिकृष्ण की जाति के विषय में कुछ नहीं लिखा है, परन्तु हरिकृष्ण को कल्याण का पुत्र और शंकर का पौत्र कहा है। यह शंकर और लेख नं० १ (पाथू शाह की बावडी का लेख स० १६६८) का कर्ता शंकर एक ही होगा, ऐसा अनुमान होता है। इन दोनों लेखों के समय में ५० वर्ष का

अन्तर है, जो पितामह और पौत्र में होना किसी प्रकार असंगत नहीं कहा जा सकता। यदि यह अनुमान सत्य है, तो कहना होगा कि इस प्रशस्ति का बनानेवाला भी दशोरा ब्राह्मण ही था।

पंक्ति २८-२९ बिलकुल नष्ट हो चुकी हैं, जिससे कुछ भी अभिप्राय नहीं निकलता।

इस लेख में जो वंशावलियाँ आई हैं, वे नीचे लिखे अनुसार हैं—

(रामपुरा के चंद्रावत) — प्रतापजी → दुर्गभाणजी → चंद्रभाणजी → हरिसिंहजी

(जोधपुर के राठौर) — राव रामजी → राव कलाजी → राव यशवंतजी

(मौहार के कछवाहा) — रावत करणजी → रावत श्रीरामजी → कृष्णावती

राव यशवंतजी + कृष्णावती → यमुना बाई

हरिसिंहजी + यमुना बाई → अमरसिंहजी

अमरसिंहजी → मोहकमसिंहजी, मुकुंदसिंहजा, रामसिंहजी, वैरिशालजी, अखेसिंहजी

(अखेसिंहजी →) गोपालसिंह जी
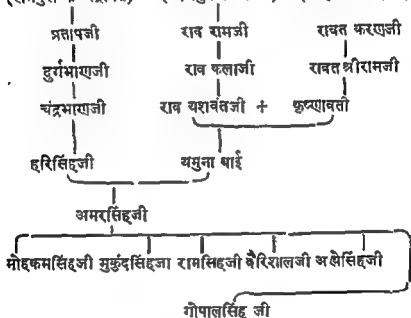
चौथा शिलालेख

यह लेख रामपुरा में मोहल्ला वादीपुरा के पास लक्ष्मीनारायण के मंदिर में सभा मंडप के बाहर बाईं ओर लगा हुआ है। इसकी चौड़ाई १ फुट ३ इंच और लंबाई २ फुट ८ इंच है। यह सारा लेख गद्यमय और बोल चाल की भाषा में है। इसमें कुल २७ पंक्तियां हैं। लेख का भावार्थ इस प्रकार है—

महाराजाधिराज महाराज श्री राव गोपालसिंह जी की आज्ञा से

कु० रतनसिंह देवड़ा, विजयसिंह जी, शाह जगन्नाथ तथा अन्य शुभचिन्तकों योग्य (सूचना है कि) देश में डोहली (ब्राह्मणों आदि को उदक में दी हुई जमीन) ऊपर टाँका (कर) लगा कर ब्राह्मणों के पास से धूमा* लिया। इस पर सब डोहलियों (डोहली के स्वामियों) ने हमारे पास अर्ज की और श्री जी (पहले के राव) का जो परवाना था, वह दिखलाया; तो भी धूमा ले लिया। सो लेनेवाले ने भूल की। अब हमने पौष सुदी १५ के चंद्र ग्रहण में धूमा की सब रकम रामार्पण करके छोड़ दी है। सो अब इन डोहलियों से जो हमारा शुभचिन्तक हो, वह कभी न माँगे। यह हमारा हुक्म है। उदकी (उदक अर्थात् जल हाथ में लेकर दान की हुई) वस्तु हमें नहीं लेना है। आगे भी बड़े रावों ने नहीं ली। अब भी जो राव दुर्गभाण जी, चन्द्रभाण जी के वंश का होगा, वह नहीं लेगा। आगे भी डोहलियों की रकम राव श्री अमरसिंह जी, राव श्री मोहकमसिंहजी ने श्री प्रयाग जी में छोड़ी है। वैसे ही हमने भी डोहलियों की धूमा, टाँका, वगैरह सब लागत छोड़ी है। सो जो कोई हमारे वंश का होगा या मुतसद्दी, हाकिम वगैरह होगा, वह डोहलियों से नहीं लेगा। अगर ले, तो उसे गधे गाल † है। जागीरदारों के लिये भी अर्ज पहुँची है कि हुक्म हुजूर का है; लेकिन जागीरदार डोहली लेने नहीं देते। सो हुक्म तो हमारा है। जो कोई रोक टोक करता हो, वह अब न करे। अब यदि कोई डोहली

---

* धूमा एक प्रकार का कर था जो प्रत्येक घर से वसूल किया जाता था। एक [illegible] घर में यदि भाई भाई अलग रह कर अलग रोटी बनाते, तो प्रत्येक से पृथक् पृथक् कर वसूल किया जाता था। जहाँ से धूआँ निकले (चूल्हा जले), वहीं से कर वसूल किया जाता था; इस कारण इसका नाम धूमा हुआ।

† "गधे गाल" शब्द की स्पष्ट व्याख्या करना उचित नहीं है। कई प्राचीन लेखों और सुरेओं के ऊपर इसी अभिप्राय की मूर्तियाँ खुदी हुई मिलती हैं जिन में एक गधे की मूर्ति और उस के पैरों में एक स्त्री की मूर्ति बनी हुई होती है। इसी से पाठक इस गाली का अभिप्राय समझ सकते हैं।

की रोक टोक करे, तो उसका गाँव खालसे किया जाय। लेकिन डोहली डोहलियों के पास रहेगी। हुक्म हुजूर का देवड़ा विजयसिंह जी और शाह सेपा। परवानगी (इजाजत) गुसाईं विजैपुरी और कायस्थ विजयराव की मिति माघ वदी ५ सं० १७५१ मुकाम धनवासीगढ़।

इसके आगे सुजानसिंह के बेटे लच्छमीराम गौड़ का नाम है। बाद में लिखा है—छाप देवड़ा विजयसिंह की दस्तखत शाह सेपा के साह रुघनाथ के। रज्जु (तसदीक) देवड़ा विजयसिंह की लि० का० (लिखी कायस्थ) मुकुंदराम रामपुरा का दफ्तर वैशाख सुदी १ की वही में दर्ज है संवत् १७५१ में।

इसके बाद "स्वदत्तां परदत्तां वा" आदि श्लोक लिखा है। अन्त में लिखा है कि श्रीजी (राव गोपालसिंहजी) के हुक्म और महाराज कुमार रतनसिंह जी तथा हाकिमों के हुक्म से श्रीलक्ष्मीनारायण जी के देवालय में यह बीजक लिखा गया और शिला पर गोकुल वरजन ने लिखा।

इस लेख में राव गोपालसिंह जी और उनके पुत्र रतनसिंह जी का नाम आता है। इसमें यह नहीं बतलाया गया है कि गोपालसिंहजी किस के पुत्र थे, परन्तु राव अमरसिंह जी और मोहकमसिंह जी का निर्देश इस में किया गया है; और लेख नं० ३ से स्पष्ट है कि राव अमरसिंह जी के पौत्र और मोहकमसिंह जी के पुत्र का नाम गोपालसिंह जी था। अतः ये गोपालसिंहजी मोहकमसिंहजी के पुत्र ही हैं, यह निर्विवाद सिद्ध है। इनके पुत्र रतनसिंह जी थे *।

इन चारों लेखों में रामपुरा के राव अचल जी से लेकर रतनसिंह जी तक की वंशावली अविच्छिन्न आई है, जो अलग दी गई है।

---

* कर्नल टॉड ने लिखा है कि रतनसिंह जी ने औरंगजेब की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिये अपना धर्म परिवर्तित कर लिया था। टॉड राजस्थान; भाग १; पृ० ३६९, (कलकत्ता)

रामपुरा की ख्यात में इनकी वंशावली इस प्रकार दी है—

भुचंड (भुवनसिंह जी)
|
चाँदाजी
|
वीरमाणजी
|
आस पूरणजी
|
चांद्राजी (चंद्रावत शाखा इन्हीं के नाम से हुई।)
|
हालूजी
|
छाजूजी
|
आलूजी (ये चित्तौड़ से निकाले गए थे।)
|
सेवाजी (शिवसिंहजी; इन्होंने आमंद का किला मीरियों से लिया और रामपुरा बसाया था।)
|
खेमाजी
|
जीनाजी
|
सजनजी
|
पूरणमलजी
|
शेषमलजी
|
हंसराजजी
|
रायमलजी
|

|
अचलजी
|
अरसिंहजी (इनका नाम लेख मे नहीं है ।)
|
प्रतापसिंहजी
|
दुर्गभाणजी
|
चंद्रभाणजी
|
नगजी
|
दूदाजी
|
हटेसिंहजी
|
हरिसिंहजी
|
अमरसिंहजी
|
मोहकमसिंहजी
|
गोपालसिंहजी
|
रत्नसिंहजी
|
संग्रामसिंहजी
|
फतहसिंहजी
|
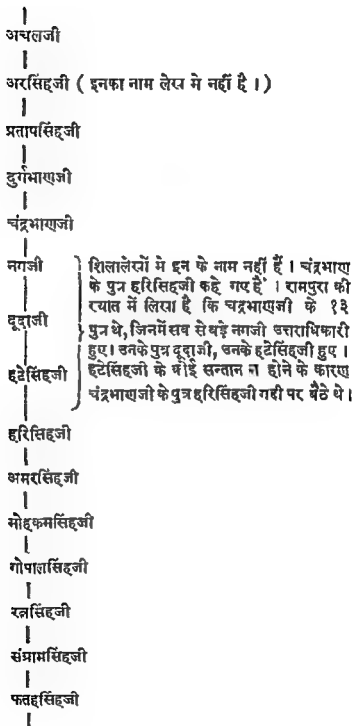
(नगजी, दूदाजी, हटेसिंहजी के विषय में:) शिलालेखों मे इन के नाम नहीं हैं । चंद्रभाण के पुत्र हरिसिंहजी कहे गए हैं । रामपुरा की ख्यात में लिखा है कि चद्रभाणजी के १२ पुत्र थे, जिनमें सब से बड़े नगजी उत्तराधिकारी हुए। उनके पुत्र दूदाजी, उनके हटेसिंहजी हुए । हटेसिंहजी के कोई सन्तान न होने के कारण चंद्रभाणजी के पुत्र हरिसिंहजी गद्दी पर बैठे थे।

॥१६॥ श्रीमत्प्रतापसूनौ दुर्गे नृपे भूपति [प्र] वरे ॥ राज्यं कुर्वति जाता—— ——पुण्यकारिणो मनुजाः ॥१७॥

पं० ११ ॥ श्रीदुर्गभानुः किल पुत्रपौत्रैर्ज्जीव्यान् सहस्रं [स्रं] स (श) रदां नरेंद्रः ॥ पतिं यमासाद्य नरेंद्ररत्नं राजन्वतीभूमिरियं विभाति ॥१८॥ दूषणारिपुरपः कृतवान् यो यज्ञदाननिवहैर्निजकीर्तिं ॥ साध————————लोक गविंवा अर्गला विरहितां

पं० १२ ॥ विपुलं विन् (?) ॥१९॥ निजस्वामि पुरे रम्ये श्रीमद्दुर्ग नरेश्वरः ॥ शुभं सरोवरं चक्रे सर्वलोक सुखावहं ॥२०॥ नयेन जित्वा नृपतीन बलाढ्यो नतांश्च चक्रे वशवर्तिनस्तान् ॥ दिगन्तभाजश्च दुराशयान् यो गृहीत देशान् विगत प्रभावान ॥२१॥

पं० १३ ॥ पद्माकरं कारितवान् हि प्राच्यां दिश्युज्जयिन्यां बहुसत्वजुष्टं ॥ यश्वा नदीं पिंगलिकां घनानि श्री दुर्गभानुर्वितरन् बहूनि ॥२२॥ कलत्र पुत्र द्विजवर्य संघैरुपेत्यतां पुण्य पिशाचमोच ॥ अर्चां करद्दुर्गनृपस्तुलां यो हिर–

पं० १४ ॥ रण्य दानं बहुचान्न दानं ॥ २३ ॥ श्री दुर्गभूपः किल दक्षिणस्यां लोहिल्लकं वारणदुर्निवारं जित्वाहवे सैन्यपतींश्च हत्वा ढिल्लीश्वरं कीर्तिपरं चकार ॥ २४ ॥ गुर्जर देशाधिपति मु (मुं दफ (षफ) रः स्वं जयं ध्रुवं मेने विलो–

पं० १५ ॥ क्य दुर्ग नृपते ना (र्ना) शीरं गज पुरस्स (रः स) रं भग्नः ॥२५॥ गोसहस्र महादानं विधवद्दीनवत्सलः ॥ दूषणारि पुरे दुर्गो ददौ कल्पद्रुमोपमः ॥२६॥ मघोःपुरीं प्राप्य जगत्पवित्रां सूर्योपरागे हि ददौ महान्वि ॥ दानानिचान्यानि त्रयो–

पं० १६ ॥ दशानि * (दश) श्री दुर्ग भूपोद्विज पुंगवेभ्यः ॥२७॥

---

* 'त्रयोदशानि" पद व्याकरण के नियमानुसार ठीक नहीं है; त्रयोदश होना चाहिए।

घात्रं.दयालुतां दानं विनयं धर्मरक्षणं.॥ विज्ञानं विष्णुभक्तिं च वर्णितुं तस्य कः.क्षमः.॥ २८ ॥ तस्य प्रमोदुर्गनराधिपस्य मान्याग्रणीर्मोह गुणो वदान्यः परोपकारैक-

पं० १७ ॥ निधिः पदार्थो (र्थः) प्रीत्या जनानंदकरः कृपालुः ॥२९॥ दयया दान मानाभ्यां नयेन प्रश्रयेण च ॥ पदार्थः प्राप्त संकल्पो (ल्पः) सर्व-लोकाश्रयो भवत् ॥३०॥ दत्त्वाधिकारं विपुले धनेस्वे सेवापरं दुर्ग नृपः पदार्थं ॥ ढिल्ली-

पं० १८ ॥ श्वरात्प्राप्त निजोरुमानो देशाननेकान् बुभुजे तदात्तान् ॥३१॥ विश्रामभूमिः किल सज्जनानां पदारथः पुण्य निधिर्गुणाढ्यः ॥ समाश्रिताः सत्फल माप्नुवन्ति निदाघतप्ता इव कल्पवृक्षं ॥३२॥ विविध मन्त्र प-

पं० १९ ॥ टुं हि पदार्थकं सकलकार्य धुरा धरणक्षमं ॥ हृदि विचिंत्य सुधा निधिसंज्ञिको (ज्ञकः) सकल मन्त्रि जनेश्वकरो द्विभुं॥३३॥ श्री मद्दुर्गनरेश्वरस्य तनयश्चन्द्रान्वय द्योतकश्चंद्रः क्षात्र गुणान्वितो निज-जनानंद प्रदं (दः) कांतिमान् ।

पं० २० ॥ संग्रामेतुरती विजित्य सहसा म्लेच्छाधिपं दुस्सहंनीत्वा दुंदुभि वाजिराजि मतनोत् कीर्तिजगद्विश्रुतां ॥ ३४ ॥ दिशिमंदायते यस्यां भानोर्भानु सहस्रकं ॥ तस्यामेव तु चन्द्रेण प्रतापैररयो जि-

पं० २१ ॥ ताः ॥ ३५ ॥ समरभूमिगतः सुतरां बभौनृपति पूजित दुर्गतनूद्भवः ॥ यवन सैन्यपती न [ह] नत्परान् विजयिवीर कुमार सम प्रभः ॥ ३६ ॥ इ (ई) दृग्विधा चंद्रमसोधिकारं लब्ध्वाविस्तेने विपुलंयशः स्वं ॥ देवाल-

पं० २२ ॥ यं तीर्थकृतां च भक्तिं कुर्वन् पदार्थो दयया च दानं ॥ ३७ ॥ देवोत्सवं तस्य जिनालयस्य दृष्टुं प्रतिष्ठावसरेहि संघः ॥ सन्मान भोज्य (ज्या) न्न दुकूल वस्त्रै (स्त्रैः) समर्चितः सद्वचनैरि-हाप्तः ॥ ३८ ॥ रथं विधाया मत्या-

लक्ष्मणसिंहजी
|
भवानीसिंहजी
|
मोहकमसिंहजी (२)
|
नाहरसिंहजी
|
तेजसिंहजी
|
किशोरसिंहजी
|
खुमाणसिंहजी (वर्तमान)

शिलालेखों के मूल का अक्षरान्तर

पहला शिलालेख

पंक्ति १ ॥ श्रीगणे शभारतीभ्यां नमः ॥नत्वादेवं विघ्नराजं गणेशं देवीं वाचं दिव्य सिंहासनस्थां ॥ जी [वा] सूनोर्वर्णयेहं विशालां कीर्ति लोके कल्पवृक्षा————— [१] —————रैः पूजित पाद-पद्माः

पं० २ ॥ सम्यक्———दर्शित मोक्षमार्गाः विद्वत्प्रियं पा (यां) तु पदार्थकं ते ॥२॥ सार्द्धं द्वादशजातयो निगदिता श्रेष्ठा विशां भूतले————————————————————॥————प्रथिता————
मनसां धर्मेस्वकीये स्थिता मि—

पं० ३ ॥ (ख्या) त्यादि विवर्जितानि निपुणा पण्ये स्थितानां शुभे ॥ ३ ॥ नेत्र वाणेषु गोत्रेषु श्रेष्ठिगोत्रं शुभं मतं ॥ तस्मिन्पदार्थको जातः सर्वगोत्र प्रकाशकः ॥ ४ ॥———————————
दानाधिगत प्रतीतिः ॥

पं० ४ ॥ व्यापारदक्षो निजबन्धुमुख्यः नाथू धनाढ्यः प्रथितः पृथिव्यां ॥ ५ ॥ तस्यात्मजो भूसुहय [। भिधानो] रत्नाकराच्छीत——————————॥ यथाजना——————————कीर्तिः ॥ ६ ॥ आमंद दुर्गा

पं० ५ ॥ धिपतिं प्रजानां दूरीकृताधिं सुनयेन दक्षं ॥ प्रभुं गुणाढ्यं समवाप्य शश्वत् धर्मार्थकामान् बुभुजे धिक श्रीः ॥ ७॥ अचल किलयोगसंक्षिकं——————————॥ अधिकारि पदे नियुं (यु)क्त

पं० ६ ॥ वान् निजकार्यक्षम * पाटवं ॥८॥ गुर्जरदेशाधिपतिः शकयो यं प्राप्य मेद पाट संधिरथं ॥ गत भीः पलायमानो (नः) शरणं यत्प्रतापसंक्षिकं कृतवान् ॥९॥——————————[ती] यः सुगुणाभिरामः ॥ यो–

पं० ७ ॥ गाभिधानो दशलक्षणे भूत्कृतप्रयत्नो निजधर्ममुख्ये ॥१०॥ दयापरः सत्यपरः कृतार्थो (र्थः) सत्पात्रदानेन सुगीतकीर्तिः ॥ चैत्यालयं सद्गुरुभक्तियुक्तो——————————:॥११॥ जीवाभिधस्तत्तनयो

पं० ८॥ बभूव स्वकीय धर्मेषु दृढ़ प्रतीतिः ॥ दयार्द्र भावो गुरुदेवभक्तो वंशाग्रणीर्बुद्धिमतांवरिष्ठः ॥१२॥ चैत्यालये वृद्धिकरं स्वकीये सदा शुभध्यानविधूत मोहः॥——————रिकं भव्यगुणं,चकार ॥१३॥

पं० ९ ॥ तदाश्रयात्प्राप्त समस्त कामो च (मश्च) तुर्विधं दानमदायतिभ्यः ॥ सत्पात्रदानेन कृपायुतेन प्राप्नोति लोके पदवीं च गुर्वी ॥१४॥ तस्यात्मजौ द्वौ विनयोपपन्नौ————न यस्याप्त समस्त——॥ या (ज्या) वान् पदार्थो सुजनिश्च

पं० १० ॥ पाथू दीर्घायुषौ तौ भवतां भवेस्मिन् ॥१५॥ श्रीमद्दुर्ग नरेशस्य कृतैक सुकृतस्य च ॥ वर्ण्यंतेतस्य राज्यंहि रामराज्योपमं शुभं

---

* यहाँ पर दो अक्षर लिखने में रह गए हैं जिनके लिये हंसपद चिह्न किया गया है; परन्तु ये अक्षर कहीं लिखे हुए नहीं मिले। कदाचित् "बुद्धिपाटव" पाठ हो।

॥१६॥ श्रीमत्प्रतापसूनौ दुर्गे नृपे भूपति [प्र] वरे ॥ राज्यं कुर्वति जाता—— ———पुण्यकारिणो मनुजाः ॥१७॥

पं० ११ ॥ श्रीदुर्गभानुः किल पुत्रपौत्रैर्ज्जीव्यान् सहस्रं [स्रं] स (श) रदां नरेंद्रः ॥ पतिं यमासाद्य नरेंद्ररत्नं राजन्वतीभूमिरियं विभाति ॥१८॥ दूषणारिपुरपः कृतवान् यो यज्ञदाननिवहैर्निजकीर्ति ॥ साभ्र——————————————लोक गर्विया अर्गला विरहितां

पं० १२ ॥ विपुलं वित् (?) ॥१९॥ निजग्रामि पुरे रम्ये श्रीमद्दुर्ग नरेश्वरः ॥ शुभं सरोवरं चक्रे सर्वलोक सुखावहं ॥२०॥ नयेन जित्वा नृपतीन बलाढ्यो नतांश्च चक्रे वशवर्तिनस्तान् ॥ दिगन्तभाजश्च दुराशयान् यो गृहीत देशान विगत प्रभावान् ॥२१॥

पं० १३ ॥ पद्माकरं कारितवान् हि प्राच्यां दिश्युज्जयिन्यां बहुसत्वजुष्टं ॥ यश्चा नदीं पिंगलिकां घनानि श्री दुर्गभानुर्वितरन् बहूनि ॥२२॥ फलत्र पुत्र द्विजवर्य संघैरुपेत्यवां पुण्य पिशाचमोक्ष ॥ अर्ची करद्दुर्गनृपस्तुलां यो हिर–

पं० १४ ॥ रण्य दानं बहुधान्न दानं ॥ २३ ॥ श्री दुर्गभूपः किल दक्षिणस्यां सोहिल्लकं वारणदुर्निवारं जित्वाहवे सैन्यपतींश्च हत्वा ढिल्लीश्वरं कीर्तिपरं चकार ॥ २४ ॥ गुर्जर देशाधिपति मु (मुं दफ (पफ) रः स्वं जयं ध्रुवं मेने विलो–

पं० १५ ॥ क्य दुर्ग नृपते ना (र्नी) शीरं गज पुरस्स (रः स) रं भयः ॥२५॥ गोसहस्र महादानं विधवदीनवत्सलः ॥ दूषणारि पुरे दुर्गो ददौ कल्पद्रुमोपमः ॥२६॥ मधोःपुरीं प्राप्य जगत्पवित्रां सूर्योपरागे हि ददौ महान्ति ॥ दानानिचान्यानि त्रयो–

पं० १६ ॥ दशानि ※ (दश) श्री दुर्ग भूपोद्विज पुंगवेभ्यः ॥२७॥

※ 'त्रयोदशानि" पद व्याकरण के नियमानुसार ठीक नहीं है; त्रयोदश होना चाहिए ।

ज्ञात्रं दयालुतां दानं विनयं धर्मरक्षणं ॥ विज्ञानं विष्णुभक्तिं च वर्णितुं तस्य कः क्षमः ॥ २८ ॥ तस्य प्रमोदुर्गनराधिपस्य मान्यामणीर्मोल गुणो वदान्यः परोपकारैक-

पं० १७ ॥ निधिः पदार्थो (र्थः) प्रीत्या जनानंदकरः कृपालुः ॥२९॥ दयया दान मानाभ्यां नयेन प्रश्रयेण च ॥ पदार्थः प्राप्त संकल्पो (ल्पः) सर्व-लोकाश्रयो भवत् ॥३०॥ दत्त्वाधिकारं विपुले धनेस्वे सेनापरं दुर्गे नृपः पदार्थं ॥ ढिल्ली-

पं० १८ ॥ श्वरात्प्राप्त निजोरुमानो देशाननेकान् बुभुजे तदाज्ञान् ॥३१॥ विश्रामभूमिः किल सज्जनानां पदारथः पुण्य निधिर्गुणज्ञः ॥ समाश्रिताः सत्फल माप्नुवन्ति निदाघतप्ता इव कल्पवृक्षं ॥३२॥ विविध मन्त्र प-

पं० १९ ॥ टुं हि पदार्थकं सकलकार्ये धुरा धरणक्षमं ॥ हृदि विचिंत्य सुधा निधिसंज्ञिको (ज्ञकः) सकल मन्त्रि जनेष्वकरो द्विभुं॥३३॥ श्री मद्दुर्गनरेश्वरस्य तनयश्चन्द्रान्वय द्योतकश्चंद्रः क्षात्र गुणान्वितो निज-जनानंद प्रदं (दः) कांतिमान् ।

पं० २० ॥ संग्रामेनुरती विजित्य सहसा म्लेच्छाधिपं दुस्सहंनीत्वा दुंदुभि वाजिराजि मतनोत् कीर्तिजगद्विश्रुतां ॥ ३४ ॥ दिशिमंदायते यस्यां भानोर्भानु सहस्रकं ॥ तस्यामेव तु चन्द्रेण प्रतापैरस्यो जि-

पं० २१ ॥ ता: ॥ ३५ ॥ समरभूमिगतः सुतरां यमौनृपति पूजित दुर्गतनूद्भवः ॥ यवन सैन्यपती न [ह] नत्पराव् विजयिवीर कुमार सम प्रभः ॥ ३६ ॥ इ (ई) दृग्विधा चंद्रमसोधिकारं लब्ध्वाविस्तेने विपुलंयशः खं ॥ देवाल-

पं० २२ ॥ यं वीर्थकृतां च भक्तिं कुर्वन् पदार्थो दयया च दानं ॥ ३७ ॥ देवोत्सवं तस्य जिनालयस्य द्रष्टुं प्रतिष्ठावसरेहि संघः ॥ सन्मान भोज्य (ज्या) न्न दुकूल वस्त्रै (स्त्रैः) समर्चितः सद्वचनैरि-ष्टाप्तः ॥ ३८ ॥ स्थं विधाया सत्या-

पं० २३ ॥ न तुल्यं तत्रोपविश्यार्य जनैः पदार्थः ॥ दानं ददत्पौर जनैः सहर्षैः शनैर्ययौ दुर्ग सरः समीपं ॥ ३९ ॥ यात्रां विधायाम्बुजलस्य दत्वा वस्त्राण्यनन्तानि सुवासिनीभ्यः ॥ पूगीफलानां निचयं जनेभ्यो (भ्यः) शृण्व-

पं० २४ [॥ न्] स्तुतिं प्राविशदालयं स्वं ॥ ४० ॥ धनाग्रकं वर्ण चतुष्टयेभ्यो (भ्यः) प्रीत्याददन्नित्य मवारिताग्नं ॥ कृत्वा शुभं मण्डपमत्र होमं संपूज्य संघं विससर्ज पूर्णं ॥ ४१ ॥ जीवा सूनुरकार्यन्निजकुले भास्वत्यशस्व-

पं० २५ ॥ ो रथ्या सौध श (स) भा गवाक्ष रुचिरां शस्ताकृतिं दीर्घिकां ॥ दूरादागत शर्मदां दृढ़ शिला बद्धां पुरात्पश्चिमे पूर्णं शीत-जलेन भव्यरचना सोपान पंक्त्यन्विताम् ॥ ४२ ॥ श्रीमद्विक्रम भूपिपस्य समयाद्बाणां

पं० २६ [॥]——न्मिते मासे राधसि वासरे गुरुयुते भास्वत्तिथौ चोज्वले ॥ विप्रान् वेदविदः सुवर्णं सुरभी वस्त्रादिभिस्तोषयन् पूर्णी-कृत्य सुदीर्घिकां च वितरन् वित्तं पदार्थाधिकं ॥ ४३ ॥ पेता सूनुः सूत्रधारो

पं २७ [॥]—ै शरताकारां दीर्घिकां रामदासः ॥ शिल्पं तस्या वीक्ष्य शिल्पी मनोज्ञं कश्चिच्चित्तेनादधातिस्म गर्वं ॥ ४४ ॥ भारद्वाज कुलो-द्भवो द्विजवरः श्रीकेशवः पुण्यकृत् वेद व्याकरणां गमार्थ नि-

पं० २८ [॥ पुणः]——————————-[॥] तत्सूनु सुधियां————सो पुण्यात्मजः शंकरोत (स्त) ज्जीवातनयस्य वै दशपुर ज्ञातिः प्रशस्तिं व्यधात् [॥ ४५ ॥ साहि] त्यार्णव पारगः सुचरितो गौसल्यगोत्रेभवद्धदेवः—

पं० २९ ॥——————————————मुकुन्दाभिधः [॥]——.

———————————————————

——————————[॥४६]——————————

———वरिष्ठो व्यर्लीलिखत् सौगत धर्मवेत्ता ॥ श्वेता——————

पं० ३०—[॥]———————————[॥ ४७]——————

——————————————————————

——————————————————————

——————————पदार्थस्य दयालुतां ॥ यस्यदेवेषु

पं० ३१—[॥]——————————————————

——————————————————————

——————————————————————

रामदास घटिता ॥ श्रीः ॥ छ. ॥१॥

दूसरा शिलालेख

पं० १॥——श्री गणेश कुल देव्योः प्रसादात्——————

पं० २ ॥१५४७ प्रव (व) र्तमाने उत्तरायणगते श्री सूर्ये श्री [ग्र ऋ] तौ महा मांगल्य प्रद वै-

पं० ३॥ शाष मासे शुक्ल पक्षे षष्ठयां तिथौ सोमवासरे पुष्य नक्षत्रे: ॥ श्रीः ॥

पं० ४॥ महाराज राव श्री अचलाजी तस्य पुत्र राव श्रीदुर्गभाणजी

पं० ५॥ तस्य पुत्र राव श्रीचद्रभाणजी तस्य भारया मालवा का चो०

पं० ६॥ हाण महाराज राव श्रीआनोजी तस्य पुत्र राव चाँडजी तस्य

पं० ७॥ पुत्र राव लाषाजी तस्य पुत्र राव जैतजो अचलाजी तस्य पुत्र

पं० ८॥ शेरखानजी चंदोजी तस्य पुत्री महाराज श्री घाई चौ-हाण प्रभा०

पं० ९॥ वतीजी. तस्य पुत्र कुँवर श्री हरिसिंघ जीः कुँवर श्री रणछोड़दा०

पं० १०॥ सजी तसि भीवा (तस्य भ्राता) श्री श्यामजी चत्रभुज जी रे बसाव लिपतो (?) गढ़ रा०

११

... पं० ११॥ मथुरा में मघो वाव उधरी तथा देवल उधरो: तथा बाग वाय प्रसार उध-

पं० १२॥ रो सकल जीगी उदापन कीधो: संजुगत वहुजी श्री पंचिरण अुगरावा-

पं० १३॥ ईजी राव सुजाणसँह [सिंह] जी पुत्री: [पुत्र] कुवर हरीसंघजी पुत्र कुवर श्री सबलसी-

पं० १४॥ घजी अमरसींघजी गढ़ आमद का चंद्रावत गोत सीसोदिया: दीली राजपा-

पं० १५॥ तसाह श्री सलेम साहजी चीत्रकूट राज वास उदेपु [र] राणा श्री अम-

पं० १६॥ रसींघजी तस्य पुत्र राणा श्रीकरणसींघजी रामपुर राज कर राव भींचं-

पं० १७॥ द्रभाणजी तस्या (स्य) राणी चोहाण प्रभावती बाईजी बावड़ी प्रसाद बाग

पं० १८॥ उधाखो: बावड़ी बाग प्रसाद हवाले पचोली सुधर सुत लपाजी तस्य

पं० १९॥ पुत्र पचोली गोरधदास को: । हवाली ईमारत उठी मुदफरी हजार दस

पं० २०॥ मु १००००) श्रम उच (या) धन सुधी परचो: सुत्रधार अमरा तस्य पुत्र सारंग गो-

पं० २१॥ त्र नैणवाहा लीपतं पंचोली गोरधदास भंडारी गोत्र संभु (शुभं) भवतु कल्याण

पं० २२॥ मस्तु: ॥ सीलोक: ॥ आपदा अरथो धन रछेतु श्रीमंतो कुत आपदा: कदा-

पं० २३॥ च कुपतो देवो: सचो ताप वीन सवो ॥१॥ हजूर चाटी लपमण गोरधन पास

पं० २४।। हरमौ—सुता हर पेरा का ।माधो पंचोली देवासुत—षा कुमठाई सूत्रधार सारंग महेस-

तीसरा शिलालेख

पं० १।। श्री बावड़ीके काम उद्यापन सुधां रुपैया २५०००) हजार पचीस लागा छै ।। पौराणिक-

पं० २।। श्री गणेश भारतीभ्यां नमः ।। संवत् १७१५ वर्षे शाके १५८० प्रवर्तमाने उत्तरायण गते श्री सूर्ये—

पं० ३।। महा मांगल्यप्रद माघ मासे शुक्ल पक्षे चतुर्थी गुरौ मंडपदिनं रात्रौ अधिवासनं च तथा च पंच—

पं० ४।। महाराजाधिराज महाराज श्री चंद्रावत वंशे बीजापायन (बैजवापायन) गोत्रे महाराजाधिराज महाराज श्री [म]

पं० ५।। तापजी तस्य पुत्र महाराजाधिराज महाराज श्री राव दुर्गभाणजी तस्य पुत्र महाराजाधिराज म [हाराज]

पं० ६।। श्री राव चंद्रभाण जी तस्य पुत्र महाराजाधिराज महाराज श्री हरीसिंहजी तस्य परमवल्लभा

पं० ७।। महाराजाधिराज महाराज श्रीराव अमरसिंहस्यमा [ता म] हा राजकुमार श्री मोहकमसिंहस्य च

पं० ८।। [मु] कुंदसिंह रामसिंह वेरीशाल अपेसिहस्य दादी कुंवर श्री गोपालसिंहस्य परदादी ।। तथा च राठौड़——

पं० ९।। [जो] धपुर सुस्थान वास्तव्य महाराजाधिराज महाराज श्री राव रामजी तस्य पुत्र राव श्री कला जी—

पं० १० ।। राव श्री यशवंत जी तस्य पुत्री ।। तथा कछवाहा वंशे मोहार राजधानी वास्तव्य महाराज श्रीरा [वत——

पं० ११ ।। करणजी तस्य पुत्र रावत श्री रामजी तस्य पुत्री बाई श्री कृष्णावती तस्य (स्या) गर्भे उत्पन्ना रावं प [—

पं०—१२ ॥ पितृकुल मर्तृकुल विशुद्धा गंगा जल निर्मला परम धर्मपरायणा श्री रमारमण श्री कृष्णचंद्र-

पं० १३ ॥ चरण परायणान्तःकरण महाराजाधिराज महाराज श्री माताबाई यमुनाजी श्री रामपुराथी द [क्षिण]

पं० १४ ॥ दशा की आडी या वावड़ी तथा बाग तथा महारुद्रजी को प्रासाद की या वावड़ी को जल अति निर्म-

पं० १५ ॥ ल श्रेष्ठ छै ॥ ॥ श्री मद्विक्रम भूमिभर्तृ समया द्वा [त्रिं] दु सप्तैक युग्वर्षे मासिवलक्ष पंचमितिथौ माघेन-

पं० १६ ॥ ये भार्गवे ॥ स्फूर्जच्छ्री हरिसिंहभूपललना चक्रेहि सोधा- पनं प्रासादं द्विजराजशेपर इतं वापीं तथा [बा]

पं० १७ ॥ टिकां ॥१॥ राव श्री रामसिंह: प्रबल बल युतस्तत्सुतः शौर्ययुक्तः कल्याणः कालरात्रिर्मनसिक——

पं० १८ ॥ तद्वेपिणां दोषमुक्तः ॥ तस्माज्जातो यशस्वी नरपति यश- वन्ताख्य राय प्रवीणः श्री मद्राठोड वंशांगणगगन-

पं० १९ ॥ रविर्ध्वस्त निःशेपशत्रु ॥ २ ॥ स्वच्छ श्री कच्छवाही विदित मुररिपूत्फुलपादारविन्द सेवा कृष्णावतीयं————————

पं० २० ॥—नादान सौभाग्य भूपा। वापीं सोपानपंक्ति द्युति मिलित जलोत्संग रंगत्तरंगां चक्रे शक्रेण सम्यग्विहित नु—

पं० २१ ॥——नां द्रष्टु मिच्छापि स्वच्छां ॥ ३ ॥ पंचविंशत्सहस्रं तु व्ययित्वा द्रव्यमुत्तमं ॥ प्रासाद वापिकारामं चक्रेसापुण्य वृ [द्धये]

पं० २२ ॥ ४ ॥ यावत्सप्तसमुद्रमुद्रित मही हीना सकामस्थिरा ? यावत्तुंग तरंगरंग चपला स्वः सिंधुरा बंधुरा ॥ तारा मंडल मं [डि-

पं० २३ ॥तो हि] भकचिर्मेरुर्महीमंडले यावद्भांतितरांकरा पर करस्योद्वेगहर्तुं सदा ॥ ५ ॥ तावद्ग्रामपुरे सदैव रुचिरे मा—

पं० २४॥————न्निर्ते पुण्यव्यूह पवित्रचित्र जनता पात्रे हितत्रासने ॥ मूजानिर्यद शेष शत्रुकरहि प्रोत्सर्पिदियोद्धुरः सिं [हः]

पं० २५॥————सिंह नृपतिर्जीयाज्जगद्वल्लटभः ॥६॥ भट्टः शंकर नामधेय विबुधः पुण्यैक वद्धस्पृहः नाना शा [स्त्र]——

पं० २६॥————णं सन्मानसः कल्याण (णो) द्विज-राजशेखर समो भट्टो भवत्तत्तोस्तत्पुत्रो हरिकृष्ण—

पं० २७॥————स्तोपर्णां समये चौंतरे देवडो सबलसिंहजी भार्या—

पं० २८॥————[भीम १] सी गत भग
————————

पं० २९॥————————चाकर ह—
————————

चौथा शिलालेख

पं० १ ॥ श्रीमहाराजाधिराज श्री राव गोपालस्यंघ जी वचना तु कुवर

पं० २ ॥ रतनस्यंघ देवड़ा वीजेस्यंघ जी साह जगनाथ तथा और ही शुभचिंतका जो·

पं० ३ ॥ म्य सु प्रसाद वंच्या अप्र देस में डोहली उपर टाकौ बाधे ब्राह्मना पास थी घु-

पं० ४ ॥ मो लीयौ तेकी म्हा हे सव डोहल्यां अरज पोहचाई जो श्री जी कौ प्रवानो छुट

पं० ५ ॥ कौ थो सुवतायो तोपन घुमो लीयो सुलेषावाला ने भुल कीधी अव म्हे पोस

पं० ६ ॥ सुदि १५ का चंद्र ग्रह में घुमा की रकम सव संकलपे रामारपन करे छौडी है सु अव

पं० ७ ॥ या डोहल्या पासथी म्हाकौ सुभचिंतक होय सु कदी मव मागौ यौ म्हाकौ हुक-

पं० ८ ॥ म है उदकी बसत कौ म्हां के नं लेनौ आगे पन बडा राबाने नू लीधो अर अब पए रा-

पं० ९ ॥ व दुरगभानजी चंद्रभांन जो का वंस कौ होसी सु न लेसी अब आगे पन डोह्-

पं० १० ॥ ल्या की रकम राव श्री अमरस्यंघ जी राव श्रीमोहकम-स्यंघ जी ने श्री प्राग जी

पं० ११ ॥ में छोडी है स्यु हि अब म्हे पन डोहल्या हे थान धुमौटा को सब लागट छोडी है ॥

पं० १२ ॥ सो जे कोई म्हां का वंस को होसी तथा मुतसदी हाकम होसी सु डोहल्या नपे थी न्ही

पं० १३ ॥ लेसी अर लेसी ते हे गाधे गाल है: अर जागीरदारा वासते पन अरज पोहची हुं-

पं० १४ ॥ कम हजूर कौ है पए जागीरदार डोहली न लेबा दे है सु धरम थो म्हा को है अब

पं० १५ ॥ कोई अटक करतो होय ते है मा कुछ कीजो अटकवा न पावै अठा आगे डोहली

प० १६ ॥ की दीकत करे तै को गाम पालसै कीजो पन डोहली डोहल्यां के साबत रहसीः ॥

पं० १७ ॥ हुकम हजूर देवड़ा बीजेस्यंघ जी साह सेपा प्रधाएगी गुसाईं त्रिजपुरी काइथ

पं० १८ ॥ मुयटराय मीवी माह वदि ५ पंचमी दीनै संवत् १७५१ ज्रीपै मुकाम बनासीगढ

पं० १९ ॥ चठकी लिखतं का लछीराम गोड सुजानस्यंध सुत

पं० २० ॥ छाप देवड़ा विजेस्यंघ जी की दसकत साह सेपा साह रुघनाथ का

पं० २१ ॥ रजु देवड़ा बीजेस्यंघ लि० का मुकटराम —
रामपुरा का दफतरा वेसाप सुदि १ री बइ-

पं० २२ ॥ साह जगनाथ मे दफतर में दापल सं०
१७५१ ब्रिधें

पं० २३ ॥ स्वदत्ता परदत्तां वा ये हरंति वसुंधरा।। ते नरा नरकं यांति
यावच्चन्द्रदिवा-

पं० २४ ॥ करौ ॥ श्री जी का हुकम माफिक तथा श्री महाराज
कुवार श्री रतनस्यंघ जी तथा हाक-

पं० २५ ॥ मा का हुकम सुं श्री लछमीनारायण जिक देवालेयौ
थीजक लिप्यौ

पं० २६॥ लीं० सिलावट गौकल उरजन कौ

पं २७॥ [लछ] मी [ना] राय [ण] जी का देहरा सूं यो थीजक
लिप्यौ श्री राम राम राम०

(२०) श्रीकृष्णचन्द्राभ्युदय

[लेखक—श्रीयुत पं० शिवदत्त शर्मा, अजमेर ।]

संस्कृत भाषा का प्रचार सैकड़ों वर्षों से कम होता जा रहा है। ऐसी अवस्था में विरले ही विद्वानों ने इस भाषा में नवीन ग्रंथो के निर्माण करने का श्रम किया है। पिछले सौ पचास वर्षों मे तो आर्य प्रजा की भक्ति प्राचीन धर्म और इस संस्कृत भाषा के प्रति, जिसमे कि उस धर्म के ग्रन्थ हैं, अति दुर्बल हो जाने से और "गो ब्राह्मण प्रतिपालक" मान पदधारी राजा महाराजाओं की ओर से सहायता का प्राय सर्वथा अभाव हो जाने से इस भाषा मे नवीन ग्रन्थों की रचना बहुत ही न्यून हुई है। ऐसे प्रतिकूल काल में जिन विद्वानों ने श्री शारदा माता के कोष की समृद्धि करने का प्रयत्न किया है, उनमें सौराष्ट्र प्रदेश के आशु कवि महामहोपाध्याय श्रीशंकर-लाल शास्त्री उच्च स्थान के भागी हैं। इन का जन्म आषाढ वदि ४ सं० १८९९ और विदेह ७४ वर्ष पश्चात् आषाढ सुदि १५ सं० १९७३ में हुआ था। इन्होंने रचना शैली में बाण की कादम्बरी के सदृश किन्तु आधुनिक समय के उपयोगी सदुपदेशो से परिपूर्ण "चन्द्रप्रभाचरित्" नाम की एक चमत्कृत आख्यायिका तथा दो और, एक तो "विद्वत्कृत्य-विवेक" और दूसरा "विपन्मित्र पत्रम्" नामक निबन्ध लिखे, और एक २१ सर्गो का श्रीबालाचरित् नामक महाकाव्य बनाया। इन्होंने व्या-करण में लघु सिद्धान्तकौमुदी की प्रयोगमणिमाला नामक साधन क्रमदर्शिनी टीका और अध्यात्मरत्नावली नामक अध्यात्म विद्या के उप-देशों से परिपूर्ण प्राकृत जनों के हितार्थ गुजराती भाषा में भी एक नि-बन्ध लिखा। इस गद्य पद्य रचना के अतिरिक्त इन्होंने सावित्रीचरित, ध्रुवाभ्युदय, अमर मार्कण्डेय, गोपाल चिन्तामणि विजय, भद्रायुर्विजय

और श्रीकृष्णचन्द्राभ्युदय नामक छः नाटक रचे। इस समय संस्कृत भाषा में भास के १३ और वत्सराज के ६ नाटक हैं। और कवियों के नाटकों की संख्या इनसे अधिक नहीं है। संस्कृत के सरस नाटकों की संख्या बढ़ाने में भी कविवर शङ्करलाल उच्च आसन के अधिकारी हैं। ऊपर गिनाए हुए ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने बहुत से लघु लेख भी लिखे। राजाओं और विद्वानों की प्रशंसा में अनेक श्लोक निर्माण किए और अपनी विद्या तथा कविता शक्ति के प्रभाव से इस देश के ही नहीं किन्तु विदेशों के मोक्षमूलर आदि विद्वानों से भी कीर्त्ति पाई। इनके कई ग्रन्थों का अनुवाद गुजराती भाषा में हो चुका है। ये मोरवी नगर के रहनेवाले थे। इनके पिता का नाम महेश्वर और गुरु का श्रीकेशव था। इन्होंने जामनगर में विद्याध्ययन किया और अपने ग्रन्थों में अपने गुरु का बड़ी श्रद्धा और भक्ति से नाम स्मरण किया है। ये आशुकवि थे और महामहोपाध्याय पदवी से सुभूषित थे। किसी अन्य अवसर पर हम इनकी संक्षिप्त जीवनी लिखने और इनके प्रत्येक ग्रन्थ का हिन्दी-प्रेमियो को अधिक परिचय देने का प्रयत्न करेंगे। इस समय इनके रचे हुए "श्रीकृष्णचन्द्राभ्युदय" नाटक के विषय में कुछ लिखते हैं। आशा है, इस से इन कविवर की कविता का तथा इनकी नूतन रचना की सामर्थ्य का पाठकों को कुछ न कुछ ज्ञान होगा।

उपर्युक्त नाटक के निर्माण होने का सूत्रपात इस प्रकार हुआ कि एक बार नवानगर के जाम कुलावतंस नरेन्द्र रणजीतसिंह जी और मोरवी महाराज प्रवास से लौटते हुए वीरमगाँव में साथ हो गये और रेल में वाँकानेर जंकशन तक साथ साथ यात्रा करते रहे। मोरवी नरेश ने विलायत यात्रा नहीं की थी और उनका रहन सहन विशेष रूप से प्राचीन शैली का था। उन्होंने बातों ही बातों में जाम साहब से कहा कि आप तो विलायत हो आए हैं। क्या वहाँ के परिचय से स्वधर्मा-चरण त्याग सा दिया? कंठी तिलक आदि आप के शरीर पर नहीं

हैं। जाम साहब ने उत्तर देते हुए कहा कि क्या आप कंठी तिलक धारण करने को ही धर्म समझते हैं ? मोरवी नरेन्द्र यह जानते थे कि जाम साहब यदुवंशी होते हुए शिव के उपासक हैं; अतः वे बोले कि आपने तो श्रीकृष्ण के वंश में जन्म लिया है; अतएव आपको भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की उपासना करना योग्य है। इस पर जाम साहब ने कहा-हाँ। आप का वचन सत्य है, परन्तु मैं उनकी भक्ति करता हूँ, जिनकी भक्ति स्वयम् श्रीकृष्णचन्द्र किया करते थे। मोरवी नरेन्द्र ने राजधानी में पहुँच श्रीशङ्करलाल शास्त्री को बुलवाया और उनसे पूछा कि क्या श्रीकृष्ण शिव की उपासना करते थे ? शास्त्रीजी ने कहा–हाँ, वे तो परम शिव भक्त थे; और अपने कथन की पुष्टि में महाभारत के एक प्रसंग का उल्लेख कर दिया। फिर कुछ दिन बाद शास्त्रीजी जामनगर पधारे और महामहोपाध्याय श्री हाथी भाई जी शास्त्री से मिले। वहाँ पर उक्त महाराजाओं के वार्त्तालाप की चर्चा आई। तब श्री हाथी भाई जी ने अपने मित्र से कहा कि बहुत लोग शास्त्रों के रहस्य से अनभिज्ञ होने के कारण शङ्का समुद्र में निमग्न रहते हैं। अतः आप ऐसा प्रबन्ध क्यों न रचें जिससे संसार में शान्ति का भंग करनेवाला यह हरि-हर का भेद भान उन्मूलित हो जाय। उन्होंने कहा कि अच्छा, मैं दश-रूपक के निदश किए हुए लक्षणों के अनुसार थोड़े ही समय में एक रूपक रच तो दूँगा, परन्तु इस प्रतिज्ञा पर कि आप उसकी युक्ति और श्रुति, स्मृति तथा पुराणों के प्रमाणों से पोषण करनेवाली व्याख्या लिखना स्वीकार करें। उन्होंने हामी भर ली। फिर क्या था। आशुकवि ने अनेक कार्यों में व्यस्त होते हुए भी एक वर्ष में ही यह श्रीकृष्णचन्द्राभ्युदय नामक रूपक रच डाला। तदनन्तर सरदार सर चीनुभाई माधवलाल बारोनेट सी० आई० ई० ने इस ग्रन्थ की हस्त लिखित प्रति का अवलोकन किया और इसकी सटीक छपाई का भार स्वीकार किया। परन्तु दैव संयोग से इसके मुद्रण का अथ भी नहीं हुआ था कि उनका

ऐहिक लीला की इति हो गई। तदनन्तर उनकी पातिव्रत-परायणा पत्नी सुलोचना तथा पुत्र गिरिजाप्रसादजी ने इसके मुद्रण में सहायता दी। परन्तु खेद का विषय है कि इस अभिनय यथानुकूल तथा भक्ति-परिपूरित ग्रन्थ का मुद्रण समाप्त होने के पूर्व ही इसके रचयिता म० मशङ्कर लाल शास्त्री भी कैलासवासी हो गए।

प्रथम अंक

यह नाटक इस प्रकार प्रारम्भ होता है कि एक दिन द्वारका में राज्य करते हुए भगवान् कृष्ण बिना किसी को कुछ पता दिए बहुत सबेरे उठ कर कहीं चले जाते हैं। रानियाँ उठ कर "भगवान् कहाँ चले गए" इस विषय का अनुसन्धान करने लगती हैं। भद्रा अनुमान करती है कि वे उद्धव के घर गए होंगे; परन्तु सत्यभामा कहती है कि मैंने वहाँ लीलावती को भेजा था। उसे वे नहीं मिले। ऐसे ही मित्रविन्दा उनका माता-पिता के महलों में होना अनुमान करती है; परंतु दूसरी रानी लक्ष्मणा कहती है कि वहाँ तो मैं स्वयम् देख कर आई हूँ। प्राणनाथ मुझे नहीं मिले। इसी प्रकार जब राहिणी, रुक्मिणी, जाम्बवती और कालिन्दी अपनी अपनी तर्कना कर चुकती हैं, तब सत्यभामा कहती है कि वे और कहीं नहीं चुपके से राधा के पास गए होंगे। रुक्मिणी इस साधिक्षेप वचन को पसन्द नहीं करती और बतलाती है कि जो सेवाएँ राधा ने की हैं, वे न मैं, न आप, न और कोई कर सकती है। वस्तुतः वह नर के रूप में अवतीर्ण परमात्मा की परा शक्ति है। सत्यभामा (सत्य है क्रोध जिसका) अपने संकेत के अनुसार शीलवाली होने से रुक्मिणी से नोक झोंक कर बैठती है, अतः जाम्बवती अति भूमिका को प्राप्त होकर इस अप्रसन्नकारी चर्चा को भुलाने के विचार से उन्हें और सब रानियों सहित स्वयम् श्रीकृष्ण के हाथ से लिखे हुए विचित्र चित्रों की ओर ले जाती है और वहाँ पर गौरीशङ्कर के भव्य विवाह मंगल

महोत्सव की भिन्न भिन्न घटनाएँ तथा शङ्कर द्वारा श्रीकृष्ण को रत्नजटित तलवार प्राप्त होना दिखलाती है। रुक्मिणी इन्हें देख कर कहती है कि प्राणनाथ की चित्र लिखने की कुशलता और शङ्कर के चरणारविंदों में भक्ति कितनी गहरी है! सत्यभामा कहती है कि जैसे इन्हें शिव के चरित् के अतिरिक्त अन्य चरित् लिखना अच्छा नहीं लगता, वैसे ही इन्हें शङ्कर को छोड़ अन्य विषय पर कविता करना भी अच्छा नहीं लगता। मित्रविन्दा और भद्रा यह कहती हुई कि हमने प्राणनाथ के रचे हुए "प्रसन्न-महेश्वर" और "श्रीमदपर्णापरिणय" नामक अलौकिक भक्तिरस भरे नाटक देखे हैं, अनुमोदन करती है। तदनन्तर रानी लक्ष्मणा कहती है कि चित्रों को देखते हुए पर्याप्त समय बीत चुका, परंतु अभी तक प्राण-नाथ नयनपथ के अतिथि नहीं हुए। बहनो! अब मेरा निश्चय सुनो। और वह यह है कि—

> यः कश्चित् करुणां विधाय करुणापीयूषपूर्णाशयं-
> प्राणादप्यधिकमियं प्रणयिनं पूर्णेन्दुरम्याननम्।
> श्रीकृष्णंनवनील नीरदनिभं सन्दर्शयेदद्य न-
> स्तस्मै हीरकहार मुत्तममिमं दास्यामि सत्यो मुदा॥

जो कोई दया करके दयासिन्धु प्राण प्यारे पूर्ण चन्द्रानन भगवान् कृष्णचन्द्र के दर्शन करावेगा, उसे मैं प्रसन्नतापूर्वक यह बहुमूल्य हीरों का हार दूँगी।

इस वचन की प्रतिध्वनि के समान तुरन्त नेपथ्य से सुनाई पड़ता है—

> हाराः सन्तु सहस्रशो मणिमयालङ्कारभाराश्च वा
> मत्ताः सन्तु मदावलाश्च हयश्चोच्चैःश्रवः सन्निभाः।
> एतैर्दर्शनगोचरी भवति किं श्रीकृष्णचन्द्रः प्रभु-
> र्भक्त्या प्रेमरसार्द्रया स नयनानन्दप्रदोऽनन्यया॥

हजारों हार और रत्नजटित आभरण, मदवाले हाथी और उच्चैः-

श्रवा के समान घोड़े क्यों न हों, पर भला कहीं इनसे वे श्रीकृष्णचन्द्र प्रभु, जो केवल प्रेम रसपूर्ण अनन्य भक्ति से प्रत्यक्ष होते हैं, लोचन-गोचर होंगे !

रुक्मिणी बोली से देवर्षि नारद का समीप होना समझ लेती है और श्रीकृष्ण का ध्यान करती है, जिससे आकर्षित हो वे भस्म रुद्राक्ष धारण किए हुए तुरंत वहाँ आ जाते हैं। अब प्रत्येक रानी उनसे उस दिन इतनी देर से महलों में पधारने का कारण पूछती है। इतने में नारद मुनि भी सामने आ जाते हैं और कृष्ण तथा उनकी धर्मपत्नियाँ सादर प्रणाम करती हैं और वे उन्हें आशीष देते हैं। तदनन्तर कृष्ण और नारद की गृहस्थ के सुख दुःख के सम्बन्ध की बात चीत होती है। फिर सत्यभामा पूर्व प्रसंग का स्मरण कराती है। इस पर कृष्ण कहते हैं कि आज शिवरात्रि है; अतः मैं ब्राह्म मुहूर्त में उठ समुद्र स्नान कर श्रीकुशेश्वर से लेकर द्वारावती तक के सब शिवलिङ्गों तथा प्रभास क्षेत्र में सोमनाथ का अर्चन कर १२१ ब्राह्मणों द्वारा महारुद्राभिषेक समाप्त करा, रैवताचल के शिवलिङ्गों का अर्चन करने जानेवाला था कि इतने में तुम्हारी प्रार्थना से आकर्षित हो परवश यहाँ चला आया। रुक्मिणी कहती है कि यह हमारा कैसा दुर्भाग्य है कि आप हमको छोड़ अकेले शिव पूजन करने चल दिए। सत्यभामा भी कहती है कि हम आपके पूजा के पात्र हाथ में लेकर साथ चली चलतीं, इसमें आपको क्या भार होता था ? हम तो यह व्रत करने के लिये आप की आज्ञा प्राप्त करने को उत्सुक बैठी थीं, क्योंकि धर्मशास्त्र का ऐसा निर्देश है कि पतिव्रता को व्रत करने के लिये पति की अनुमति लेना आवश्यक है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मेरे मन को आज यह जान कर परम हर्ष हुआ कि श्री साम्बसदाशिव के पदारविन्दों में तुम सब का अतुलित अनुराग है। मैंने तो केवल यह सोचा कि चित्त की वृत्तियाँ विचित्र हुआ करती हैं; और हठ से कराई हुई भक्ति से यथार्थ भक्ति-भाव पुष्ट नहीं हुआ करता।

इसी से मैंने किसी प्रकार की प्रेरणा करना उचित नहीं समझा। रानियाँ कहती हैं कि बिना गौरीशङ्कर की भक्ति किए आप जैसे पति का मिलना भला कब संभव था। कृष्ण शिव-भक्ति की महिमा वर्णन करते हैं। उनकी शङ्कर में ऐसी भक्ति देख नारद बहुत प्रसन्न होते हैं।

इस चर्चा के अनन्तर नारद मुनि अपने विश्व-विख्यात स्वभाव के अनुसार कुछ लीला फैलाते हैं। वे कहते हैं कि आपने कहा था कि जहाँ प्रेम-वैषम्य नहीं होता, वहाँ कलह नहीं होती। भला आप बताइए कि मेरा समर्पित किया हुआ पारिजात आपने रुक्मिणी को ही क्यों दिया? सत्यभामा अथवा जाम्बवती को क्यों न दिया? वे कहते हैं कि आप उसकी क्या चर्चा करते हैं। हमारे यहाँ प्रत्येक रानी के निवास-स्थान में समान रूप से पारिजात लगे हुए हैं। नारद कहते हैं कि यह साम्य सत्यभामा के प्रकोप का प्रभाव है, न कि आप के प्रेम का। श्रीकृष्ण अपने प्रेम साम्य की पुष्टि करने का प्रयत्न करते हैं और रानियाँ भी इस प्रसंग में सम्मिलित हो जाती हैं। अन्त में जाम्बवती कहती है कि हम वस्तुतः हाथी घोड़े रत्नादि वैभव साम्य, को साम्य नहीं गिनतीं; किन्तु जब सत्पुत्र-रत्नावली से समान समलंकृत हों, तब आप की साम्य दया दृष्टि समझेंगी। श्रीकृष्ण मन में कहते हैं कि इस न्यूनता का निवारण करना तो दुष्कर है। वे रानियों को समझाते हैं कि जिनकी आशीष से तुम मुझे और मैं तुम्हें वैभव रूप में प्राप्त हुआ हूँ, वही श्रीगिरिजा-पति अपुत्रों को पुत्रवान् बनाने में समर्थ हैं इसलिये आप मुझे वन में जाकर शिवाराधना करने की अनुमति दो। नारदजी की प्रेरणा से वियोग-विधुर हृदय हुई रानियाँ पति का तप निमित्त वन-गमन स्वीकार करती हैं और उठ कर श्रीकुशेश्वर के, जो द्वारका के स्थान देवता हैं, मन्दिर में शिवार्चन का आनन्द प्राप्त करने जाती हैं।

द्वितीय अंक

शिशुपाल अपने मंत्री दन्तवक्र से सविषाद कहता है कि छोटे से गोपाल बाल ने मेरे विश्व-विख्यात जरासन्धादि मित्रों को जीत लिया। रुक्मी को विरूप कर डाला और सुरक्षित रुक्मिणी को भद्रकाली के मन्दिर से हर लिया। ये घटनाएँ मेरे लिये कितनी लज्जास्पद हैं! मंत्री धैर्य देता हुआ कहता है कि जय पराजय परिस्थिति के अधीन हैं। मैंने सुना है कि अब जरासन्ध फिर से उद्योग कर रहे हैं। शाल्व भी इसी निमित्त तप द्वारा नीलकंठ को प्रसन्न कर रहा है। सहस्रबाहु बाण भी रात दिन शत्रु का छिद्रान्वेषण कर रहा है। ऐसी अवस्था में यदुओं का पराजय अवश्यम्भावी है। इतने में "यादवकन्दनान्द" नामधारी एक ब्रह्मचारी, जो वस्तुतः मायावी शम्बर असुर है, द्वारपाल की आज्ञा का उल्लंघन कर यंत्र शाला में अकस्मात् आ पहुँचता है और अपना परिचय देता हुआ कहता है कि मैं एक दिन यदुकुलाचार्य श्री गर्ग के साथ वसुदेव के निवासस्थान पर गया था। वहाँ वसुदेव ने श्रीकृष्ण के संतान न होने पर दुःख प्रगट किया। गुरुजी ने पुस्तकें देखकर कहा कि किसी ने संतानावरोध कर रखा है। इसलिये श्रीकृष्ण को तपोवन में जाकर रुद्रजप करना चाहिए। वंशवृद्धि, भय-निवृत्ति एवं आयुष्य वृद्धि का यही सर्वोत्तम उपाय है। *

मैंने यह विचारा कि एक कृष्ण इस लोक में अजेय हो रहा है। कहीं इसके सन्तान भी हो गई तो यह त्रिलोक-विजयी हो जायगा। मैंने गुरुजी से कहा कि आप शिरीषकुसुम सुकुमार कोमलाङ्ग कुमार कृष्ण को अति दुष्कर तपोवन गमन की आज्ञा दे रहे हैं। इतना सुनते ही गुरुजी मुझ से बिगड़ बैठे और मैं चुपके से भागकर यहाँ आया हूँ। इतना सुनते ही दन्त-

---

* अनपत्यादि दोषेषु महाभयभयेषु च।
आयुष्य वृद्धये चापि रुद्रो जाप्यो न संशयः॥

वक्र श्रीकृष्ण का तप भंग करने का बीड़ा उठाता है और शम्बर कहता है कि कृष्ण के सन्तान हो भी गई, तो रुक्मिणी के पुत्रों को तो मैं अवश्य सूतिकागार से चुराकर समुद्र में फेंक दूँगा। ये सब विचार करके सब लोग कार्य में संलग्न होने के लिये रवाना होते हैं। यहाँ पर विष्कम्भक समाप्त होता है।

वसुदेव और देवकी भगवान् शङ्कर की कृपा से प्राप्त हुए अतुलित वैभव की परस्पर चर्चा करते हैं; परन्तु पौत्र मुख-दर्शन की न्यूनता का सविषाद अनुभव करते हैं। इतने में श्रीकृष्ण नारद मुनि सहित वहीं चले आते हैं। वसुदेव देवकी सहसा उठ मुनिवर को प्रणाम करते हैं और कृष्ण निम्न लिखित शब्दों में माता पिता को अभिवादन करते हैं—

अदूरगमनं तीर्थं सुधावर्ष्यसुधाकरम्।
दैवतं चाऽतपस्तुष्टं पित्रोर्वन्दे दयेक्षणम्॥

आशय—जिस के लिये दूर जाने की आवश्यकता नहीं, ऐसी तीर्थ स्वरूप, बिना सुधाकर (चन्द्र) परन्तु सदा सुधा बरसानेवाली, बिना तप अनुष्ठान के ही प्रसन्न होनेवाली माता पिता की दाया-दृष्टि को सादर नमस्कार। नारद जी "पितरौ" सम्बोधन कर वसुदेवजी से वार्तालाप प्रारम्भ करते हैं; परन्तु वे "भयुक्त है, ऐसा कहना नितान्त अयुक्त है।" कहते हुए उन्हें रोक देते हैं। वे कहते हैं कि आप मान्यों के भी मान्य श्री ब्रह्माजी के पुत्र हैं। हम तो ब्राह्मण कुल के चरण कमल के रज परमाणु हैं। *हमारे प्रति "पितरौ" सम्बोधन नितान्त अनुचित है।* नारदजी कहते हैं—अजी मैंने माना कि ब्रह्मा भी मेरे पिता हैं, परन्तु उन के पिता नारायण हैं। वे नारायण साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्र हैं। उनके आप पिता हैं। फिर भला मैंने क्या अनुचित कहा था। ऐसे कुछ युक्ति प्रत्युक्तियों का प्रसार होता है और फिर नारदजी कहते हैं कि आपके पुत्र का जैसा परम रम्य वैभव देखा, वैसा न तो इन्द्र के स्वर्ग में न कुवेर की अलकापुरी में न वरुण की नगरी में। अधिक क्या कहूँ, चौदहो भुवनों

में भी कहीं नहीं देखा। वसुदेव ऊर्ध्व साँस लेकर कहते हैं कि फिर भी क्या। प्रमोद के अवसर पर ऐसा दीर्घ श्वास मन के प्रबल असन्तोष को प्रगट करता है। अतएव सविस्मय मुनिवर कहते हैं कि आर्य! अपने पुत्र के ऐसी अपरिमित विभूति होते हुए भी आपका मन संतोष को प्राप्त नहीं होता। इसका उत्तर वसुदेवजी निम्नलिखित शब्दों में देते हैं—

मान्य मुनीन्द्र!

> नवरत्नमयानि मन्दिराणि प्रमदाश्च शताश्रुतानि चेत्सा।
> अतुला विभवोऽप्यपाश्च किन्तैर्यदि दोला नहि बालकेलिलोला॥
> हसितेन्द्रगजा गजा यदि स्युर्विजितेन्द्रहरेरथा रथा अथाश्वाः।
> अतिलोत्तमवेगिनोऽपि तैः किं यदि दोला नहि बालकेलिलोला॥
> वसनाभरणानि दिव्यदिव्यान्यापि कोशा हसितवाल केशकोशाः।
> विलसन्ति गृहेषु चेन्ततः किम् यदि दोला नहि बालकेलिलोला॥
> विजितेन्द्रसभा सभागृहे चेत् प्रबलानीह बलानि दुर्जयानि।
> सुहृदः सुहृदश्च चेत् ततः किम् यदि दोला नहि बालकेलिलोला।
>
> इत्यादि।

आशय—सैकड़ों स्त्रियों से युक्त रत्नजटित महल और अतुलित ऐश्वर्य हो तो क्या, यदि वहाँ बालक्रीड़ा से हिलता हुआ पालना नहीं। ऐसे ही ऐरावत और सप्ताश्वों को मात करनेवाले वायु से भी अधिक वेगवाले हाथी घोड़े हों, उत्तमोत्तम वस्त्र और आभरण हों, कुबेर से भी कहीं अधिक कोश हो, इन्द्र सभा से भी बढ़कर सभा हो, प्रबल दुर्जय दुर्ग हो, सुहृद सुहृद हो, तो भी क्या, यदि वहाँ बालक्रीड़ा से हिलता हुआ पालना नहीं।

इस प्रकार वसुदेवजी पौत्र मुख मयंक दर्शन की अद्भुत स्पृहाकुलता प्रगट करते हैं और कृष्ण को शिवार्चन के लिये प्रेरित करते हैं। कृष्ण कहते हैं कि आपको विदित ही है कि मैं तो महेश्वर का पूजन

प्रति दिन करता हूँ। पानी भी तो बिना उनका नाम लिये नहीं पीता, भोजन करने की तो कथा ही क्या! फिर आपके इन वचनों का अवकाश कैसे मिल रहा है, यह समझ में नहीं आता। वसुदेवजी कहते हैं कि यह सब कुछ ठीक है, परन्तु सन्तान के उद्देश्य से तुमने शिवार्चन नहीं किया। अस्तु; कृष्ण इस आदेश को स्वीकार कर तपोवन जाते हैं।

तृतीय अङ्क

रानियाँ श्रीकृष्ण के बटुकाचल (बरडा) पर तप करने के लिये जाने के समय की अवस्था का स्मरण करती हुई वियोग की दुस्तर वेदना का अनुभव करती हैं। उनमें से कोई कहती है कि प्राणनाथ ने पीताम्बर त्याग मृदुल शरीर पर वल्कल धारण किया; मुक्तामाला उतार रुद्राक्ष माला पहनी; हरिचन्दन धो भस्मालेप किया, तब मुझे बड़ी व्याकुलता हुई। कोई कहती है कि वे जीर्ण शीर्ण पर्ण शय्या पर कैसे सोते होंगे। अपने हाथों से जल भर कर कैसे स्नान करते होंगे, क्या आहार पाते होंगे इत्यादि। रुक्मिणी कहती है कि अच्छा, जो हुआ सो हुआ। अब तो हमें वह उपाय सोचना चाहिए जिससे वे सिद्ध मनोरथ होकर शीघ्र दर्शन दें। अन्त में प्रमदवन में पर्णकुटी बना महेश्वर का आराधन करना ही एक मात्र उपाय विचार तुरंत देह गेह स्नेह बिसार साल, ताल, तमाल और हिन्ताल वृक्षों के नीचे वे वियोगिनी महायोगिनी बन बैठती हैं।

इधर गोकुल में राधा को स्वप्न होता है और वह ललिता, चन्द्रावली, विशाखा और लीलावती आदि सखियों सहित द्वारका को प्रस्थान करती है; और श्रीकृष्ण की विरह वेदना से मूर्च्छित रानियों को प्रमदवन में देख कंधे पर वीणा रख उनकी मूर्च्छा दूर करने के उद्देश्य से सखियों सहित श्रीमद्भगवत-यश का गान प्रारम्भ करती है—

भुवो भारं हर्त्तुं मफलमुपकर्त्तुं सुरकुलं
विहर्त्तुं गोपीभिर्निज हृदयरूपामिरिव यः।

विभर्त्तुं च स्त्रीयानजनि वसुदेवस्य सदने
स एव श्रीकृष्णो नयनपथ पान्थो भवतु नः ॥
इत्यादि ।

इस प्रेमपूर्ण मधुर गान के प्रभाव से रानियाँ सहसा नेत्रों को खोल वीणा-धारिणी राधा को ही श्रीकृष्ण समझ नमस्कार करती हैं; परंतु फिर सविवेक देखती हैं, तो उन्हें कोई शिल्पान्विता योगिनी सी सामने खड़ी दिखाई देती है। परंतु चित्रों द्वारा पूर्व परिचय से रुक्मिणी पहचान जाती है कि यह राधा ही है। वे परस्पर मिलती हैं। राधा अपने स्वप्न का वृत्तान्त कहती है और सब कष्ट निवारणार्थ गौरीशंकर की उपासना करती है। तब पार्वती प्रकट होकर कुछ समय पश्चात् श्रीकृष्ण की तपोवन की अवस्था का परिचय कराने की प्रतिज्ञा करती है।

चतुर्थ अङ्क

पूर्व निदेशानुसार रानियाँ एकत्र होती हैं और राधा के प्रार्थना करते ही पार्वती प्रकट होकर उन्हें दिव्य दृष्टि प्रदान करती है, जिसके द्वारा ये रैवताद्रि और उस पर व्याघ्रपाद मुनि के पुत्र परम शिवभक्त उपमन्यु के आश्रम को देखती हैं। वहीं पर उस समय श्रीकृष्ण भी आते हैं और नम्रतापूर्वक शङ्कर के आराधन का विधान पूछते हैं। मुनि उन्हें पश्चिमाब्धि की ओर वटुकाचल की उपत्यका में रम्य बिल्व कानन में जा लक्ष बिल्वपत्र और सहस्र कमल चढ़ा शतरुद्रीय विद्या द्वारा शिव पूजन का विधान बतलाते हैं। फिर श्रीकृष्ण वहाँ से विदा होते हैं और मार्ग में गजाधिरूढ़ स्त्री पुरुष दिखाई देते हैं। पार्वती बतलाती है कि ये तुम्हारे पति का परम दरिद्र मित्र सुदामा है। निष्प्रतिभ उदार कृष्ण ने इसे सालोक्य, सार्ष्टि और सारूप्य मुक्ति प्रदान की। वे इसे कैवल्य मुक्ति भी प्रदान करते थे; परंतु इसने उसका प्राप्त करना स्वीकार नहीं किया। इस पर इन्होंने इसके चित्त में कैवल्यनाथ श्रीकेदारनाथ की भक्ति उत्पन्न

कर दी। कुछ दूर चलकर श्रीकृष्ण और सुदामा का सस्नेह मिलापहोता है। सुदामा पत्नी भक्तानुरक्त श्रीकृष्ण के प्रति कृतज्ञता प्रकट करती है; परंतु वे कहते हैं कि मैं तो गुरु के यहाँ ईंधन लानेवाला चणक कणक भोजी था। जिन श्री शङ्कर की कृपा से मैं द्वारकाधिपति हुआ, उन्हीं की कृपा से तुमको यह वैभव प्राप्त हुआ है; अतः वे महादेव ही धन्यवादार्ह हैं। तदनन्तर सुदामा श्रीकृष्ण से नगरी में पधारने के लिये सानुनय एवं सानुरोध प्रार्थना करता है और स्वयम् उनके सन्तानार्थ तप करने को उद्यत होता है। वे कहते हैं कि आप परम शिव-भक्त हैं। आपने अपने तपोबल से केदारनाथ को केदार कुंड सहित सुदामापुरी में ला पधराया, परंतु मैं गुरुजनों की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता। मुझे स्वय तप करना अत्यावश्यक है। अस्तु, श्रीकृष्ण विदा होते हैं और सुदामा अपनी पत्नी को राजधानी में भेज उसे सप्रेम प्रजा का पालन करने की शिक्षा दे स्वयं श्रीकेदारनाथ के स्थान पर जा मित्र वंश वृद्धयर्थ तप करना प्रारम्भ करता है। इसके आगे रानियाँ कृष्ण को तप करते हुए देखती हैं। वे शिवजी पर सहस्र कमल चढ़ा रहे है, परंतु एक न्यून हो जाता है। यह शम्भर की हतफेरी है। कृष्ण निराकुल हो तुरत अपना एक नेत्र शङ्कर की भेंट कर देते है जिससे प्रसन्न हो शिव प्रकट होते हैं और प्रत्येक रानी के १० पुत्र और १ पुत्री होने का आशीर्वाद देते हैं। पार्वती भी उन्हे कई वरदान देती है और प्रसन्नचित्त पति सहित कैलास को पधारती है।

पंचम अङ्क

सुदामा और उसकी स्त्री सुशीला दोनों समाधि लगाए बैठे हैं। महेश्वर उन्हें दर्शन दे वरदान माँगने को कहते हैं। वे "कृष्णचन्द्र की मनोकामना पूर्ण हो" ऐसा वर माँगते हैं। इतने में आकाश मार्ग से कृष्ण भी वहीं आ जाते हैं और अपने मित्र को इस अवसर पर शिव से कैवल्य मुक्ति माँग लेने की प्रेरणा करते हैं। शिव यह जानकर कि यह समदर्शी

है अर्थात् हरि-हर के अभेद भाव से भक्ति करता है, इष्ट वर प्रदान करते हैं। तदनन्तर शिव की दयालुता की चर्चा कर कृष्ण सुदामा की राजधानी में प्रवेश करते हैं।

इधर महाराज युधिष्ठिर यह सुनकर कि श्रीकृष्ण की रानियाँ सगर्भा हैं, भीमसेनादि के साथ एक पत्र और बहुमूल्य वस्त्रालङ्कारादि भेजते हैं। वे लोग द्वारका आकर वसुदेवजी से मिलते हैं। इतने में दासी पुत्र जन्म महोत्सव की सूचना देती है और तुरंत ब्राह्मणों को गो सुवर्ण भूमि वसनादि दान दिए जाते हैं और कैदियों के अभाव के कारण लीला-विहङ्ग शुक सारिकादि मुक्त की जाती हैं।

कुछ समय पश्चात् भद्रशीला दासी सखेद निवेदन करती है कि रुक्मिणी के महल से कोई कुमार को चुराकर ले गया। उग्रसेन, वसुदेव, अक्रूर और उद्धव उसी घड़ी अन्वेषण करने में संलग्न होते हैं; परंतु कृष्ण उन्हें इस श्रम से रोक भीमसेन, अर्जुन, सात्यकी और कृतवर्मा को इस कार्य के लिये नियुक्त करते हैं। बलभद्र इस दुर्घटना से विशेष व्याकुल होते हैं, परंतु कृष्ण यह कहते हुए कि जो कुछ होता है, वह महेश्वर की इच्छा से होता है, निराकुल रहते हैं। इस कुमार को चुरानेवाला मायावी शम्बर है। वह उसे समुद्र में डाल देता है। परंतु दैवयोग से वह मछली के पेट में जा पड़ता है जो कैवर्त द्वारा शम्बरपुर पहुँच दासी मायावती से जो वस्तुतः रति है, काटी जाती है। उससे सुकुमार कुमार प्रकट होता है और उसी घड़ी आकाशवाणी कहती है कि यह तेरा पति है। तू इसे पाल पोस और माया सिखा।

इधर जाम्बवती का पुत्र साम्ब स्वयम्बर में दुर्योधन की पुत्री लक्ष्मणा को जीत द्वन्द्व युद्ध में विरोधियों को परास्त कर घर आता है। रुक्मिणी तथा कृष्ण इस घड़ी अति प्रसन्न होते हैं। परंतु जाम्बवती उदास होकर कहती है कि आप जैसे हमारे पति, शिव और पार्वती जैसे करुणागार देवी देवता होते हुए भी श्रीमती रुक्मिणी का पुत्र अभी तक

न मिल सके, यह कितनी लज्जा और आश्चर्य की बात है। कृष्ण इसके स्नेह सौहार्द सान्द्र-हृदयत्व, परदु:खदर्शन असहिष्णुता तथा सपत्नी में अकृत्रिम प्रेम प्रावल्य देख चकित हो जाते हैं। अन्त में वे इस मनोरथ सिद्धि का एक मात्र उपाय शिवाराधन बतलाते हैं। तदनन्तर सब परम अनुराग से वहाँ शङ्कर की उपासना करते हैं, जिसके वशीभूत हो वे पार्वती सहित प्रकट हो उनसे कहते हैं कि पार्वती के विवाह के समय रति ने मेरी भक्ति कर पुनरपि पति से संयुक्त होने का वर माँगा था। रति ने तत्पश्चात् मायावती के रूप में जन्म ग्रहण किया। तुम्हारे कुमार ने शम्बर से युद्ध कर उसके प्राण तथा सर्वस्व हरण कर अपूर्व विजय प्राप्त की। कामदेव ही ने वस्तुतः तुम्हारे यहाँ जन्म लिया था और यह दम्पति अब तुम्हारे सम्मुख उपस्थित है। इस शुभ क्षण पर आनन्दाम्बुनिधि की सीमा नहीं रहती। सब के सब इन्द्रजाल के दर्शन के समान चकित हो जाते हैं। शङ्कर का प्रसाद यहीं पर समाप्त नहीं होता। वे सुदर्शनाख्य चक्र समर्पित कर आशीर्वाद दे विदा होते हैं और नाटक समाप्त होता है।

पाठकों को भले प्रकार विदित हो गया होगा कि कवि ने कैसी उत्तमता के साथ कृष्ण को शिव भक्त सिद्ध कर दिखाया है। इस ग्रन्थ में प्राकृत भाषा नहीं लिखी गई है, न कोई विदूषक है। फिर भी स्थल स्थल पर चटकीले आविष्करणों के कारण पढ़ते समय प्रमोद की न्यूनता अनुभव नहीं होती। भक्ति रस का तो कहना ही क्या। वस्तुतः यदि पढ़नेवाले को यह विदित न हो कि यह ग्रन्थ कब और किसने बनाया, तो वह अवश्य इसे सैकड़ों वर्ष पूर्व किसी बहुत बड़े कवि द्वारा रचा हुआ बतलावेगा। श्रद्धेय महामहोपाध्याय श्री हाथी भाई जी शास्त्री ने भी इसकी "ज्योत्स्ना"नामक टीका बहुत श्रम और स्नेह से लिखी है। रूपक सम्बन्धी भावों को समझाने के अतिरिक्त इस ग्रन्थके प्रतिपाद्य विषय के पुष्ट करनेवाले विविध शास्त्रों के नाना प्रमाणों का सन्निवेश कर सोने

में सुगंध मिला दी है। एक बार सुप्रसिद्ध विद्यावारिधि श्री गट्टूलालजी ने कहा था कि श्रीकृष्ण शिवजी की उपासना किया करते थे। उनके इस कथन से कई भाटिए उनसे अप्रसन्न हो गए थे। जिन लोगों को इस विषय में सन्देह हो, उन्हें सटीक श्री कृष्णचन्द्राभ्युदय अवश्य अवलोकन करना चाहिए।

---

(२१) बुद्धि-प्रकाश

[लेखक—श्रीयुक्त अमौरी गंगाप्रसादसिंह, काशी ।]

हिंदी साहित्य के इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि सन् १८५० के लगभग हिन्दी में कुल दो तीन समाचारपत्र निकलते थे और बस। 'सरस्वती' के पहले भाग की आठवीं संख्या में राजा लक्ष्मणसिंह के जीवन चरित्र में श्रीयुत पं० किशोरीलालजी गोस्वामी ने लिखा है—"हिंदी में सब से पहले सन् १८४५ ई० में राजा शिवप्रसाद की सहायता से 'बनारस अखबार' * नामक पत्र निकला। दूसरा सन् १८५० ई० में काशी से 'सुधाकर' पत्र निकला। और तीसरा पत्र सन् १८६१ ई० में राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा 'प्रजाहितैषी' नामक निकला। फिर धीरे धीरे बहुत से पत्र हिंदी में निकले।" मिश्र बन्धुओं ने भी अपनी पुस्तक 'मिश्र बंधु विनोद' के तीसरे खण्ड में हिंदी भाषा के समाचारपत्रों के सम्बन्ध में लिखते हुए इसी मत का समर्थन किया है। परन्तु इधर हिंदी के वयोवृद्ध साहित्यसेवी श्रद्धेय बा० श्यामसुन्दरदास जी के यहाँ से हमें हिंदी के एक ऐसे प्राचीन साप्ताहिक पत्र की कुछ संख्याएँ मिली हैं जिसका जन्म प्रजाहितैषी से बहुत पहले हुआ था। इस पत्र का नाम "बुद्धि प्रकाश" है। हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में अभी तक इसके सम्बन्ध में कोई प्रकाश नहीं डाला गया है। इसके जिल्द २ के १० नम्बर से ५० नम्बर तक की प्रतियाँ हमारे पास हैं, जिसकी पृष्ठ संख्या ७३ से प्रारंभ होकर ४०० पर समाप्त होती है। इससे पता चलता है कि जिल्द भर में एक ही संख्या सिलसिले से

* बनारस अखबार का संपादन पं० गोविंद रघुनाथ थत्ते जी करते थे।

चलती थी और एक जिल्द एक वर्ष के सब अंकों की होती थी। वर्ष भर में इसके ५२ अंक निकलते थे और हर एक अंक में ८ पृष्ठ होते थे। यह लीथो पर छपता था और इसके प्रत्येक पृष्ठ में दो कालम रहते थे। इसका आकार १२¾ × ७¾ इंच है। कागज पतला और सफेद है। इसका वार्षिक मूल्य ६) छमाही ४॥) और मासिक १) था। इसमें विज्ञापन की छपाई =) प्रति पंक्ति ली जाती थी और ॥) से कम का कोई विज्ञापन नहीं छापा जाता था। जिल्द २, नंबर १० के प्रारंभ में, बुधवार ९ मार्च, सन् १८५३ लिखा हुआ है। यह प्रति बुधवार को नियमित रूप से आगरे शहर से प्रकाशित हुआ करता था। इससे हिसाब लगाने पर विदित होता है कि इस पत्र का प्रकाशन १ जनवरी सन् १८५२ ई० से हुआ होगा। इसके प्रत्येक अंक के अन्त में "मुंशी सदासुखलाल मोहतमिम नूरुल अबसार छापेखाने के इहतमाम से आगरे के मुहल्ले मोती कटरे में छपा"—लिखा है। इससे स्पष्ट है कि इसके प्रबंधक कोई मुंशी सदासुखलाल नामक सज्जन थे। परन्तु इसका संपादक कौन था, यह पत्र कब तक चलता रहा आदि बातों का पता अभी तक नहीं चला है। मोहतमिम फारसी शब्द है और इसका अर्थ प्रबंधक है। परन्तु इस पत्र में जहाँ कहीं अन्य किसी समाचारपत्र से कोई समाचार उद्धृत किया गया है, उसके आरंभ में लिखा गया है कि अमुक पत्र के मोहतमिम साहब ऐसा लिखते हैं। जैसे पृष्ठ १०५ में ब्रह्म देश का समाचार देते हुए लिखा गया है—"*इङ्गलिशमैन अखबार के मोहतमिम साहब लिखते हैं कि*—" इत्यादि। इससे अनुमान होता है कि संभवतः मुंशी सदासुखलालजी मोहतमिम शब्द संपादक के अर्थ में लिखते थे। और बहुत संभव है कि ये ही इसके संपादक रहे हों। अन्यथा पत्र भर में कहीं संपादक का नाम न रहना कुछ आश्चर्यजनक प्रतीत होता है। खैर, जो कुछ भी हो, अभी यह बात संदिग्ध है; इस विषय में कुछ निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता।

आज कल बहुधा साप्ताहिक अथवा दैनिक पत्रों के एक प्रधान संपादक होते हैं और कुछ लोग उसके अधीन सहायक सम्पादक तथा कार्य-कर्त्ता होते हैं। प्रधान संपादक अग्रलेख, टिप्पणियाँ आदि लिख देता है और उसके अधीनस्थ कर्मचारी गण समाचारों का संग्रह, प्रूफ का संशोधन आदि कार्य करते हैं। परन्तु पहले यह बात न थी। एक ही संपादक को सब कुछ करना पड़ता था। समाचार संग्रह से लेकर निबंध आदि के लिखने तक का भार उसी पर रहता था। इसी से पहले अग्रलेख आदि लिखने की प्रथा न थी। समाचारों के साथ ही साथ सम्पादकगण अपनी सम्मति भी प्रकट करते जाते थे। इसी प्रणाली के अनुसार बुद्धि प्रकाश में भी किसी विषय पर अग्रलेख आदि नहीं रहते थे। समाचारों के साथ ही साथ सम्पादक भी अपनी सम्मति कहीं कहीं प्रकट कर देता था। इसके अतिरिक्त इतिहास, मनोविज्ञान, प्रकृति विज्ञान, भूगोल, गणित, समाज शास्त्र आदि विषयों के प्रति सप्ताह दो एक छोटे बड़े निबंध भी रहते थे। आजकल के इस उन्नत युग में चाहे इन निबंधों के विचारों का कोई विशेष मूल्य न हो, पर उस समय ये निबंध संपादक की बहुज्ञता के परिचायक थे और साधारण जनता के विचारों को उन्नत बनाने के लिये अवश्य ही इनका सदुपयोग था। नीचे इस पत्र में लिखे हुए कुछ चुने निबंधों की नामावली हम दे रहे हैं। यदि कोई सज्जन पुस्तक रूप में इनका एक पृथक् संग्रह प्रकाशित करें तो हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन करनेवालों के लिये यह बहुत ही उपयोगी होगा। इससे तत्कालीन हिंदी भाषा और उस समय के लिखने की शैली पर समुचित प्रकाश पड़ेगा।

बुद्धि-प्रकाश के कुछ चुने हुए निबंधों की सूची।

(१) पंजाबी रेशम का वर्णन।

(२) जीव जन्तु का वर्णन।

(३) बीवर जन्तु का वर्णन।

(४) स्वप्न का विषय।
(५) दिल्ली के समाचार (दिल्ली के इतिहास के संबंध में)
(६) लिखने की विद्या से अज्ञानी लोगों के आश्चर्य करने का वर्णन।
(७) भूगोल का वर्णन।
(८) संक्षेप इतिहास रूस देश का।
(९) संक्षेप इतिहास जरमनी का।
(१०) आस्ट्रिया देश का संक्षेप इतिहास।
(११) संक्षेप इतिहास प्रूस देश का।
(१२) स्विटजरलैंड के इतिहास का संक्षेप।
(१३) रेखा गणित के क्षेत्र का सिद्धकरण।
(१४) रेखा गणित के उक्त क्षेत्र का बीज की रीति से सिद्धकरण।
(१५) स्वीडन देश का संक्षेप इतिहास।
(१६) लापलंद, नारवे और डेनमार्क का संक्षेप इतिहास।
(१७) स्पानिया देश का संक्षेप इतिहास।
(१८) ऊष्मा बोधक यंत्र का वृत्तान्त।
(१९) प्रकृति ज्ञान विद्या का विषय।
(२०) रूम का संक्षेप इतिहास।
(२१) स्त्रियों की शिक्षा के विषय।
(२२) विद्या प्रसंग (व्याकरण का विषय)
(२३) यूनान का संक्षेप इतिहास।
(२४) संसार की दृश्य वस्तुओं का वर्णन।
(२५) मनुष्य जाति का वर्णन।
(२६) मनुष्य के सिर का वर्णन।
(२७) मनुष्य के चेहरे का वर्णन।
(२८) रेखा गणित के पंचम क्षेत्र का सिद्धकरण।

(२९) मनुष्य के धड़ का वर्णन। आदि आदि।

सन् १८५७ के गदर के पूर्व अँगरेजों का राज्य दृढ़ नहीं हुआ था। उस समय वे प्रजा को सन्तुष्ट रखने के लिये सर्वदा प्रयत्न करते थे। भारत की प्रजा भी उनकी रीति-नीति से सन्तुष्ट थी और इसी से उन्हें अपने ऊपर शासन करने देती थी। अँग्रेज़ी सरकार के प्रति जनता में अटल श्रद्धा और भक्ति थी। ज़रा भी कहीं असन्तोष का नाम न था। जो कार्य अंग्रेज़ों की ओर से किए जाते थे, जनता उनका सहर्ष अनुमोदन करती थी। इसके अतिरिक्त वह समय भी ऐसा था कि समाचार-पत्र स्वच्छंदतापूर्वक सब कुछ नहीं लिख सकते थे। इसी से तत्कालीन अधिकांश समाचारपत्रों को हम गवर्नमेंट के कार्यों का अनुमोदक पाते हैं। बुद्धि प्रकाश की नीति भी इसके विपरीत नहीं थी। गवर्नमेंट के किसी कार्य का समाचार उसमें जहाँ दिया गया है, वहाँ खूब हर्ष प्रकट किया गया है। इस पत्र की नीति गवर्नमेंट की नीति का समर्थन करना था। सम्पादक ने इस पत्र की भाषा को शुद्ध हिंदी रखने की चेष्टा की है। जहाँ तक उनसे बन पड़ा है, उन्होंने इसमें अरबी, फारसी अथवा संस्कृत के कठिन शब्दों को नहीं आने दिया है। यद्यपि वे इस कार्य में बहुत सफल नहीं हुए हैं, परन्तु उनकी यह चेष्टा सराहने योग्य है और उस समय की प्रचलित भाषा से इसकी भाषा बहुत उन्नत है। समाचारों के लिखने की शैली भी बुरी नहीं है। यहाँ पर हम बुद्धि प्रकाश से कुछ समाचारों को उद्धृत करेंगे। इससे उसकी भाषा और समाचारों के लिखने की शैली के विषय में स्पष्ट ज्ञान हो जायगा।

पंजाब के समाचार

श्रीयुत साहियान बोर्ड पंजाब देश के प्रबंधकर्त्ता के कागजों के संक्षेप से जाना गया है कि पंजाब देश की विजय होने के कितने हा दिन पीछे वहाँ की प्रजा के जीव धन की रक्षा के निमित्त निजामत के

सिपाहियों की आवश्यकता हुई और इसका खर्च निकालने के लिये चौकीदारी स्थानानुसार आध आने से लें पाँच रुपये तक ठहराई गई थी। और कितने ही प्रतिष्ठित नगर निवासियों को इसका निर्णय और विचार करने को नियत किया था कि जैसी जिसको सामर्थ हो वैसा ही कर उस पर लगावें। इस दृष्टि से कि असमर्थ कंगाल पर इसका भार न पड़े। क्योंकि नवीन राज्य के कारण हाकिम उसके देश की व्यवस्था से अच्छी तरह जानकार न थे। परन्तु थोड़े दिनों में जाना गया कि उन भले मनुष्यों ने गरीब कंगालों की ओर तो न देखा बड़े आदमियों के कहने सुनने पर और मित्रों की मित्राई पर ध्यान दिया वरन कहीं कहीं अपना बल और अन्याय भी दिखाया जिससे लोगों ने उनसे अधिक दुःख पाया। तब सन् १८५० ईस्वी में प्रजा के कहने से लाहौर और अमृतसर में चौकीदारी को छोड़ टौन ड्यूटी अर्थात् महसूल उन वस्तुओं पर जो नगर में आती हैं, नियत किया गया और सिक्खों के राज्य में जो लोग भारी भारी महसूल देते थे सो इस युक्ति से प्रसन्न हुए और अनुमान सौ वस्तुओं पर महसूल लिया जाता है और उसका प्रमाण सौ रुपये की वस्तु पर दस आने के हिसाब से है। इस महसूल का रुपया लाहौर में तेइस सहस्र बरसोढ़ी और अमृतसर में एकतालीस सहस्र आता है। परन्तु किसी एक नगर में आमदनी इस महसूल की इतनी भी नहीं होती जो चौकीदारी के खर्च को पूरा पड़े। निदान कहीं की बढ़ती और कहीं की घटती सब मिलाने के पीछे जो रुपया बचता है वह नगरों के सुधारने में लगता है और प्रजा की प्रसन्नता होने में कुछ आश्चर्य नहीं है, क्योंकि सिक्खों के राज्य में जो ४७ प्रकार का महसूल पंजाब देश में लगभग बीस लाख रूपये के लिया जाता था वह सब इस श्रीयुत प्रतापी सरकार ने छोड़ दिया। इसके विशेष जो रुपया महसूल का जमा होता है सो प्रजा की रक्षा और सुख के हेतु लगता है और इन महसूलों के छोड़ने से व्योपारी लोगों के मन बढ़ गए हैं। इस अच्छे प्रबंध

और जीव धन की रक्षा के कारण चारों ओर से माल आने लगा है और प्रजा खेती बाड़ी करने में अधिक श्रम करती है इसका यह फल है कि उस देश की धरती में जो वस्तु उत्पन्न होती है उनका भाव आगे से आधा रह गया है ।

नर्वदा नदी में धूवें की नौका के नमूने आने के समाचार

बम्बई गजट में लिखा है कि थोड़े दिन हुए एक छोटा सा धुवें का जहाज लोहे का बना हुआ वलायत इंगलिस्तान से महाराज हुल्कर बहादुर के लिए आया था। लम्बाई में ३६ फुट और चौड़ाई में ६१ फुट यह सौगात नवम्बर महीने में बम्बई में पहुँची थी वहाँ से उसके टुकड़े जुदे २ करके नीचे के भाग को रूई की नाव पर धर के नर्वदा नदी तक लाए और उसकी कलें और वह लाठ जिससे धुवाँ निकलता है, कहीं पर धर के मंडलेश्वर तक जो नर्वदा के निकट है पहुँचाया। जब सब विभाग उसके आ चुके तब उस स्थान के साहिब पोलिटीकल अजंट ने उनको अपनी युक्ति से इंजीनियर साहेब की सहायता बिना जोड़ के नर्बदा नदी में चलाया। वहाँ के सब हिंदुस्तानी जिन्होंने ऐसी वस्तु कभी नहीं देखी थी इस अद्भुत नौका को अचंभे से देखते हैं और बिना चापू और पतवार के नदी में उसको चलती देखकर आश्चर्य के भँवर में पड़ जाते हैं।

इश्तहार पश्चिम देश के पोस्टमास्टर जनरल का

प्रकट हो कि सरकार से किराची की डाक बनारस से कलकत्ते तक भी नियत हो गई है इसलिए पश्चिमीय देश के जो पोस्टमास्टर किराची की डाक का अधिकार रखते हैं उनको आज्ञा है कि जो कोई मनुष्य कुछ माल कलकत्ते को वा कलकत्ते की बड़ी सड़क पर होकर किसी स्थान को किराची की डाक के द्वारा पहुँचाने के लिए चाहे तो उनके

डाक घर में भेजे वे उस माल को लेकर पहुँचा देंगे और भाड़े का व्योरा इस भाँति है ।

कलकत्ते से बर्दवान तक	॥=)
कलकत्ते से शेरघाटी तक......	२।≡)
कलकत्ते से काशी तक.....	३॥)
काशी से शेरघाटी तक......	॥)
काशी से बर्दवान तक......	२=)
काशी से कलकत्ते तक......	२॥)

कलकत्ते से काशी तक माल आने में बहुधा १२ दिन से अधिक न लगेंगे ।

कलकत्ते के समाचार

इस पश्चिमीय देश में बहुतों को प्रकट है कि बंगाले की रीति के अनुसार उस देश के लोग आसन्न-मृत्यु रोगी को गंगा तट पर ले आते हैं और यह तो नहीं करते कि उस रोगी के अच्छे होने के लिए उपाय करने में काम करें और उसे यत्न से रक्षा में रक्खें वरन उसके विपरीत रोगी को जल के तट पर ले जाकर पानी में गोते देते हैं और हरी बोल २ कहकर उसका जीव लेते हैं डाक्टर मोंएट साहिब सिकरतरी कौन्सिल के उस रीति को रोकने का उद्योग करते हैं और वहाँ के कितने ही सब असिस्टन्ट सरजन अर्थात् देशी डाक्तर अपने मन से इस काम में सहायता करने के लिए उनके आज्ञानुगामी हुए हैं और इस देश में बहुधा छोटे बड़े मनुष्य उस रीति को बुरी जानकर बंगालियों की हँसी करते हैं परन्तु वहाँ वह चाल अयोग्य नहीं गिनी जाती वरन पुनीत जानते हैं । निश्चय है कि अब यह चाल वहाँ से मिट जायगी ।

बुद्धि प्रकाश के समाचारों के पढ़ने से देश के तत्कालीन आन्तरिक अवस्था का अच्छा परिचय मिलता है और उपन्यास का मजा आता

है। इच्छा थी कि यहाँ पर उसके समाचारों के कुछ और अधिक उद्धरण देते, पर स्थानाभाव के कारण ऐसा करने में असमर्थ हैं। अब हम यहाँ पर एक छोटा निबन्ध उद्धृत करते हैं। इससे पाठकों को बुद्धि प्रकाश में प्रकाशित निबंधों की शैली का थोड़ा बहुत ज्ञान हो जायगा।

स्त्रियों की शिक्षा के विषय

"स्त्रियों में संतोष और नम्रता और प्रीत यह सब गुण कर्त्ता ने उत्पन्न किये हैं केवल विद्या ही की न्यूनता है जो यह भी हो तो स्त्रियाँ अपने सारे ऋण से चुक सकती हैं और लड़कों को सिखाना पढ़ाना जैसा उनसे बन सकता है पुरुष से नहीं हो सकता यह काम उन्हीं का है कि शिक्षा के कारण बाल्यावस्था में लड़कों को भूल चूक से बचावें और सरल २ विद्या उन्हें सिखावें यह सत्य है कि स्त्रियाँ बालक को अपनी छाती से दूध पिलाती हैं परन्तु उन्हें चाहिये कि अपनी बुद्धि से उसकी आत्मा को भी पालें और मनुष्य बनावें और जिससे ऐसा बड़ा कार्य्य सिद्धि होता हो उसे उचित नहीं है कि आप विद्या से रहित रहे और अपने अंतःकरण को शुद्ध न करे जो स्त्री कि विद्या से विहीन है वह बालकों के चित्त रूपी क्षेत्र में विद्या का बीज कैसे बो सकती है और उनके आगे की बुद्धि का कारण किस रीति से हो सकती है एक बेर बोनापार्ट फ्रांस के बादशाह ने थीवो कम्पान से पूछा कि फ्रांस देश के लड़कों की शिक्षा किस कारण श्रेष्ठ प्रकार से नहीं हो सकती है उत्तर दिया कि उनकी माताओं की प्रकृत श्रेष्ठ नहीं है यद्यपि अल्प उत्तर था परन्तु ऐसा ठीक था कि बादशाह को बहुत भला लगा स्त्रियों को शिक्षा से जो और काम न हो तो लड़कों की शिक्षा का क्या थोड़ा लाभ है जो इसलिये स्त्रियाँ पढ़ें तो उनको अवश्य है कि अपने हृदय विद्या सर से अपने लड़कों की शिक्षा रूपी वृक्ष को सींच प्रफुल्लित करें और

ऐसा फल लगाने के योग्य बनावें जिससे उनको जीवन भर आनंद प्राप्ति हो—इसमें कोई संदेह नहीं की हिन्दुस्तानी स्त्रियाँ परस्पर प्रीति व्यवहार अधिक रखती हैं और बहुधा एक ही घर में कई भाई अपने कुटुम्ब सहित रहते हैं परन्तु उनकी स्त्रियाँ लड़ाई झगड़ा नहीं करती हैं बरन बाहर उनका कोई शब्द भी नहीं सुनता और जो किसी की कई स्त्रियाँ भी होती हैं तो वे परस्पर ऐसी प्रीत रखती हैं कि आपस में बहिन करके बोलती हैं परन्तु स्त्री की श्रेष्ठता इसी में नहीं है अपने मन को स्थिर रखना और संसार की आपत्यों से बचना जिसमें गृस्थी फसे हैं इन सब बातों के लिये अधिक सावधानी और बुद्धिवानी चाहिये इस लिये स्त्री को अवश्य है कि विद्या से रहित न रहे उसकी बुद्धि में चित्त दे क्योंकि स्त्री पर यह बोझ पुरुष से अधिक है जो विद्या के बल से बुद्धि प्राप्त न करेगी तो इतना बोझ कैसे उठावेगी और सत्यता इन बातों की ऐसी प्रगट है कि कहने की देर उसके मानने में कुछ शंका नहीं है और कोई इनकी सचाई का निषेध नहीं कर सक्ता परन्तु जो लोग मूर्ख हैं उनसे हम भी हारे हैं वे अपने मन से चाहते हैं कि स्त्रियाँ अज्ञानावस्था में रहें सो ऐसे मनुष्य हिंदुस्तान में भी बहुत हैं बरन हिन्दुस्तान क्या सम्पूर्ण संसार उनसे भरा है ऐसा कौन सा देश है जहाँ ऐसे मनुष्य नहीं हैं ऐसे हो मनुष्य अपनी झूठी तर्कों से बलायत में भी स्त्रियों को विद्या हीन रखते हैं और उनके मुख्य दो सिद्धान्त हैं एक यह,कि आदि से स्त्री और पुरुष की बुद्धि में बडा अन्तर है और दूसरे स्त्री अपने अनुसार इतनी बुद्धि रखती है कि उसका पढाना लिखाना कुछ अवश्य नहीं हम उनकी पहिली बात को प्रमाण नहीं करते क्योंकि स्त्री की शिक्षा पृथ्वी भर में कहीं किसी स्थान पर ऐसी मन लगाकर नहीं होती जैसी पुरुषों की और उसकी शिक्षा की इसी न्यूनता को अपनी बड़ाई और उसकी घटाई के लिये पुरुषों ने एक प्रमाण कर लिया है और इस विवाद में ऐसे दृष्टान्त कि जिन तक बुद्धि कठिनता से पहुँचे त्याग के

हमने यह भी माना कि ईश्वर की यह इच्छा है कि स्त्री जाति मनुष्य से विशेष बुद्धि न रक्खे फिर भी यह कहाँ से जाना जाता है कि जितनी बुद्धि उसमें आदि से है उसे विद्याभ्यास करके न बढ़ावे जो अन्तर कि जन्म से स्त्री पुरुष की बुद्धि में है चाहिये कि पढ़ने के पीछे भी यथावस्थित रहे हम नहीं चाहते कि उसमें अन्तर पड़े और स्त्रियाँ कठिन २ विद्याओं में प्रवीण हों यह क्या अवश्य है कि जो स्त्री पढ़े तो वैद्य वा आचार्य वा पण्डित बने और नहीं तो पढ़े ही नहीं जैसे कि स्त्री को ढाल तलवार बाँधना और युद्ध करना उचित नहीं है उसी रीति से इतनी निपुणता भी अवश्य नहीं है परन्तु जो योग्यता उसे उचित है उतनी चाहिये विशेष नहीं हाँ यह बात ठीक है कि स्त्रियों के लिये ईश्वर की इच्छानुसार एक मर्य्यादा नियत है और जहाँ उनको गृहस्था-श्रम में श्रम करना अवश्य है वहाँ कोई उनकी उस दशा को बुरा नहीं कह सकता हमारा यह आशय नहीं है कि वे अपने लड़के बालों का भरण पोषण भूल जायँ और कठिन २ काव्य की पुस्तकों के व्यसन में अपना काल विनीत करें नहीं सब से पहले यह बात चाहिये कि गृहकर्म और अपनी लाज प्रतिष्ठा रक्खें स्त्रियाँ अपने बालकों की रक्षा करें और घर के काज सँवारें जो उनके पति दर्जी की महनत देने की शक्ति न रखते हों तो आप कपड़े सीवें और फटे पुरानें वस्त्रों में थेगड़ी लगावें और रसोइया रखने की सामर्थ न हो तो अपने हाथ से रसोई बनावें यह काम आवश्यक है वरन उनकी प्रसन्नता के कारण है और उससे किसी प्रकार का विघ्न बुद्धि में भी नहीं पड़ता परंतु जो समय कि स्त्रियों को इन धंधों से छूट कर मिलता है और केवल व्यर्थ बातों में जाता है वही पढ़ने में काटें तो कितना अच्छा न हो ईश्वर ने इनकी उत्पत्ति कर के यह नहीं चाहा कि केवल नीच २ टहल किया करें और चतुर-ता और अच्छे गुणों को ग्रहण न करें वा केवल बालकों को दूध पिलाया करें और इधर उधर की झूठी सच्च बातें मारा करें।"

बुद्धि प्रकाश में जिन हिंदी, उर्दू और अँग्रेजी समाचारपत्रों से समाचार लिखने में सहायता ली जाती थी, उनकी एक सूची नीचे दी जाती है।

(१) खैरख्वाह हिंद। (२) अखबारुल इकायक। (३) इंगलिशमैन। (४) देहली अखबार। (५) देहली गजट। (६) बनारस रिकार्डर। (७) फ्रेंड ऑफ इण्डिया। (८) गवर्नमेंट गजट। (९) हरकारा अखबार। (१०) ज़ियाउन्नूर। (११) ज्ञानोदय समाचारपत्र। (१२) सिटिजन। (१३) कलकत्ता क्रानिकल। (१४) अखबारुलवाह। (१५) मार्निंग क्रानिकल। (१६) मुफस्सलात। (१७) आगरा मेसेंजर।

उक्त समाचारपत्रों की सूची से निश्चय रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें कितने हिंदी के पत्र हैं। बुद्धि प्रकाश के जिल्द २ नम्बर २८ पृष्ठ २०९ में 'बम्बई में लड़कियों के पढ़ने का समाचार' ज्ञानोदय से उद्धृत करने के सम्बन्ध में इस तरह लिखा है,—"बम्बई के ज्ञानोदय समाचारपत्र से प्रकट है कि अब इस नगर में अनुमानतः दो सहस्र लड़कियाँ के पढ़ती हैं" इत्यादि। यह ज्ञानोदय सम्भवतः मराठी का पत्र रहा होगा। आशा है, कोई सज्जन इस संबंध में विशेष प्रकाश डालने की कृपा करेंगे।

(२२) राजगृह के दो हिन्दी लेख

[लेखक—श्रीयुक्त राय पूरनचन्द नाहर कलकत्ता ।]

भारत की प्राचीन नगरियों में राजगृह की गणना भी है। इस स्थान का वर्णन बहुत से प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। जैनियों के बीसवें तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रत स्वामी का जन्म, दीक्षा यहीं हुई थी। उन लोगों के शास्त्रानुसार इस घटना को कई लाख वर्ष बीत चुके हैं। हिन्दुओं के ग्रन्थों में खास श्रीकृष्ण और जरासंध की कथाओं का स्थान भी यहीं था। बुद्धदेव का भी यही लीला-क्षेत्र था।

बिहार उड़ीसा प्रांत के बिहार के दक्षिण में गया जिले के समीप वहीं राजगृह आज तक वर्तमान है। प्राचीन राजगृह नगरी के स्थान निर्देश के विषय में बड़े बड़े विद्वानों और पुरातत्वज्ञों के विचारों पर मैं विवेचन करने में असमर्थ हूँ। केवल इतना ही सूचित करना आवश्यक है कि वहाँ पर जो कुछ ठंढे और गरम जल के कुंड विद्यमान हैं, उनका उल्लेख प्राय सभी प्राचीन ग्रन्थों में है। आज मैं पाठकों के सन्मुख जो दो हिन्दी लेख उपस्थित करता हूँ, वे इन्हीं कुंडों में लगे हैं। इनमें से पहला लेख संवत् १९०४ का भैलगिरि के नीचे सप्तधारा (सप्तधारा) में पूरब की दीवार पर लगा है और दूसरा विपुलगिरि के नीचे सूर्यकुंड की पश्चिमी दीवार पर लगा है। दोनों लेख काले पत्थर पर खुदे हैं। इन दोनों लेखों का अक्षरान्तर इस प्रकार है—

पहला लेख

॥ श्री गणेशायनमः ॥

दोहा—आदि अंक युत शि (सि) द्धि निधि महानाम सम लेषि।
ता सम्वत यहि कुंड को रचेउ नवीन विशेषि ॥१॥
नृपति जसा को नाम लष छपै मन्य विचार।
राजकुंड है नाम यहि महिमा अगम अपार ॥२॥

छप्पय—जलज असन मानस निवासि विक्रम कुल दे (श) वल।
जो न जरत ताका भनंत नृपस अनुमती (ति) धर्म्म कलि।
पाहन विय जल जान नारि जांत सोहाग लहु।
छिति अरु जुगल लोक भनि जासु कीरति प्रताप बहु॥
दुतिय नाम सब शब्द को अर्थ विचारि करि लेषिअै।
नाम नृपति जस मान को मध्यक्षर महँ पेषिअै* ॥१॥

तस्य छपै के मध्यक्षर को उदाहरण
कमल अहार मराल उजैन पाताल अजर कुँअर
मलीन पाषाँण अबला जाहाज संदुर धरती।

दूसरा लेख

श्री हरि ॐ

दोहा—विमल भक्ति रत जानि जेहि, कृपा करहिं रघुबीर।
तेपि धरत पगु धर्म्म मग, लहत सुजस मतधीर ॥ १ ॥
राजगृही ते कोश दस, अग्निकोण अभिराम।
ब्रह्म संढापुर बसत जहँ, बाबू सीताराम ॥ २ ॥

---

* महाराज ताजअली खाँ बहादुर।

राजगृह का दूसरा शिलालेख

धर्मधुरन्धर ध्रुव विगव, राज राज सुखदेन।
अष्टपुत्र पौत्रादि युत, मोगत राज सुखेन॥ ३॥

सो सुद्रव्य निज खर्च करि, सुरनर मुनि सुखहेतु।
राजगृही सुभ तीर्थ गहँ, बाँधे भवनिधि सेतु॥ ४॥

कुंड सप्तधारा विरचि, सप्त मुनिन को रूप।
रचि नवीन मन्दिर रुचिर स्थापे सब मुनि भूप॥ ५॥

वेद गगन अरु ग्रह ससि (शशि) हिं, सुभ संवत अनुमान्।
ज्येष्ठ सु (शु)क्ला द्वादसी (शी), सप्तधार निर्मान॥ ६॥

सम्वत १९०४ ज्येष्ठ सु शु)क्ल द्वादसी (शी)

लिखा नौबतलाल आत्मज बा० सीताराम।